

श्रीलपाद विश्वनाथ चक्रवर्ति-प्रणीता

माधुर्य-कादम्बिनी

विश्वोल्लासिनी-टीका सहित



सम्पादक :
श्रीश्यामदास

प्रकाशक :
श्रीहरिनाम प्रकाशन
बागबुन्देला, श्रीवृन्दावन

एकदेशवर्तिना, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा एवं आत्यन्तिकी का निरूपण किया गया है।

नाम ग्रहण करते ही जब समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं फिर अनर्थ-निवृत्तियों की क्रम-व्यवस्था क्यों? —नामापराधी व्यक्ति के प्रति श्रीनाम ही अप्रसन्न होकर अपनी शक्ति का प्रकाश नहीं करता। हाँ, भगवद्भक्त, शास्त्र एवं श्रीगुरुदेव की निष्कपट-सेवा करने से क्रमशः वही श्रीनाम ही अपनी कृपासे समस्त अनर्थों को निवृत्त कर देता है। इस सिद्धान्त की विवेचना की गई है।

श्रीनाम का फल तत्काल क्यों नहीं प्राप्त होता?—इसके उत्तर में कहा गया है कि नामापराधों की प्रबलता का अनेक दिन भोग करने के बाद उनके शीघ्र होने पर भगवद्भक्ति में किञ्चित् रुचि पैदा होती है। बारम्बार श्रीनाम श्रवण-कीर्तनादि करने पर समय पाकर वह अपना प्रभाव विस्तार करता है। भक्तों के जीवन में दीखने वाले पाप या रोग-शोकादि उनकी प्रारब्ध का फल नहीं हैं, किन्तु दैन्य तथा उत्कण्ठा को बढ़ाने के लिए उन्हें श्रीभगवान् ही अपने भक्तों को प्रदान करते हैं—इस प्रकार उनकी एक अनुठी कृपा का प्रकारान्तर दिखाया गया है।

चतुर्थ अमृतवृष्टि—में लय, विशेष, प्रतिपत्ति, कषाय एवं रसास्वादरूप पांच अन्तरायों का वर्णन है जो दुर्निवार हैं और भक्ति-निष्ठा में बाधा-विघ्न डालते हैं। परन्तु अनिच्छिता नामकी भजन-क्रिया या भक्तिमें तो यह बात रहती है किन्तु निष्ठा-भक्ति में उन सबका अभाव रहता है। निष्ठा के भी दो प्रकारों—साक्षाद्भक्तिवर्तिनी तथा तदनुकूलवस्तु-वर्तिनी का निरूपण किया गया है।

पंचम अमृतवृष्टि—में भगवद्-रुचि की विवेचना की गई है। वह रुचि उत्पन्न होती है तब, जब अविद्यादि दूर होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और बारम्बार श्रवण-कीर्तनादि के अनुष्ठान किये जाते हैं। वस्तु-वैशिष्ट्यापेक्षिणी तथा वस्तु-वैशिष्ट्यानपेक्षिणी—दो प्रकार की रुचि कही गई है। पहले प्रकार की रुचि में तो अन्तःकरण में दोषों का लेश विद्यमान रहता है परन्तु दूसरी में श्रीभगवान् के नाम-गुणादि श्रवण की ही प्रधानता रहती है।

षष्ठी अमृतवृष्टि—में 'आसक्ति' का विवेचन है। भजन में रुचि जब परम प्रौढ़ हो उठती है जब वह भजनीय तत्त्व—श्रीभगवान् में प्रमुखता प्राप्त कर 'आसक्ति' नाम से विख्यात होती है। इस आसक्ति की अवस्था में चित्तदर्पण में श्रीभगवान् प्रतिबिम्बित होते हैं और भजन भी स्वभावसिद्ध हो जाता है। यहां बार-बार मनकी भजन में लगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। रुचि में तो ध्यान टूट जाता है परन्तु आसक्ति में वह गाढ़तम हो जाता है। इस प्रसङ्ग में आसक्ति-युक्त भक्त का चरित्र भी वर्णित है।

सप्तम अमृतवृष्टि—में 'भाव' का विवेचन है, जिसका दूसरा नाम है 'रति'। यह भाव भक्तिफलता का प्रफुल्लित पुष्प है। अति सुदुर्लभ है यह और

भोक्ष पर्यन्त को भी तुच्छ कर देता है जब यह उदित होता है। इस अवस्था में प्रायः श्रीकृष्णाकर्षण होता है। समस्त इन्द्रियां भगवदनुशीलन करती रहती हैं। स्फूर्ति में श्रीभगवान् का दर्शन होता है भावुक-भक्त को। यह बात महत्पुरुषों से छिपाय छिपती नहीं। रागभक्तिजात तथा वैधभक्तिजात दो प्रकार का भाव है और फिर विभिन्न भक्तों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर—इन पांच प्रकारों में अभिव्यक्त होता है।

अष्टम अमृतवृष्टि—में भक्तिफलता के फल प्रेम का वर्णन है जो सान्द्रा-नन्द-विशेषात्मक तथा श्रीकृष्णाकर्षक रस रूप में प्रकाशित होता है। हर क्षण भक्त का इस अवस्था में भगवदानन्द में अतिवाहित होता है। क्रमशः श्रीभगवान् का सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य तथा सौरस्य सर्वेन्द्रियों में समाया रहता है। तभी श्रीभगवान् की उदारता अनुग्रह का अनुभव होता है। उन्मत्त हो उठता है प्रेमी-भक्त। रोता है कभी पछाड़ें खा-खाकर पृथ्वी पर गिरता है, मूर्च्छित हो जाता है इस अवस्था में। इन अलौकिक चेष्टाओं में सेवा की उत्कट लालसा में कब और कैसे उसका शरीरपात हो जाता है—यह वह नहीं जानता। जानता है केवल यही कि ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण उसे अपने धाम शिरोमणि श्रीवृन्दावन में ले आए हैं और वह उनकी चरण सेवा प्राप्त कर कृतकृत्य हो रहा है।

इस श्रीमाधुर्यकादम्बिनी की यथेष्ट विशिष्टता तथा मौलिकता तो साधक-सिद्धभक्त पुरुष ही अनुभव करेंगे। मुझ दीन-हीन, भक्तिविहीन अल्पबुद्धि के द्वारा इसकी व्याख्या तो एक दुस्साहस है या अनधिकारचेष्टा, अथवा इस कादम्बिनी के अमृतकण-संस्पृष्ट समीर के एक झोंके का चमत्कार? यह मैं नहीं स्थिर कर पा रहा हूँ।

अतः भगवद्-माधुर्यमृत के आस्वादक समस्त महानुभावों के समक्ष वृत्ति-विच्युति की क्षमा प्रार्थना करते हुये उनके चरणकमलों की रजकी अभिलाषा ही करता हूँ।



विषय सूची



क्र० सं०

प्रथमामृत-वृष्टिः

१. इष्टदेववन्दनात्मक मंगलाचरण
२. श्रीगुरु-वन्दनात्मक मंगलाचरण
३. ब्रह्मा की प्रतिष्ठा—श्रीकृष्ण
४. दस प्रकार के प्रमाण
५. शब्द-प्रमाण—अपौरुषेय-शास्त्र
६. रसस्वरूप—श्रीकृष्ण
७. भक्ति स्वरूप-शक्ति की वृत्ति-विशेष
८. भक्ति का मूल भक्ति
९. श्रीभगवान् एवं भक्ति स्वेच्छामय हैं
१०. ज्ञान-कर्म-योग भक्ति-सापेक्ष
११. मुक्ति से भक्ति का परमोत्कर्ष
१२. मुक्ति पर भक्ति का अनुग्रह
१३. साधन-भक्ति
१४. भाव-भक्ति
१५. प्रेम-भक्ति

द्वितीयामृत-वृष्टिः

१६. भक्ति एक कल्पलता
१७. क्लेशघ्नी एवं शुभदा
१८. पञ्च प्रकार के क्लेश
१९. चार प्रकार के पाप
२०. भक्ति-उदयक्रम में श्रद्धा
२१. अनिष्टिता-भजन-क्रिया
 - (क) उत्साहमयी
 - (ख) घनतरला
 - (ग) व्यूढ-विकल्पा
 - (घ) विषय-सङ्गरा
 - (ङ) नियमाक्षमा
 - (च) तरङ्ग-रङ्गिणी

पृष्ठ

- १
- ४
- ६
- १०
- ११
- १२
- १४
- १६
- २०
- २३
- ३३
- ३६
- ४३
- ४४
- ४५
- ४७
- ४८
- ५२
- ५२
- ५६
- ५६
- ६०
- ६१
- ६५
- ६६
- ६७

क्र० सं०

२२. अनर्थ

(१) दुष्कृतोत्थ-अनर्थ

(२) सुकृतोत्थ-अनर्थ

(३) अपराधोत्थ-अनर्थ

२३. अपराध

२४. नामापराध

२५. अपराध एवं खण्डनोपाय विवेचन

२६. श्रीजङ्गभरत चरित्र

२७. राजा उपरिचर-चरित्र

२८. श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु एवं माधवाई

२९. स्वतन्त्र चैतन्य एवं अस्वतन्त्र चैतन्य

३०. चैतन्यतत्त्व-वृक्ष (चित्र)

३१. ईश्वर एवं जीव कोटि ब्रह्मा तथा शिव

३२. भक्तिजात-अनर्थ

३३. पञ्चविधा अनर्थ-निवृत्ति

३४. राजा चित्रकेतु चरित्र

३५. जय-विजय पार्षद-चरित्र

३६. निरपराधी नाम-ग्रहणकारियों में पाप-प्रवृत्ति का रहस्य

चतुर्थ्यामृत-वृष्टिः

३७. निष्ठिता-भजन-क्रिया

३८. साक्षात् भक्तिवर्तिनी भजन-क्रिया

३९. भक्ति अनुकूल-वस्तु वर्तिनी भजन-क्रिया

पञ्चम्यामृत-वृष्टिः

४०. रुचि

४१. वस्तुवशिष्ट्यापेक्षिणी-रुचि

४२. वस्तुवशिष्ट्यानपेक्षिणी-रुचि

षष्ठ्यामृत-वृष्टिः

४३. आसक्ति

४४. आसक्त-भक्ताचरण

सप्तम्यामृत-वृष्टिः

४५. भाव या रति

४६. जातरति-भक्त की अवस्था

४७. जातरति-भक्त लक्षण

४८. राग-भक्त्युत्पन्न भाव

पृष्ठ

६६

७०

७०

७०

७१

७७

७८

८४

८४

८६

८७

८५

८७

१०२

१०३

१०५

१०८

११८

१२०

१२३

१२४

१२५

१२७

१२७

१२७

१२७

१२७

१२७

१३०

१३२

१३५

१३८

१३९

१४०

✽ श्रीश्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्द पादपद्मेभ्यो नमः ✽

श्री विश्वनाथ—चक्रवर्ति—प्रणीता—

माधुर्य-कादम्बिनी

(प्रथमामृत-वृष्टिः)

हृदयमे नवभक्तिशस्यविततेः सञ्जीवनी स्वागमा—

रम्भे कामतपत्तुं दाहदमनी विश्वापगोल्लासिनी ।

द्वारान्मे मरुशाखिनोऽपि सरसीभावाय भूयात् प्रभु—

श्रीचैतन्यकृपानिरंकुशमहा-माधुर्यकादम्बिनी ॥ १ ॥

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की वह निरंकुश-अहैतुकी कृपा-रूपी माधुर्य-कादम्बिनी, मरु-भूमि स्थित वृक्ष के समान मुझमें भी दूर से सरसता संचार करे, जो हृदय क्षेत्र में नवीन-भक्ति अथवा नवविधा भक्ति रूपी शस्य-धान-तृणादि को सम्यक् प्रकारसे जीवन दान करने वाली है, एवं जो अपने उदित होनेके आरम्भ में ही काम—निजेन्द्रिय सुख वासना रूपी ग्रीष्म ऋतु के दाह-ताप को नाश कर देने वाली है तथा जो समस्त विश्व रूपी नदी में उल्लास उत्पन्न करने वाली है ॥१॥

विश्वोल्लासिनी-टीका—परम पूजनीय श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने ग्रन्थ के उपर्युक्त प्रथम श्लोक में इष्टदेव-वन्दनात्मक मङ्गलाचरण अन्तर्गत अपने इष्ट देव की कृपा याचना की है। उनके इष्टदेव हैं—श्री राधा-भाव-द्युति सुवलित कृष्ण-स्वरूप श्रीकृष्ण चैतन्यदेव। उन्होंने श्री चैतन्यदेव की कृपा को 'माधुर्य-कादम्बिनी' कहकर वर्णन किया है। कादम्बिनी कहते हैं—मेघों की लम्बी पंक्ति या मेघमाला को। माधुर्य कादम्बिनी का अर्थ है माधुर्य बरसाने वाली मेघमाला। सर्वावस्था में, समस्त चेष्टाओं की चारुता, मनोहरता एवं अनिर्वचनीय रस-स्वरूपता का नाम "माधुर्य" है। इस प्रकार की चारुता, मनोहरता एवं रस-स्वरूपता की पराकाष्ठा यदि कहीं प्रतिपादित होती है, तो वे हैं एकमात्र निखिल-माधुर्य-मूर्ति भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन-श्रीकृष्ण। अतः यहां माधुर्य-कादम्बिनी से केवल श्रीकृष्ण-माधुर्य को बरसाने वाली मेघमाला से ही तात्पर्य है। इस प्रकार चक्रवर्तीपाद ने श्री चैतन्यदेव की उस कृपा की याचना की है, जो श्रीकृष्ण-माधुर्य को बरसाने वाली मेघमाला के सदृश है।

वस्तुतः श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की कृपा से ही जीव-जगत् यह जान सका है कि "माधुर्य भगवत्तार सार"—भगवत्ता का सार माधुर्य है न कि ऐश्वर्य। इनसे पहले

माधुर्य-कादम्बिनी]

समस्त वैष्णवाचार्यपादों ने ऐश्वर्य को लेकर ही भगवत्ता का परिचय दिया है। इसलिए श्री चैतन्यदेव की कृपा को 'माधुर्य-कादम्बिनी' नाम से अभिहित किया गया है। भगवत्-कृपा के बिना अथवा महत्-कृपा के बिना माधुर्य का आस्वादन सम्भव नहीं है। कृपा-वञ्चित कंस शिशुपालादि निखिल-माधुर्यमूर्ति श्री श्याम-सुन्दर के साक्षात् दर्शन पाकर भी उनके माधुर्य का जरा भी अनुभव-आस्वादन न कर सके। अतः कृपा ही एक मात्र भगवद्-माधुर्य आस्वादन का कारण है। यहाँ तो स्वयं श्रीकृष्ण ही श्री चैतन्यदेव के रूप में जीव-जगत् पर कृपा विस्तार करने के लिए प्रकट हुए हैं, अतः उनकी कृपा से कृष्ण-माधुर्य की अनुभूति स्वतः सिद्ध ही है।

श्री चैतन्य-कृपा को निरंकुश माधुर्य-कादम्बिनी कहा गया है। मेघमाला जैसे अहैतुक जल वर्षा करती है, ऊँच नीच, पवित्र-अपवित्र, देश-कुदेश किसी बात की भी अपेक्षा नहीं रखती, उसी प्रकार श्री चैतन्यदेव की कृपा भी अहैतुकी है, विधि-निषेध से रहित है। उनकी कृपा ने पात्र-कुपात्र, जाति कुल, आश्रम-वर्ण, विद्वान्-मूर्ख यहाँ तक कि पापी-सुरापी, निन्दक, असदाचारी और तो क्या सिंह-बाघादि हिंसक वन-पशुओं को भी भगवन्नाम प्रेम-माधुरी में नचा डाला, सराबोर कर दिया।

मेघमाला जल बरसाकर अन्न-धान तृणादिकों को प्रफुल्लित करती है, परन्तु वहाँ उनका बीज, मूल कुछ न कुछ अवश्य विद्यमान होता है। परन्तु श्रीकृष्णचैतन्य-कृपा-मेघमाला स्वच्छन्द रूप से कृष्ण-नाम-गुण लीला रूप-माधुर्य को स्फुरित कर प्राणियों के भक्ति-संस्कार रूप बीज रहित हृदय क्षेत्र में भी नये सिरे से भक्ति को अंकुरित कर देती है, केवल अंकुरित ही नहीं, सम्पक् जीवन दान कर देती है अर्थात् परिपक्वास्था को प्राप्त करा प्रेमफल को प्राप्ति करा देती है, जिससे श्री भगवान् के चारु चरणारविन्द का सेवा-सौभाग्य प्राप्त कर जीव कृतार्थ हो जाता है।

हृदय-क्षेत्र का भी यहाँ विशेष महत्व है। भक्ति का क्षेत्र हृदय है, बुद्धि नहीं। बुद्धि द्वारा भक्ति का तत्व समझना अतीव दुर्गम है। जो लोग बुद्धि से भक्ति को समझना चाहते हैं, वे मानो पत्थर पर घास उगाना चाहते हैं। भक्ति केवल श्रद्धापूर्ण, भावुक, कोमल, तर्क-रहित हृदय-क्षेत्र में ही उदित होती है। बुद्धि की कंकश तर्क एवं अविश्वासपूर्ण पथरौली भूमि में उसका उदय होना नितान्त असम्भव है। अतः यहाँ हृदय-क्षेत्र का ही उल्लेख किया गया है।

नवभक्ति से यहाँ नवविद्या-भक्ति भी अभिप्रेत है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकार की भक्ति श्रीकृष्णचैतन्य कृपा रूप माधुर्य-मेघमाला से सम्पक् जीवन प्राप्त करती है। श्री मन्महाप्रभु ने विश्व को जो 'नाम-सङ्कीर्तन' का अभूतपूर्व अवदान प्रदान किया है, मानो उन्होंने उसके द्वारा नवविद्या भक्ति को सम्पक् जीवन दे दिया है अथवा

उसकी पूर्णता के गुण मन्त्र का सृजन किया है। उन्होंने उद्घोष किया कि—
“नवविद्या भक्ति पूर्ण हय नाम हैते” श्री भगवन्नाम के बिना नवविद्या भक्ति अधूरी है। श्री भगवन्नाम से ही वह पूर्णता प्राप्त करनी है। इस रहस्य को पहने किसी ने भी जगत् में प्रकाशित नहीं किया और न ही किसी ने श्री मन्महाप्रभु की तरह स्वयं भगवन्नाम का आचरण-आस्वादन कर जीव-जगत् को नाम ग्रहण करने की सम्पक् शिक्षा ही प्रदान की। उनकी कृपा से ही नवविद्या भक्ति की पूर्णता सम्पादित होती है, यह एक तथ्य है।

मेघमाला के उदित होने से पहले ठण्डी-ठण्डी हवा चलने लगती है और ग्रीष्म ऋतु की लपन जलन सब दूर हो जाती है। परन्तु सबसे बड़ी दाह-जलन तो है तृष्णा या कामना। देह-इन्द्रियों की सुखकामना ही विविध तापों का मूल कारण है। जब तक इस लोक या परलोक के भोगों की या आत्म दुःख-निवृत्ति—मुक्ति की भी कामना हृदय में मौजूद है, तब तक कभी भी शाश्वत शीतलता प्राप्त नहीं हो सकती। समस्त कामनाओं को निर्मूल करने वाली है श्रीकृष्णचैतन्य कृपा कादम्बिनी। वह उत्पन्न कर देती है जीव के हृदय में कृष्ण कामना। श्रीकृष्ण की सुख देने वाली कामना, जिसमें स्वसुख-गन्ध का लेशमात्र भी नहीं है। उनकी कृपा के ज्वलन्त उदाहरण हैं—श्री रूप-सनातन, श्री गोपाल भट्ट, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि, जिन्होंने समस्त कामनाओं को तुच्छ तृणवत् परित्याग कर दिया। यहाँ तक कि आज उन श्री चैतन्य-कृपापात्रों के चरित्र श्रवण एवं उनके नाम ग्रहण करने से त्रितापदग्ध जीव शाश्वत शीतलता—नित्य आनन्द के सिन्धु में निमग्न हो जाता है और सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो जाता है।

मेघमाला वर्षा द्वारा नदियों को भर देती है, उनमें तरंगें उठने लगती हैं। यहाँ श्रीकृष्ण चैतन्यदेव की कृपा-कादम्बिनी से समस्त विश्वरूपी नदी भगवन्नाम-प्रेम से तरङ्गायित हो उठी। समस्त विश्व प्रेम की बाढ़ में बह गया। उसी नदी की बाढ़ अब तक भी क्रियाशील है। मद्यप-मांसाहारी, नास्तिक, भौतिकवादी देश भी 'हरे कृष्ण-हरे राम' की तरङ्गों में आज भी उछलते देख रहे हैं। यह सब उनकी कृपा माधुर्य-कादम्बिनी का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

मेघमाला समुद्र से उठकर आकाश में बहुत ऊँची सीमा में रहकर मरुस्थल के वृक्षों पर जल बरसा कर उन्हें भी हरा-भरा कर देती है। श्री चक्रवर्तीराज ने भी दैन्यवश अपने को श्री मन्महाप्रभु कृपा-कादम्बिनी से बहुत दूर स्थित एक मरुस्थल नीरस भूमि का वृक्ष—जड़ प्राणी माना है। (चक्रवर्तीराज का काल है भी श्री मन्महाप्रभु के बहुत पीछे)। अतः उन्होंने प्रार्थना की है कि हे श्री चैतन्य कृपा-माधुर्य कादम्बिनी! दूर रहते हुए भी मुझ नीरस, जड़मति दीनजन में सरसता का संचार कर दीजिये। रसमयी भक्ति से मुझे अभिविक्त कर हरा-भरा कर दीजिये।

भक्तिः पूर्वं श्रिता तांतु रसं पश्येद् यदात्तधोः ।
तं नौमि सततं रूपनामप्रियजनं हरेः ॥२॥

भावार्थ - पूर्वकाल में होने वाले महापुरुषों ने भी भक्ति का आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु इस समय जिनकी कृपा से बुद्धि को प्राप्त कर उस भक्ति के रस-स्वरूप में दर्शन किये जा सकते हैं, श्रीकृष्ण के प्रियजन उन श्री रूप गोस्वामी को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ ॥२॥

विश्वोत्थासिनी टीका - आदिकाल से माया कवलित जीव संसार में अनेक प्रकार के दुख-तापों से पीड़ित है। धन-सम्पत्ति, सन्तति आदि अनेक प्रकार के भोगविलासों में जीव सुख को ढूँढ़ता है, चाहता है सुख, परन्तु मिलता है दुख। दुख नहीं चाहता है, किन्तु दुख पर दुख इसे चैन नहीं लेने देता। इसका कारण है, सुखस्वरूप आनन्दकन्द श्रीभगवान् से बहिर्मुख होना। जब तक जीव अपने अंशी परात्पर ब्रह्म सच्चिदानन्दधन श्री भगवान् को प्राप्त नहीं करता, तब तक कोटि-कोटि जन्मों तक भी इसे शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो सकता और न ही इसके दुखों का अन्त हो सकता है, यह अटल सिद्धान्त है। वेद-श्रुति-स्मृति समस्त सद्शास्त्रों ने उस आनन्दस्वरूप परात्पर ब्रह्म श्री भगवान् को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है भक्ति को। क्योंकि अन्य-निरपेक्षता, सार्वत्रिकता, सदातनत्व के कारण भक्ति ही सर्व साधन गरीयसी है। अतः इस रहस्य को जानने वाले समस्त महापुरुषों ने श्री भगवान् की भक्ति का ही आश्रय ग्रहण किया है। सच तो यह है कि जिन्होंने भक्ति का आश्रय ग्रहण किया है, वही ही मह पुरुष हैं, वही महापुरुष कहलाने के अधिकारी हैं, भक्ति-विमुख व्यक्ति महापुरुष नहीं कहलाया जा सकता। उन महापुरुषों में - श्री उद्धव, श्री युधिष्ठिर, श्री नारद, श्री शुकदेव मुनि, श्री यामुनाचार्य, श्री नाथमुनि, श्री गोदा और समस्त वैष्णवाचार्यगण आदि जगत्-प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने भक्ति का ही एक मात्र आश्रय ग्रहण किया है और अपने सद्गुणदेशों, अपनी रचनाओं एवं अपने आचरणों द्वारा भक्ति का ही अनुशीलन तथा आदर्श स्थापन किया है। इन सबको तो ग्रन्थकार श्री चक्रवर्तीपाद ने पूर्वकालीन कहकर वर्णन किया है। परन्तु इस वर्तमानकाल में अर्थात् इस सोलहवीं शताब्दि के बाद श्रीमद् रूपगोस्वामी को ही उन्होंने श्रीकृष्ण का एक ऐसा प्रिय भक्त कहकर निरूपण किया है, जिनकी कृपा से भक्ति का साक्षात्कार हो सकता है, विशेषतः उनकी कृपा से ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है, जिससे भक्ति को रसस्वरूप में अनुभव किया जा सकता है। रसस्वरूप से तात्पर्य है, भक्ति किस प्रकार रस—चमत्कारी रूपमें परिवर्तित होकर आस्वादनीय होती है, अथवा भक्ति रसस्वरूप श्री भगवान् से नितान्त अभिन्न रसस्वरूप में कैसे अनुभूत होती है, यह केवल श्री रूपगोस्वामिपाद की कृपा से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतएव श्री चक्रवर्तीपाद ने ग्रन्थ के नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण के अन्तर्गत इस श्लोक में

उन्हीं श्रीकृष्ण-प्रियभक्त श्रीमद् रूप गोस्वामिपाद को निरन्तर प्रणाम करने का उल्लेख किया है।

श्रीमद् रूप गोस्वामिपादकी कृपा से ही भक्तिके रस-स्वरूपत्व का साक्षात्कार हो सकता है—श्री चक्रवर्तीपाद की इस श्रीमुखोक्ति का यदि विश्लेषण किया जाए तो निःसन्देह एक ग्रन्थ बन जाएगा। अतः यहां केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी परमोज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति को प्रदान करने के लिए करुणावश राधा-भाव-कान्ति से सुवलित होकर श्रीकृष्णचैतन्य रूप में अवतीर्ण हुए। उस परमोज्ज्वल रसमयी भक्ति को उन्होंने ही अनन्त काल पहले श्रीकृष्णचैतन्य रूप से किसी कलियुग विशेष में ही प्रदान किया था। उस पूर्ववर्ती कलियुगके बाद वर्तमान कलिके मध्यवर्ती महादीर्घकालमें किसीने भी उसे प्रदान नहीं किया, यहां तक कि उस मध्यवर्ती काल में अनेक भगवदवतार, वैष्णवाचार्य आदि बड़े-बड़े भक्ति व्याख्याता भूतल पर आए परन्तु उस रसमयी भक्ति के प्रदान करने की बात तो दूर रही, उसका यथार्थ परिचय भी जगत् को न दे सके।

उस परमोज्ज्वल रसमयी भक्ति के एकमात्र आलम्बन हैं श्री ब्रजेन्द्रनन्दन, श्री वृषभानुनन्दिनी। उनकी ब्रजलीला की परम प्रिय श्री रूपमञ्जरी ही हैं—राधा-भावकान्ति सुवलित श्री गौरकृष्ण के प्रिय पार्षद श्री रूप गोस्वामी। इनमें स्वयं श्री गौरकृष्ण ने अपनी भक्ति एवं प्रेम का सञ्चार किया, इसलिए कि वे जगत् में उस भक्ति-सम्पत्ति की सम्यक् प्रतिष्ठा कर सकें—

श्रीरूप हृदये प्रभु शक्ति सञ्चारिला ।

सर्वतत्वं निरूपणे प्रवीण करिला ॥

—श्री चैतन्यचरितामृत २-१६-१०७

श्री कवि कर्णपूर श्री चैतन्यचन्द्रोदय-नाटक (६-४८) में लिखते हैं—

प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे ।

निजानुरूपे प्रभुरेकरूपे ततार रूपे स्वविलासरूपे ॥

श्री रूप गोस्वामी श्री गौरकृष्ण के प्रियस्वरूप हैं, अथवा प्रियस्वरूप हैं अर्थात् आत्मीय निजरूप या स्वयंरूप तुल्य हैं, अथवा स्वयंरूप—रस का सर्वोत्कर्ष निरूपण करने में समर्थ हैं (रूपयतीति रूपः)। वे श्री मन्महाप्रभु के प्रिय भक्त-स्वरूप हैं एवं मूर्तिमान प्रेम हैं। स्वभावतः मनोहर रूप है उनका, तथा उज्ज्वल रस भक्ति को प्रतिष्ठित करने में श्री गौरकृष्ण के निजानुरूप—समान हैं, उनसे अभिन्न रूप हैं और श्रीकृष्ण के विलास-तत्त्व को निरूपण करने वाले हैं, क्योंकि श्रीमद् रूप गोस्वामी में श्री गौरकृष्ण भगवान् ने शक्ति एवं प्रेम का कृपापूर्वक सञ्चार किया था।

स्वयं श्री गौरकृष्ण ने भी सबके सामने इस बात को स्वीकार किया—

प्रभु कहे—इहों आमाय प्रयागे मिलिला ।
योग्यपात्र जानि इहांय मोर कृपा हैला ॥
तबे भक्ति सञ्चारि आमि कैल उपदेश ।

यही कारण है कि श्रीमद्गुरु गोस्वामिपाद उनकी भक्ति का रसमय स्वरूप साक्षात्कार कराने में सर्वसमर्थ हैं ।

श्री ठाकुर महाशय ने तो प्रेमभक्तिचन्द्रिका में और भी स्पष्ट कर दिया—

श्री चैतन्यमनोभीष्टं स्थापितं येन भूतले ॥

श्रीमद् रूप गोस्वामी ने भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेव के मनोभीष्ट को पृथ्वी-तल पर स्थापित किया है । श्री चैतन्यदेव का मनोभीष्ट है उस चिरकाल पर्यन्त अनर्पित उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति का जीव-जगत् को प्रदान करना । श्री रूप गोस्वामिपाद ने श्रीप्रभु के उसी मनोभीष्ट को परिपूर्ण किया और वर्तमान युग में भक्तिरस के प्रस्थानाचार्य पद को विभूषित किया ।

‘मधुकेलिवल्ली’ के रचयिता श्री गोवर्धन भट्ट जी ने चालीस श्लोकों में श्री रूप का महिमा-वेभन्न वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि—“व्यक्ति कर्म, योग, न्याय शास्त्रादि एवं निर्विशेष-ब्रह्मचिन्तन के पचड़ेमें तभी तक भ्रान्त रहता है, जब तक उसे श्रीमद् रूप गोस्वामी की रचनाओं के अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता ।” उनका यह भी उद्घोष है कि—

को राधापददास्यमत्र लभते तं रूपसंगं विना ।

श्रीमद्गुरु गोस्वामिपाद की कृपा या आनुगत्यके बिना कोई भी श्रीवृषभानु-नन्दिनी की चरण सेवा को प्राप्त नहीं कर सकता ।

उनके समसामयिक श्री बल्लभाचार्य, स्वामी श्रीहरिदास, श्रीहित हरिवंश, श्री हरिराम व्यास आदि प्रमुख वैष्णववृन्द भी इनके द्वारा प्लावित भक्तिरस से अभिषिक्त होकर एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करते थे एवं उन्हें “साधु-रसिक-शिरोमणि कहकर अभिहित करते थे । उनके नित्यलीला प्रवेश के बाद श्री हरिराम जी व्यास ने अपने को अनाथ मानकर सबके लिए सूखे पत्तों का ही सेवन करने वाला बताया है—(श्री व्यासवाणी—२२)

साधु-शिरोमणि रूप-सनातन ।

तिनु विनु व्यास अनाथ भये सब सेवत सूखे पातन ॥

भक्तिरूपा चिद्वृत्ति का उद्भव, क्रमविकाश, उसकी परम परिणति, नाना अवस्थाओं का चित्रण, हृदयगत गम्भीर भावों का विवरण, क्षण-क्षण में उदित

होने वाली वृत्तियों का गहरा मनोवैज्ञानिक परीक्षण श्रेष्ठतम भजन-साधन उपाय का प्रदर्शकत्व तथा भक्तिरस के शृङ्गार मूलक मुह्यरसका प्रस्थापकत्व आदि श्रीमद् रूप गोस्वामी ने जिस विषय विभाग नेपुण्य, सरस कवित्व, सूक्ष्म-दार्शनिकता, द्वारा चित्रण किया है, उसका दर्शन होता है उनकी एक अद्भुत रचना श्री भक्ति-रसामृतसिन्धु में । श्रीकृष्ण कृपाभिषिक्त अप्रतिम, अपूर्व-विराट प्रतिभा के धनी श्री रूप गोस्वामी ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि गौड़ीय वैष्णववृन्द की अति पावन विशुद्ध भजन प्रणाली अतीव सरस सुदृढ़ भित्ति पर सुप्रतिष्ठित है । उनकी भक्तिरसप्रतिष्ठापक यह रचना भक्तिसाहित्य के इतिहास में अपने आप में अजर-अमर है और भक्तिरस सिद्धान्त का विश्वकोष, तथा गौड़ीय रस साहित्य-कल्पतरु का सर्वोत्कृष्ट परिपक्व फल मानी गई है । इनके पूर्ववर्ती कोई भी आचार्य, वाणी-कार भक्तिरस तत्व का इतना सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन नहीं कर पाये और न ही भक्ति को रसस्वरूप में प्रतिष्ठित कर सके, श्री मधुसूदन सरस्वती और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे अद्वितीय मनीषियों की रचनाओं में भी श्री रूप गोस्वामिपाद की भावधाराओं का प्रभाव स्पष्ट दीखता है ।

यदि श्रीमद्भागवत, पञ्चरात्र से आरम्भ कर नारदीय भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य सूत्र तक तुलनात्मक विवेचन किया जाए तो श्रीमद् रूप गोस्वामी ने भक्ति और प्रेमका जो लक्षणही किया है, वह अपेक्षाकृत उत्तम एवं सरस है । भक्ति-लक्षण को उदाहरणतः देखिये—श्री रूप गोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति का लक्षण किया है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अन्यान्य समस्त कामनाओं से रहित, ज्ञान कर्म एवं योगादि से अनावृत तथा अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण का जो अनुशीलन है,—वह उत्तमा-भक्ति है ।

पञ्चरात्र कहता है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

सर्व उपाधियों से रहित, तत्परत्व रूप से समस्त इन्द्रियों के ईश्वर हृषीकेश की निर्मल—विशुद्ध सेवा ही भक्ति कही गई है ।

श्रीमद्भागवत कहती है—

अहैतुक्य व्यवर्हिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे-

सालोक्य सार्वसामीप्यसारूप्यकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

स एव भक्तियोगस्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।

अर्थात्—मन की गति का गङ्गा-धारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्त-र्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना, यह निर्गुण-भक्तियोग का लक्षण है। ऐसे निष्काम भक्त, मेरी सेवा को छोड़कर दिये जाने पर भी सालोबय, साष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति तक को नहीं लेते। भगवत् सेवा के लिए मुक्ति का तिरस्कार करने वाला यह भक्तियोग परम पुरुषार्थ अथवा साधन माना गया है।

नारदीय भक्तिसूत्र में कहा गया है—

सा कस्मैचित् परम प्रेमरूपा ।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥

वह भक्ति किसी प्रकार से भी परम प्रेमरूप है और वह कर्म ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठतर है।

शाण्डिल्यसूत्र कहता है—

“सा परानुरक्तिरीश्वरे”

ईश्वर में परा-अनुरक्ति ही भक्ति है।

उपर्युक्त समस्त भक्ति लक्षणों का निष्पक्ष प्रणिधान करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्री रूप गोस्वामी ने जो ‘कृष्ण’ शब्द का उल्लेख किया है, वह पञ्चरात्र के ‘हृषीकेश’, श्री भागवत के ‘पुरुषोत्तम’ तथा शाण्डिल्यसूत्र के ‘ईश्वर’ शब्द से श्रेष्ठ भाव एवं स्पष्ट रस व्यंजक है। इसी प्रकार ‘सेवन’, ‘अनुरक्ति’, ‘भक्ति’ शब्दों से ‘आनुकूल्य-अनुशीलन’ शब्द अत्यधिक माधुर्यपूर्ण है। इस प्रकार श्रीउज्ज्वल नील मणि, श्रीविदग्ध माधव, ललित माधव नाटक आदि अनेक रचनाओं में श्रीगोस्वामिपादने उज्ज्वल रसमयी भक्तिका अभूतपूर्व सर्वाङ्गीण विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्वाचीन भक्ति-आचार्यों की तो क्या बात, पूर्ववर्ति महापुरुषों से भी कहीं अधिक, भक्ति के रस स्वरूपत्व को जगत् के सामने प्रतिष्ठापित किया है श्री रूप गोस्वामिपाद ने। साधक जीव-जगत् को सर्वाङ्गीण माधुर्यमण्डित श्री भक्तिदेवी की कृपा प्राप्त करने का सौभाग्य प्रदान किया है।

अतः श्री चक्रवर्तीपाद की श्रीमुखोक्ति कि—श्रीमद्रूप गोस्वामिपादकी कृपा से ही भक्ति के रस स्वरूपत्व का साक्षात्कार हो सकता है—या दूसरे शब्दों में—“उनकी कृपा के बिना भक्ति के रसस्वरूपत्व का साक्षात्कार तो क्या, भक्तिमें प्रवेश और उसका परिचय तक भी प्राप्त नहीं हो सकता”, यथार्थ ही है, एक परम सत्य है।

इह खलु परमानन्दमयादपि पुरुषाद् ‘ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा’ इति ब्रह्म-तोऽपि परात्परो—“रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति” इति श्रुत्या सूच्यमानो ‘मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्’ इति सर्व-वेदान्तसारेण निखिलप्रमाणचक्रवर्तिना श्रीमद्भागवतेन रसत्वेन विव्रियमाणः “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्” इति श्रीगीतोपनिषदा च एवायमिति संमन्यमानः श्री ब्रजराजनन्दनः एव शुद्धसत्त्वत्वमय-निजनाम-रूपगुणलीलाढ्योऽनादिवपुरेव कमपि हेतुमनपेक्षमाण एव स्वेच्छयैव जन-ध्वज नयनमनोबुद्धयादोऽन्विष्टवृत्तिष्वव-तरते। यथैव यदुरध्वादिवंशेषु स्वेच्छयैव कृष्णरामादिरूपेण।

भावार्थ—श्रुति ही सर्वश्रेष्ठ शाब्द प्रमाण है। तैत्तिरीयोपनिषद् (द्वितीय-वल्लो, पंचम अनुवाक के द्वितीयांश) में कहा गया है कि “ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा” अर्थात् आनन्दमय-पुरुष का आश्रय या प्रतिष्ठा ब्रह्म है।—ब्रह्म का अवलम्बन लेकर ही आनन्दमय-पुरुष की सत्ता है। (इस श्रुति द्वारा आनन्दमय पुरुष से ब्रह्म की श्रेष्ठता निरूपण की गई है।) इसी उपनिषद् (सातवें अनुवाक, द्वितीयांश) में कहा गया है—“रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।” अर्थात् वह ब्रह्म ही रस-स्वरूप है, जिसको जीवात्मा प्राप्तकर आनन्दी—आनन्दयुक्त होता है। वह रसतत्त्व ही परात्पर तत्त्व या श्रेष्ठतम तत्त्व है। (इस श्रुति में ब्रह्म से श्रेष्ठ-तम परात्पर तत्त्व माना गया है रसतत्त्व को)। वह परात्पर रस तत्त्व हैं भगवान् श्रीकृष्ण। क्योंकि “मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्—इस श्लोक द्वारा सर्ववेदान्तसार निखिल प्रमाण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत ने भगवान् श्रीकृष्ण को ही रस-स्वरूप कहकर वर्णन किया है। श्रीमद्भगवद् गीता (१४।२७) में भी “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्”—वाक्य द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् परात्परतत्त्व रसस्वरूप कहकर निर्देश किया है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि परात्पर रसस्वरूप हैं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण। वही श्रुति-स्मृतिनिर्दिष्ट स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण शुद्धसत्त्वमय अपने नाम रूप-गुण एवं लीला से अनादि विग्रह स्वरूप से परिचित हैं। वे किसी प्रकार के हेतु या कारण के वशीभूत न होकर अपनी इच्छा से ही भक्तजनों के श्रवण, नेत्र-

मन एवं बुद्धि आदि वृत्तियों में अवतीर्ण हो प्रकटित होते हैं, जैसे अपनी इच्छा से श्रीकृष्ण तथा श्रीरामरूप से वे यदुवंश तथा रघुवंश में अवतीर्ण हुआ करते हैं।

बिज्ञोत्सासिनी टीका—जिसकी सहायता से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है, उसे उस वस्तु के सम्बन्ध में 'प्रमाण' कहा जाता है। श्रीगौड़ीय गोस्वामिवृन्द ने इस प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आर्पण, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा तथा शब्द। इन सबका यहाँ संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

१—**प्रत्यक्ष-प्रमाण**—मन नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा और त्वक्-इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण सर्व प्रकार से निर्भर करने योग्य नहीं है। कारण रोगग्रस्त होने पर या किसी इन्द्रिय की असावधानतादि में पैदा हुआ ज्ञान भ्रान्तियुक्त हो जाता है। प्रत्यक्ष इन्द्रियों की पटुता आदि अन्य वस्तु की अपेक्षा रखता है और उस अपेक्षणीय वस्तु के अभाव में प्रत्यक्ष से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

२—**अनुमान-प्रमाण**—व्याप्य वस्तु को देखकर व्यापक वस्तु का जो ज्ञान है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। जैसे धुँआँ देखने से मन में आता है वहाँ अग्नि है। यह प्रमाण भी सब जगह निर्भरयोग्य नहीं है। कोई कोई पर्वत स्वाभाविक धुँआँ देते हैं, धुँआँ दीखता है परन्तु अग्नि नहीं होती। अग्नि बुझते समय पानी डाल देने पर अग्नि बुझ जाती है, परन्तु धुँआँ कुछ देर तक दीखता रहता है। अतः अनुमान-प्रमाण से भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

३—**आर्पण**—ऋषियों के वाक्यों को 'आर्पण' प्रमाण कहा जाता है, परन्तु कहीं कहीं पूर्वापर का विचार न रखने से ऋषियों के वचनों में भी भ्रान्ति का उल्लेख शास्त्रों ने किया है। अतः यह भी सर्वतोभावे से निर्भरयोग्य नहीं है।

४—**उपमान**—किसी देखी भाली वस्तु के साथ मिलती जुलती किसी दूसरी वस्तु का जो ज्ञान है, उसे 'उपमान' कहते हैं। नमक को दिखाकर जैसे फटकरी का परिचय या ज्ञान कोई करावे। परन्तु उससे फटकरी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए उपमान भी निर्भरयोग्य प्रमाण नहीं है।

५—**अर्थापत्ति**—जो बात स्पष्ट होने से अस्वीकार न की जाए, परन्तु उसका कारण भी न जाना जा सके, उसकी स्वीकृति के अनुकूल जिस कारण की कल्पना की जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दिनमें किसीके सामने कुछ भी नहीं खाता-पीता, परन्तु है वह हृष्ट-पुष्ट। उसकी हृष्टता-पुष्टता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता—वह सबको दीखती है, परन्तु वह कैसे हृष्ट-पुष्ट रहता है—इस कारण को कोई नहीं जान पाता। इस अवस्थामें इस बात की कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में ही भोजन करता है। जिस प्रमाण द्वारा ऐसी कल्पना की जाती है, वह है 'अर्थापत्ति-प्रमाण'। रात्रि को

भोजन करने की कल्पना के अतिरिक्त भी अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे किसी औषधि-विशेष का सेवन, किसी देव-देवी का वरदान इत्यादि, अतः अर्थापत्ति प्रमाण भी वास्तव ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकता, वह कल्पित ही है।

६—**अभाव**—आँखों के या इन्द्रियों के ओझल होने से कोई वस्तु नहीं दीखती। परन्तु किसी दीवार या ओट में रखी होने से उसका अस्तित्व रहता है। जिस व्यक्ति को वह वस्तु नहीं दीखती उसके पक्ष में उस वस्तु के अस्तित्व की अनुपलब्धि को 'अभाव'-प्रमाण कहा जाता है।

७—**सम्भव**—हजार की संख्या में सी है, बुद्धि में इस प्रकार जो सम्भावना होती है, उसे 'सम्भव'-प्रमाण कहा जाता है।

८—**ऐतिह्य**—किसी ने कब कुछ कहा—यह पता नहीं, परन्तु एक दूसरे के कहने से वह बात जनसमाज में प्रसिद्ध चली आती है, उसे 'ऐतिह्य-प्रमाण' कहते हैं।

९—**चेष्टा**—अंगुली आदि उठाते हुए द्रव्य या संख्यादि का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है, उसका नाम है 'चेष्टा'।

१०—**शब्द**—अपीरुषेय-शास्त्र-वचन ही 'शब्द-प्रमाण' हैं जिन्हें 'आप्तवचन' भी कहा जाता है। किसी व्यक्ति विशेष की मौलिक रचना को 'पीरुषेय-शास्त्र' कहते हैं। परन्तु जो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित नहीं है, श्रीभगवान् द्वारा ही प्रकट की गई है, उसे कहते हैं 'अपीरुषेय-शास्त्र'। पीरुषेय-शास्त्र या रचना अपीरुषेय-शास्त्र की संगतिहीन हो सकती है। उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (वञ्चना की कामना) तथा करणापाटव (इन्द्रियों की असावधानतादि) रहना असम्भव नहीं है। परन्तु श्रीभगवान् के वचनों में ये दोष कभी नहीं रहते, क्योंकि श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान्, मङ्गलमय एवं परम करुणामय हैं। इसलिए सर्वदोष रहित होने से शब्द-प्रमाण को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शब्द प्रमाण स्वतः प्रमाण है, सर्वथा निर्भरयोग्य है एवं अन्य-निरपेक्ष है।

शब्द-प्रमाण या अपीरुषेय-शास्त्र क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—
एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्चितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इतिहासः पुराणम् ॥ सत्रेयो उपनिषद् ॥ ६।३२ ॥ — अरे मंत्रेय ! ऋग्, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास (महाभारत) तथा पुराण (श्रीमद्भाग-तादि प्रमुख अठारह पुराण) — ये सबके सब सर्वव्यापक परब्रह्म के निश्वास स्वरूप हैं अर्थात् ये सब उनसे ही अवलीला क्रम से प्रकटित हुए हैं। अतः उपर्युक्त समस्त ही अपीरुषेय शास्त्र हैं जिनको शब्द-प्रमाण कहा जाता है। इसके द्वारा ही

परतत्त्व वस्तु परब्रह्म श्रीभगवान् का वास्तविक—पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

आज के युग का निरीश्वरवाद, भौतिकवाद तथा अनेक प्रकार के संगत-हीन मत-मतान्तरों के प्रचलन का मूल कारण है—शब्द प्रमाण की अवहेलना, अपौरुषेय-शास्त्रों के प्रति अविश्वास और उनका अध्ययन-मनन न करना। आज के कृत्रिम विद्वान् विशेषतः शोधकर्ता, अनेक प्रकार की उपाधियों को बटोरने वाले, जिनका लक्ष्य केवल प्रतिष्ठा—स्वार्थपरायणता तथा अर्थोपार्जन है, वे स्वतः प्रमाण अपौरुषेय शास्त्रों को छोड़कर अन्यान्य प्रमाणों का अवलम्बन लेकर भ्रान्त-मतों, असंगत सिद्धान्तों तथा दूषित भावनाओं का प्रचार-प्रसार करते हैं, जिससे परमार्थ वस्तु का वास्तव ज्ञान मानव-समाज को नहीं होता। उसके फलस्वरूप भगवद् बहिर्मुखता नास्तिकवाद दिन-दिन बढ़कर विश्व को अशांति एवं पतन का कारण बनता जा रहा है।

अनेक लोगों की जिज्ञासा है कि बुद्धदेव भी श्रीभगवान् का एक अवतार है, उनके वचन भी अपौरुषेय एवं प्रमाण स्वरूप में ग्रहीत हो सकते हैं क्या?—सर्वसम्बाधिनी ग्रन्थ में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—“न च बुद्धस्यापौरुषेयत्वे सति तद्वाक्यं च प्रमाणं स्यादिति वाच्यम्। येन शास्त्रेण तस्य ईश्वरत्वं मन्यामहे, तेनैव तस्य दैत्यमोहन शास्त्र कारित्वेनोक्तत्वात्। अर्थात् श्रीबुद्धदेव ईश्वर होते हुए भी उनके वाक्य प्रमाण रूप में ग्रहण नहीं किये जा सकते, क्योंकि जिस शास्त्र में बुद्धदेव को ईश्वर कहा गया है, उसी शास्त्र में यह भी कहा गया है कि वे दैत्यों के मोहनकारी शास्त्र के कर्ता हैं, उन्होंने ने जो उपदेश किया है, वह केवल दैत्यों को मोहित करने के लिए है, परमार्थ-निर्णय के लिए नहीं।

तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर के वचन भी वेद-श्रुति के विपरीत हों तो वे भी प्रमाण रूप में ग्रहणीय नहीं हैं। अतः एकमात्र श्रुति वचन ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण रूप में ग्रहणीय हैं। वे ही भ्रम-प्रमाद-विवर्लिप्ता एवं करुणापाटवादि सर्व दोष विवर्जित हैं एवं परमार्थ-निर्णयायक हैं।

श्रीचक्रवर्तीपाद ने इसलिए ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है कि श्रुति ही सर्व-श्रेष्ठ-शाब्द प्रमाण है और उसी के आधार पर वे अपने प्रतिपाद्य विषय को प्रतिष्ठित कर आगे चले हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ वचन द्वारा अन्नमयादि समस्त कोषों के मूल आश्रय परमानन्दमय पुरुष से ‘ब्रह्म’ का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म से रस-स्वरूप श्रीभगवान् का उत्कर्ष श्रुतियों ने निरूपण किया है—वे रस-स्वरूप हैं स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन। श्रीमद्भागवत पुराण शिरोमणि (१०-४३-१७) में वर्णित है—

मल्लानामशनिर्मुखां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमा।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्नजः॥

अर्थात्—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण श्रीवलराम जी के साथ कंस की रंगभूमि में पधारे, उस समय वे पहलवानों को वज्र के समान कठोर शरीर वाले तोख पड़े और साधारण मनुष्यों को नर-रत्न, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव, गोपों को अपने वान्धव, दुष्ट राजाओं को दण्ड देने वाले शासक, माता-पिता के समान वृद्ध व्यक्तियों को बालक, कंस को मृत्यु, अज्ञानियों को विराट, योगियों को परम-तत्त्व और यदुवंशी-भक्तों को अपने इष्टदेव जान पड़े।

सबने अपने भावानुरूप क्रमशः रोद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, वीभत्स, शान्त और प्रेम भक्ति रसस्वरूप में श्रीकृष्ण का अनुभव किया। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के रसस्वरूप का वर्णन किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद् में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्” अर्थात् ब्रह्म का मैं आश्रय हूँ। इस वाक्य द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको परात्पर तत्त्व रसस्वरूप में निर्देश किया है।

वही परात्पर तत्त्व श्रुति-स्मृति निर्दिष्ट रसस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, जिनके नाम, रूप, गुण एवं लीला, विग्रहादि शुद्ध सत्त्वमय है अर्थात् अप्राकृत-चिन्मय हैं, दिव्य हैं, वे अपनी इच्छा से भक्तजनों के आगे अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान् की इच्छा उनकी निज शक्ति है। वे किसी कारण को लेकर, या किसी के वशीभूत होकर अवतीर्ण नहीं होते। वे अवतीर्ण होते हैं भक्तों की नेत्र, श्रवण बुद्धि आदि इन्द्रियों की वृत्तियों में। यही कारण है कि अवतार के समय भक्तों के अतिरिक्त उनके वास्तव स्वरूप के दर्शन अभक्तजन, विद्वेषी या नास्तिक लोग नहीं कर पाते। श्रीभगवान् के सामने रहते हुए भी वे उन्हें साधारण मनुष्य रूप में देखते हैं। इसलिए यह कहा गया है कि श्रीभगवान् भक्तों की इन्द्रिय वृत्तियों में अवतीर्ण होते हैं, जिससे भक्तजन बाह्य एवं अन्तरिन्द्रियों से चिन्मय स्वरूप को अनुभव कर या पहिचान लेते हैं और तब वे उन्हें जगत् में प्रकट करते हैं। श्रीभगवान् यदुवंश में श्रीकृष्णरूप से तथा रघुवंश में श्रीरामरूप से जैसे अपनी इच्छा से अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार भक्तों की वृत्तियों में भी वे अपनी इच्छा से ही अवतीर्ण होते हैं। इसलिए ही भगवत्-प्राप्ति का कारण केवल मात्र श्रीभगवान् की इच्छा या कृपा को ही माना गया है।

तस्य भगवत इव तद्रूपाया भक्तेरपि स्वप्रकाशतासिद्धयर्थमेव हेतुत्वानपेक्षता, तथाहि—“यतो भक्तिरधोक्षजे अहेतुक्यप्रतिहता” इत्यादी हेतुविनैवावि-

भवतीति तत्रार्थः । तथैव “यदृच्छया मत्कथादौ” “मद्भक्तिं च यदृच्छया” “यदृच्छयैवोपचिता” इत्यादावपि यदृच्छयेत्यस्य स्वाच्छन्द्येनेत्यर्थः । यदृच्छा-स्वैरित्यभिधानात् ।

भावार्थ—श्रीभगवान् की तरह उनकी स्वरूपशक्ति भक्ति भी स्वयं प्रकाश हैं । उसकी स्वप्रकाशता की सिद्धि के लिए और किसी कारण की अपेक्षा नहीं है । जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—“यतो भक्तिरधोक्षजे अहैतुव्यप्रतिहता” इत्यादि । अर्थात् भक्ति बिना किसी कारण ही उदित हुआ करती है । और भी श्रीमद्भागवत में कहा गया है—“यदृच्छया मत्कथादौ”—अर्थात् मेरी लीला-कथा आदि में रुचि मेरी स्वरूपशक्ति भक्ति की कृपा से होती है । “मद्भक्तिं च यदृच्छया ।”—स्वच्छन्द रूप से ही मेरी भक्ति प्राप्त होती है । तथा ‘यदृच्छयैवोपचिता’ इत्यादि अनेक स्थानों पर यही कहा गया है कि भक्ति स्वच्छन्द रूप से ही उदित हुआ करती है । क्योंकि ‘यदृच्छा’—शब्द का अर्थ है—स्वेच्छा । कोष में भी यदृच्छा का अर्थ—यदृच्छा स्वैरिता या स्वेच्छा ही किया गया है ।

विश्वोत्पत्ति-टीका—श्रीभगवान् जिस प्रकार अपनी इच्छा से स्वच्छन्द रूप से यदुवंश अथवा रघुवंश में तथा अपने भक्तों की इन्द्रिय-वृत्तियों में अवतरित-प्रकटित होते हैं, उनकी स्वरूप-शक्तिरूपा भक्ति भी स्वच्छन्दरूप से उदित हुआ करती है, क्योंकि वे भी स्वयंप्रकाश हैं । उसे प्रकाशित करने के लिए और किसी कारण की अपेक्षा नहीं है ।

परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं । सत्-अंश से सन्धिनी, चित्-अंश से संवित तथा आनन्द-अंश से ह्लादिनी—ये तीन शक्तियां हैं जिनको स्वरूप-शक्ति या चित्-शक्ति की वृत्तियां कहा जाता है । जैसे सत्-चित् आनन्द इन तीनों में से किसी एक को दूसरे दो से पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इन तीन शक्तियों में से किसी एक को दूसरी दो शक्तियों से अलग नहीं किया जा सकता । जहां भी स्वरूप-शक्ति का विकास होता है, वहां सन्धिनी, संवित एवं ह्लादिनी इन तीनों का एक साथ विकास होता है । चित्-वस्तु—परब्रह्म श्रीभगवान् स्वयं प्रकाश हैं, उनकी चित्-शक्ति भी स्वयं प्रकाश है, तथा चित्-शक्ति की वृत्ति भी स्वप्रकाश है । स्वप्रकाश वस्तु अपने को प्रकाशित करती है और दूसरे को प्रकाशित करती है, जैसे सूर्य उदित होकर अपने को प्रकाशित करता है और समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है ।

चित्-शक्ति की जिस स्वप्रकाश लक्षण-युक्त वृत्ति-विशेष द्वारा परब्रह्म अपने स्वरूप तथा स्वरूपशक्ति की परिणति को विशेषरूप से प्रकाशित करते हैं या आविर्भूत करते हैं, उस वृत्ति विशेष को कहते हैं—विशुद्ध सत्त्व ।

उस विशुद्ध सत्त्व में सन्धिनी, संवित एवं ह्लादिनी—ये तीनों शक्तियां एक साथ अभिव्यक्त रहते हुए भी हर एक शक्ति की अभिव्यक्ति का परमाणु सब

जगह एक-सा नहीं रहता । कहीं तो तीनों समान रूप से अभिव्यक्त होती हैं, कहीं किसी एक की प्रधान अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार जहां ह्लादिनी की प्रधानता होती है उसे ह्लादिनि-प्रधान शुद्धसत्त्व या ह्लादिनी प्रधाना-स्वरूप-शक्ति कहा जाता है, अथवा शास्त्रों में उसे 'गुह्य-विद्या' कहा गया है गुह्य-विद्या की दो वृत्तियां हैं—भक्ति व भक्ति की प्रवर्तक । इस गुह्य-विद्या के द्वारा ही प्रेमात्मिका-भक्ति प्रकाशित होती है । अतः भक्ति स्वरूपतः ह्लादिनी प्रधाना स्वरूपशक्ति (विशुद्ध सत्त्व) की वृत्ति विशेष है जो स्वयंप्रकाश एवं चित्-वस्तु है । उसे प्रकाशित करने के लिए किसी भी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है ।

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर भक्ति को अहैतुकी एवं स्वच्छन्द रूप से प्रकाशित होने वाली कहकर वर्णन किया गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥ श्रीभागवत १-२-६

मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जहां भगवान् श्रीकृष्ण में अहैतुकी—बिना कारण से उदित होने वाली तथा अप्रतिहता—अखण्ड-नित्य स्वरूपा भक्ति उदित होती है ।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्चदस्तु यः पुमान् ।

न निर्विशः नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ श्रीभा० ११-२०-८

भक्तियोग का वही अधिकारी है, जो न तो अति विरक्त है और न अति आसक्त । विशेषतः जिसमें स्वच्छन्द स्वरूपा मेरी भक्ति की कृपा से मेरी लीला-कथादि में श्रद्धा उत्पन्न हो गई है ।

अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।

ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥ श्रीभागवत ११-२०-११

—अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति इसी शरीर में रहते-रहते ही निष्पाप होकर पवित्र हो जाता है, अर्थात् निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर राग-द्वेषादि मलीनता से रहित हो जाता है । तत्पश्चात् उसे विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान अर्थात् श्रीभगवद्-तत्त्व एवं अपने स्वरूप (कृष्ण-दासत्व) का ज्ञान होता है और फिर मेरी स्वच्छन्द-अहैतुकी भक्ति को प्राप्त करता है ।

इसी प्रकार "यदृच्छयैरोपचिता" इत्यादि एवं उपर्युक्त श्लोकों में जो 'यदृच्छा'—शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है—स्वेच्छा । अर्थात् भक्ति अपनी इच्छासे ही उदित होती है । इसलिए भक्तिको अहैतुकी कहा गया है, वह स्वयंप्रकाश है—अपनी इच्छा से उदित हुआ करती है ।

यदृच्छयाकेनापि भाग्येनेति व्याख्याने भाग्यं नाम किं शुभकर्मजन्यं, तदजन्यं वा ? आद्ये भक्तेः कर्मजन्यभाग्यजन्यत्वे कर्मपारतन्त्र्ये स्वप्रकाशतापगमः । द्वितीये भाग्यस्यानिर्वाच्यत्वेनाज्ञेयत्वादसिद्धेः कथं हेतुत्वम् भगवत्कृपैव हेतुरित्युक्ते तस्या अपि हेतावन्विषयमाशोऽनवस्था । तत्कृपाया निरुपाधिकाया हेतुत्वे तस्या

माधुर्यं कादम्बिनी]

असार्धत्रिकत्वेन तस्मिन् भगवति वैषम्यं प्रसज्येत। पुष्टनिग्रहेण स्वभक्तपालनरूपं तु वैषम्यं तत्र न दूषणावहं-प्रत्युत भूषणावहमेव। भक्तवात्सल्यगुणस्य सर्वचक्रवर्त्ति-त्वेन सर्वोपमर्दकत्वेनोपरिष्ठावष्टम्यमृतवृष्टौ व्याख्यास्यमानत्वात्।

भावार्थ—कोई-कोई महानुभाव (श्रीश्रीधरस्वामी) ऊपर के श्लोकों में प्रयुक्त 'यदृच्छा'—शब्द का अर्थ करते हैं—'किसी भाग्योदय से।' अर्थात् किसी भाग्य के उदय होने से भक्ति उदित हुआ करती है। इस अर्थ में विचारणीय यह बात है कि भाग्य कैसा? शुभकर्मों से उदित होने वाला भाग्य? या शुभकर्मों के बिना उदित होने वाला कोई भाग्य?

यदि माना जाये कि शुभकर्मों से उदित होने वाले भाग्य से भक्ति उदित होती है, तो कर्मजन्य भाग्य से उदित होने वाली भक्ति कर्मों की पराधीन माननी होगी और उसकी स्वप्रकाशता नष्ट हो जायेगी। दूसरे पक्ष में यदि शुभ-कर्मों के बिना उदित होने वाला कोई भाग्य भक्ति का कारण माना जाये तो उस भाग्य का कारण अज्ञात है। जिस वस्तु का मूल कारण ही अज्ञात है, वह स्वयं असिद्ध है, उसका अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता, अतः जो भाग्य स्वयं असिद्ध है, वह भक्ति का कारण कैसे हो सकता है?

यदि भक्ति का कारण श्रीभगवान् की कृपा को ही ठहराया जाये तो उस कृपा का भी कारण ढूँढ़ने की स्वाभाविक इच्छा जाग उठती है। उत्तरोत्तर कारण ढूँढ़ने से किसी भी स्थायी नतीजे तक नहीं पहुँचा जा सकता, अतः इस पक्ष में भी अनवस्था दोष आता है।

यदि हम श्रीभगवान् की अहैतुकी कृपा को ही भक्ति का कारण मानें, तो भक्ति को सर्वत्र न देखकर श्रीभगवान् में विषमता आ जाती है। अर्थात् श्रीभगवान् की यदि अहैतुकी कृपा भक्ति का कारण है तो वह कृपा सब पर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा हम नहीं देखते। सबको भक्ति प्राप्त नहीं है। कहीं भक्ति उपलब्ध है, कहीं नहीं इस अवस्थामें यह मानना पड़ेगा कि श्रीभगवान् का भी सबके प्रति समान भाव नहीं है—उनमें भी विषमता या पक्षपात है। परन्तु श्रीभगवान् में कभी भी विषमता दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः श्रीभगवान् की अहैतुकी कृपा को भी भक्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

यदि कोई यह शंका करे कि श्रीभगवान् दुष्टों को दण्ड देते हैं और अपने भक्तों का पालन करते हैं, क्या यह श्रीभगवान् में विषमता नहीं है?—इसके उत्तर में कहते हैं—दुष्टों को दण्ड देना तथा अपने भक्तों का पालन करना श्रीभगवान् में विषमता दोष नहीं बल्कि यह उनका भूषण है, महानुगुण है। श्रीभगवान् में जितने गुण हैं, उन समस्त गुणों का चक्रवर्ती राजा है—भक्त-वात्सल्य। सब गुणों को पराजित कर भक्त-वत्सलता गुण सबके ऊपर विराजमान है।—इस विषय की सम्यक् आलोचना इस ग्रन्थ की आठवीं वृष्टि (आठवें अध्याय) में की जाएगी।



निरुपाधिकायास्तद्भक्तकृपाया हेतुत्वे वस्तुतो भक्तानामपि वैषम्यानुचित-
त्वेऽपि “ प्रेमभैत्रीकृपेक्षा यः करोति स मध्यमः (भा० ११।३।४) इति मध्यम-
भक्तवैषम्यस्य विद्यमानत्वाद् भगवतश्च स्वभक्तवश्यत्वेन तत्कृपानुगामिकृपत्वेन
किंचिदसामञ्जस्यस् । यतो भक्तकृपाया हेतुर्भक्तस्यैव तस्य हृदयवर्तिनीभक्तिरेव,
तां विना कृपोदयसंभवाभावादिति भक्तेः स्वप्रकाशत्वमेव सिद्धम् ।

भावार्थः—भगवद्-भक्तों की निरुपाधिक कृपा को भक्ति के उदय का
कारण माना जा सकता है । इससे यद्यपि भगवद्-भक्तों में भी विषमता या पक्ष-
पात का दोष आता है, जो अनुचित प्रतीत होता है । परन्तु, प्रेम, मित्रता, कृपा,
उपेक्षा इस प्रकार की विषमता भी जिसमें रहती है, वह श्रीभगवान् का मध्यम
भक्त माना गया है । मध्यम भक्त में इस प्रकार की विषमता रहना मध्यम
भक्त का लक्षण ही है । श्रीभगवान् भक्त के वशीभूत रहते हैं । इस अवस्था में
यदि मध्यम भक्त किसी व्यक्ति पर कृपा करता है तो श्रीभगवान् की कृपा भी
उसका अनुगमन करती है अर्थात् उस पर श्रीभगवान् की भी कृपा होती है और
उसमें भक्ति उदित हो उठती है, इसमें कोई भी असामञ्जस्य या असुविधा नहीं
है । परन्तु भक्ति का कारण जो भक्तकृपा है, उस भक्त-कृपा का कारण भी भक्त
के हृदय में रहने वाली भक्ति ही है । क्योंकि हृदय में भक्ति के बिना किसी पर
कृपा का होना भी असम्भव है । अतः इस रूप में भी भक्ति की स्वप्रकाशता ही
सिद्ध होती है । भक्ति को छोड़कर भक्ति के उदय होने का और कोई कारण नहीं
ठहरता ।

विश्वोत्सासिनी टीका—चिद्वस्तु भगवद् भक्ति को स्वप्रकाशता निरूपण
करते हुए पहले कहा जा चुका है कि भक्ति किसी शुभ कर्म-जन्य भाग्य से उदित
नहीं होती । श्रीभगवान् की निरुपाधिक कृपा को भी भक्ति उदित होने का
कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर श्री भगवान् में विषमता
आती है । श्रीचक्रवर्तीपाद अब कहते हैं कि भगवद्-भक्त की कृपा से भक्ति उदित
होती है यदि ऐसा मान लिया जाय तो कोई असामञ्जस्य पैदा नहीं होता । जैसे
भगवद्-कृपा अहेतुकी और निरुपाधिक है, उसी प्रकार भक्तों की कृपा भी अहै-
तुकी और निरुपाधिक है । क्योंकि श्रीभगवान् के गुण किंचिदंश में भक्तों में भी

सञ्चारित होते हैं, वे गुण कितने भी अल्प मात्रा में क्यों न हों, उनका स्वरूप अपरिवर्तित ही रहता है। परन्तु भक्त-कृपा भी तो सर्वत्र परिब्याप्त नहीं दीखती इससे भक्तों में विषमता का दोष आता है। किन्तु श्रीभगवान् में जिस प्रकार विषमता का रहना दोष और अनुचित तथा भगवत् स्वरूप के लक्षण के विरुद्ध है, भक्तों में इस प्रकार की विषमता अनुचित प्रतीत होते हुए भी मध्यम-भक्त के लक्षणानुकूल है, अर्थात् इस प्रकार की विषमता रहना मध्यम भक्त का लक्षण है। श्रीमद्भागवत में श्रीहरि योगेश्वर ने राजा निम महाराज को उत्तम, मध्यम, प्राकृत आदि भक्तों के लक्षण बताते हुए कहा है।

ईश्वरे तदाधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।

प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

—श्री मा० ११-२-४६ ॥

श्रीभगवान् से प्रेम करता है, भगवद्-भक्तों से मित्रता करता है, दुखी एवं अज्ञानी पुरुषों पर जो कृपा करता है तथा श्रीभगवान् से द्वेष करने वाले व्यक्तियों को उपेक्षा करता है, वह व्यक्ति ही श्रीभगवान् का मध्यम कोटि का भक्त है।

इससे ज्ञात होता है कि मध्यम भक्तों में दुःखी एवं अज्ञानीजनों के प्रति कृपा रहती है और भगवद् द्वेषी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा रहती है—ऐसी विषमता रहते हुए भी उन्हें भक्त माना गया है। अतः इस प्रकार के भक्तों की कृपा से भक्ति उदित होती है। श्री कविराज ने भी कहा है—

‘कृष्णकृपा राखेन भक्तकृपापेक्षा’

यदि इस विषय का भी गहरा अध्ययन किया जाए तो मध्यम भक्त दुखी-अज्ञानी व्यक्ति के प्रति जो कृपा करते हैं उसका एक मात्र कारण है उनके हृदय में विराजमान रहनेवाली भक्ति। यदि उनके हृदय में भक्ति न हो, तो वह क्यों किसी के प्रति कृपा करने लगे? भगवद् भक्ति की शक्ति के बिना वे कैसे किसी में भक्ति सञ्चार कर सकते हैं? या वह कृपा फलीभूत हो कैसे हो सकती है? अतः सांराश यह है कि मध्यम भक्तों के हृदय में रहने वाली भक्ति ही वस्तुतः भक्ति उदित करने का मूलकारण है। दूसरे शब्दों में भक्ति स्वप्रकाश है और वह स्वयं ही किसी भक्त के माध्यम से—कृपा से आविर्भूत हो उठती है।

अतो “यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने” इत्यत्र अतिभाग्येन शुभ-कर्मजन्यभाग्यमतिक्रान्तेन केनापि भक्तकारुण्येनेतितत्त्वार्थो ज्ञेयः, न च भक्तानां कृपाया प्राथम्यासम्भवस्तेषामपीश्वरप्रेर्यत्वादिति वाच्यम्। ईश्वरेणैव स्वभवतबश-यतां स्वीकुर्वता स्वकृपाशक्ति-सम्प्रदानोक्त-स्वभवतेन तादृशस्य भक्तोत्कर्षस्य दानात्। अन्तर्यामिणश्च ईशितव्यानां स्वादृष्टोपार्जितबहिरिन्द्रियव्यापारेषु नियम-

नमात्रकारित्वेऽपि स्वभवतेषु स्वप्रसाद एव दृश्यते। यदुक्तं श्री गीतासु “मत्प्रसादात् परां शान्तिं, मत्संस्थामपि गच्छति” इति। प्रसादश्च स्वकृपाशक्तिदानात्मकः पूर्वम् उक्त एव।

भावार्थ— इसलिए— ‘यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने — (जो व्यक्ति किसी अतिशय भाग्यवश श्री भगवान् की सेवा करने के लिए श्रद्धायुक्त होता है) — इस श्लोक में ‘अति भाग्य’ शब्द का वास्तविक अर्थ शुभकर्मजन्य भाग्यों का अतिक्रमण करने वाली किसी भक्त कृपा की ही अभिप्रेत है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्री भगवान् की प्रेरणा के बिना किसी पर सर्व प्रथम भक्त की कृपा होना असम्भव है। क्योंकि श्री भगवान् ने भक्तों की वशीभूतता स्वीकार करते हुए अपनी कृपाशक्ति आपने भक्तों को ही प्रदान कर भक्तों का उत्कर्ष स्थापन कर रखा है। भक्तों के अपने-अपने प्रारब्ध द्वारा उपार्जित बाह्य-इन्द्रियों के व्यापारों में अन्तर्यामी श्री भगवान् का नियन्त्रण मात्र रहता है, वस्तुतः अपने भक्तों के प्रति उनका अनुग्रह ही दोखता है जैसा कि श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है कि मुझमें सम्यक् प्रकार अवस्थित जो पराशान्ति है, मेरे भक्तजन मेरे प्रसाद से, मेरी कृपा से उसे प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ प्रसाद-शब्द का तात्पर्य है श्री भगवान् की कृपाशक्ति का दानरूप अनुग्रह। यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

विश्वोल्लासिनी टीका— भक्ति के उदय होने में भगवद् भक्त की कृपा कारण होते हुए भी वास्तव में भक्ति के उदित होने का मूल कारण भक्ति ही है, क्यों कि वह स्वयं प्रकाश है “यः केनाप्यति भाग्येन-इत्यादि श्लोक में यह जो उल्लेख है—कि किसी बड़े भारी भाग्यवश श्री भगवान् की सेवा करने की श्रद्धा मनुष्य में पैदा होती है। यहाँ भी अति भाग्य का तात्पर्य भगवद्-भक्त की कृपा से ही है, न कि किसी शुभकर्म से पैदा होने वाले भाग्य से। ‘अति भाग्य’—का अर्थ ही यही है जो शुभकर्मोदिजन्य भाग्य का अतिक्रमण करने वाला महान भाग्य है। वह है केवल भगवद्भक्त-कृपा।

यहाँ यह शंका उठती है कि, क्या किसी भक्त की कृपा श्रीभगवान् की प्रेरणा के बिना हो स्वतन्त्ररूप से किसी पर हो जाती है? ऐसा क्या सम्भव है? उत्तर में कहते हैं—हां, बिना श्री भगवान् की प्रेरणा के भक्त-कृपा स्वतन्त्ररूप से आविर्भूत होती है, यह सर्वथा सम्भव है, इसमें असम्भावना की कोई बात नहीं। क्योंकि श्री भगवान् सदा अपने भक्तों के वशीभूत रहते हैं। जब वे भक्त की वशीभूतता स्वीकार करते हैं, तभी वे अपनी कृपाशक्ति भी भक्त में सञ्चार कर देते हैं और उसको मानो यह अधिकार प्रदान कर देते हैं कि वह स्वतन्त्र रूप से जिस किसी पर भी कृपा कर सकता है। श्री भगवान् भक्त का इस रूप में उत्कर्ष स्वयं ही पुष्ट करते हैं।

तो क्या अन्तर्यामी श्री भगवान् जो, सबके हृदय में निवास करते हैं,

और सबको प्रारब्धानुसार कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं उनका भक्त की चेष्टाओं पर कुछ नियन्त्रण नहीं होता ? इसके उत्तर में कहते हैं— भक्तों के अपने अपने प्रारब्ध द्वारा उपाजित बाह्येन्द्रियों की चेष्टाओं में यद्यपि श्री भगवान् की नियन्त्रित्व शक्ति मात्र अवश्य रहती है अर्थात् श्री भगवान् से प्राप्त की हुई शक्ति के यथायोग्य व्यवहार को नियमित करने की शक्ति श्री भगवान् की ही रहती है— इस विषय में भक्त सम्पूर्णरूप से स्वाधीन नहीं हैं, तो भी भगवान् का उन अपने भक्तों के प्रति अनुग्रह ही दीखता है। विशेष बन्धन नहीं रहता। इसलिए श्री गीता में कहा गया है—

“मत्प्रसादात् परां शान्तिं” “मत्संस्थामधिगच्छति ।”

मेरे भक्त मेरे प्रसाद या कृपा से ही मुझ में सम्यक् रूप से अविस्थिता जो परा शान्ति है, उसे प्राप्त किये रहते हैं।

श्री गीता में यह पंक्ति उपर्युक्तरूप में एक जगह या एक श्लोक में नहीं है। पूर्वांश तो अठारहवें अध्याय के छठे श्लोक का तृतीय पाद है, वहाँ भी मूल में ‘मत्प्रसादात्’ के स्थान पर ‘तत्प्रसादात्’ है। और परवर्ती अंश छठे अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक का चतुर्थपाद है। किन्तु दोनों स्थानों पर प्रसंग की संगति है तत् शब्द वहाँ श्री भगवान् के लिए प्रयुक्त हुआ है और मत्-शब्द तो श्री भगवान् के लिए है ही। ‘मत्संस्थाम्’ वहाँ पर भी ‘परां शान्तिं’ - शब्द का विशेषण है और यहाँ भी ‘परां शान्तिं’ का। परां शान्तिं का अर्थ किया है श्री चक्रवर्ती पाद ने अविद्याविद्ययोनिवृत्तिम्। अर्थात् अविद्या-विद्या जहाँ नहीं है—ऐसी शाश्वत शान्ति को भक्त प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य यह है कि भक्त अविद्या-प्रारब्धादि के आधीन होते हुए भी उसके फल सुख-दुःख भोगादि से व्यग्र नहीं होते। श्री भगवान् की अनुग्रह का ही वे सदा अनुभव करते हैं। जैसे कि पहले कहा जा चुका है ‘प्रसाद’ शब्द का प्रयोग उस अनुग्रह के लिए यहाँ हुआ है, जो श्री भगवान् अपने भक्त को अपनी कृपा-शक्ति दान करने में प्रकाशित करते हैं। अतः श्री भगवान् की प्रेरणा के बिना भी भक्त की कृपा द्वारा भक्ति का उदय होना असम्भव या असंज्ञत नहीं है।

किं च “स्वेच्छावतारचरितैः” इति “स्वेच्छामयस्य” इत्यादि प्रमाणशतैर-वगतेन स्वाच्छन्त्येतावतैरतोऽपि तस्य भूभारहरणादेः स्थूलदृष्ट्या हेतुत्वे इव निष्कामकर्मैः क्वापि द्वारत्वेऽपि न क्षतिः किञ्च—

“यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।

व्याख्यास्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥”

(भा० ११-१२-६)

भावार्थ— शास्त्रों में ‘स्वेच्छावतारचरितैः’ (स्वेच्छामय चरित्रों द्वारा) तथा ‘स्वेच्छामय’ — (श्री भगवान् स्वेच्छामय हैं) इत्यादि संकड़ों वचनों द्वारा यह बात जानी जाती है कि श्री भगवान् की अवतार ग्रहणादि जो लीलाएँ हैं, वे सब उनकी अचिन्त्य इच्छा-शक्ति से प्रकटित हुआ करती हैं, फिर भी स्थूल दृष्टि से जैसे पृथ्वी के भार हरण-आदि को श्री भगवान् के अवतार का कारण कह दिया जाता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मों को भक्ति प्राप्ति का द्वार या उपाय कहा जाता है। इस में भी कोई हानि नहीं है।

श्रीमद्भागवत (११-१२-६) में यह स्पष्ट कहा गया है कि यत्नशील व्यक्ति भी योग, सांख्य, ज्ञान, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, शास्त्र व्याख्या, वेदाध्ययन तथा संन्यास-आदि के द्वारा भगवद् भक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

विश्वोल्लासिनी टीका— श्री भगवान् स्वेच्छामय हैं, अपनी इच्छा से अवतार धारण कर अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, फिर भी जैसे कहीं कहीं शास्त्रों में उनके अवतार का कारण पृथ्वी का भारहरण, धर्मसंस्थापन आदि कहा गया है, उसी प्रकार कहीं कहीं शास्त्रों में निष्काम कर्मों के पालन करने से भक्ति भी प्राप्त होती है— ऐसा उल्लेख है। परन्तु स्थूल दृष्टि से ऐसा कहा गया है ऐसा कहने में कोई क्षति भी नहीं है। श्री भगवान् की भक्ति तो स्वच्छन्द रूप से स्वतः प्रकाशित होती है—जैसा कि पहले कहा जा चुका है। दान-व्रतादि निष्काम कर्मों की बात तो दूर रही, योग, ज्ञान आदि से भी भक्ति की प्राप्ति नहीं होती ये सब भक्ति का कारण नहीं हो सकते— इस सम्बन्ध में श्री भागवत का श्लोक भी ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। फिर भी सूक्ष्म विचार हेतु श्री भागवत का एक और श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं, जिसमें दान-व्रतादि को भक्ति का साधन कहा गया है—

इत्यादिना दान व्रतादिनां स्पष्टमेव हेतुत्वखण्डनेऽपि

दानव्रततपोहोम-जपस्वाध्याय-संयमैः ।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥

“ इति यद्हेतुत्वं श्रूयते तत् खलु जानाङ्गभूतायाः सात्त्विक्या एव भक्तेन तु निर्गुणायाः प्रेमाङ्गभूतायाः । केचित् तु दानं विष्णुबैष्णवसम्प्रदानक व्रतान्येकादश्यादीनि तपस्तत्प्राप्तिहेतुको भोगादित्याग इति साधनभक्त्यङ्गान्ये-वाहुः । तत् साध्यत्वे भक्तेः “ भक्त्या सञ्जातया भक्त्या ” इतिवत् निहेतुत्वमेव सिद्धमिति सर्वे समञ्जसम् ॥ ३ ॥

भावार्थ— भगवद्भक्ति के उदय होने में दान-व्रतादि के कारणत्व का स्पष्ट खण्डन होते हुए भी, श्री भागवत में दूसरे स्थान पर आया है कि दान-व्रत, तपस्या, यज्ञ, जप, वेदाध्ययन, एवं संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) तथा अन्याय अनेक

माधुर्य कादम्बिनी

[२१]

प्रकार के कल्याणजनक कर्मों द्वारा श्री कृष्णभक्ति साधित होती है। ग्रन्थकार का कहना है कि इस प्रकार के वचनों द्वारा दान-व्रतादिक को जिस भक्ति का हेतु कहा जाता है, निश्चय ही वह ज्ञानाङ्ग-भूता सात्विका भक्ति है, प्रेमाङ्गभूता निर्गुणा भक्ति नहीं है।

कोई इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ दान-शब्द से विष्णु एवं वैष्णवों के लिए दिये हुए दान से तात्पर्य है, और व्रत-शब्द से भक्ति-अङ्ग एकादशी आदि व्रत अभिप्रेत हैं, तथा तपस्या-शब्द से भगवत्-प्राप्ति के लिए भोगादिका त्याग ही समझना चाहिये। इस प्रकार इन को वे साधन-भक्ति का अङ्ग मानते हैं। श्री चक्रवर्तीपाद कहते हैं ऐसा मानने पर भी तो भक्ति-अङ्गों द्वारा भक्ति साधित होती है—भक्ति के द्वारा भक्ति उदित होने से अर्थात् भक्ति का हेतु भक्ति होने से फिर भी तो भक्ति अहेतुकी ही सिद्ध होती है। सब मतों का इसी में ही सामञ्जस्य है।

विश्वोल्लासिनी टीका— शास्त्रों में दोनों प्रकार के वचन दिखाई देते हैं, एक तो यह है कि दान, व्रत, तप, यज्ञ, योग, सांख्य एवं वेदाध्ययनादि द्वारा यत्न करने पर भी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरे यह कि दान-व्रत आदि अनेक प्रकारके कल्याणजनक साधनों से भक्ति साधित होती है। ये दोनों वचन ही संगत हैं। पहले पक्ष में प्रेम-भक्ति को लक्ष्य कर के कहा गया है—कि दान-व्रतादि से यत्न करने पर भी भक्ति अर्थात् प्रेम-भक्ति, जिस में अपने सुख की कामना नहीं रहती, प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरी जगह इन साधनों द्वारा जिस भक्ति की बात कही गई है, वह है कर्म-ज्ञान-मिश्रा भक्ति, प्रेम-भक्ति नहीं। कर्म-ज्ञान मिश्रा भक्ति वाले कर्मों और ज्ञानी लोग यह जानते हैं कि भक्ति के बिना कर्म और ज्ञान अपना फल प्रदान करने में असमर्थ हैं, अतः वे कर्म और ज्ञान का फल प्राप्त करने के लिए भक्ति का सहारा लेते हैं—उनका लक्ष्य अपने सुख पर ही रहता है। श्री भगवान् की सेवा या उनकी प्रीति विधान करने पर नहीं। प्रेमाङ्गभूता ही निर्गुणा भक्ति है, उसमें तो साधक की मनोगति निरविच्छिन्न रूप से श्री भगवान् में रहती है, जैसे गंगा की धारा निरन्तर समुद्र में प्रवेश करती है। ऐसे भक्त केवल श्रीभगवान् की चरण सेवा चाहते हैं, श्रीभगवान् द्वारा चारों प्रकार की मुक्ति देने पर भी ग्रहण नहीं करते, दान-व्रतादि के तुच्छ फलों की तो बात ही क्या है? अतः उस प्रकार की भक्ति कर्म-ज्ञान मिश्रा-भक्ति ही है और उपर्युक्त साधनों का अर्थात् दान-व्रतादि का अनुष्ठान करने से उस की साधना की जाती है। वास्तव में वह स्वरूप-सिद्धा भक्ति नहीं है, बल्कि आरोप-सिद्धा भक्ति है, इसलिए श्री चक्रवर्तीपाद ने कहा है कि दान-व्रतादि से जो भक्ति-प्राप्त होती है वह ज्ञानाङ्गभूता भक्ति ही है, प्रेमाङ्गभूता भक्ति नहीं।

कई लोगों के मतानुसार यदि दान-व्रतादि को साधन-भक्ति का अङ्ग भी मान लिया जाए तो भी भक्ति का आविर्भाव भक्ति से ही सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति से ही भक्ति उदित होती है, यही निष्कर्ष निकलता है। जिससे भक्ति की स्वप्रकाशता ही सिद्ध होती है जो ग्रन्थकार का प्रतिपाद्य विषय है। तात्पर्य यह है कि भक्ति हर प्रकार से अन्य-निरपेक्ष है, स्वयं सिद्ध और स्वप्रकाश है—इसी में ही सर्वमतों का सामंजस्य है।

“श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो” (श्री भा० १०-१४-४) “को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः” (श्री भा० १-५-१७) इति, “पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः (श्री भा० १०-१४-५) इत्यादिभ्यो ज्ञानकर्मयोगादीनां प्रतिस्वफलसिद्धयं भक्तिमवश्यमपेक्षमाणानामिव भक्तेः स्वीयफलप्रेमसिद्धयं स्वप्नेऽपि न तत्तत् सापेक्षत्वं, प्रत्युत “न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयोभवेदिह” इति “धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् माम् भजेत् स च सत्तम” इत्यादिभ्यस्तस्याः सर्वथानन्यापेक्षित्वं किम् वक्तव्यं तेषामेव ज्ञानकर्मयोगादीनां प्रतिस्वफलेषु फलेष्वपि कदाचिदात्मना सादृश्यमानेषु न तत् तद् गन्धापेक्षत्वमपि यदुक्तम्—

“यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽजसा” इति। तां विना तु तेषाम्—

“भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जतस्तपः।

अप्राणस्येव देहस्य मंडनं लोकरञ्जनम् ॥”

इत्यादेर्वैफल्यार्थेव स्यादिति। तस्याः परममहत्त्या अधीनत्वं तेषां संप्राणैवास्ताम् अपि तु कर्मयोगस्य कालदेशपात्रद्रव्यानुष्ठानशुद्ध्याद्यपेक्षा च तत्तत्समृतिप्रसिद्धैव।

भावार्थ— “श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो” एवं “को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः” तथा पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः— इत्यादि शास्त्र-वचनों से पता लगता है कि ज्ञान, कर्म एवं योगादि को अपना फल प्राप्त कराने के लिए भक्ति की निश्चय ही अपेक्षा रहती है, परन्तु भक्ति को अपने फल—प्रेम को प्रदान करने में स्वप्न में अर्थात् कभी किसी अवस्था में भी ज्ञान, कर्म, योगादि की अपेक्षा नहीं है, बल्कि केवल ज्ञान एवं केवल वैराग्य से भक्तिपथ में कुछ भी मंगल सिद्ध नहीं होता।” श्री भगवान् ने कहा है, “जो समस्त धर्मों का परित्याग करके मेरा भजन करता है, वही श्रेष्ठ साधु है।

इत्यादि वचनां से भक्ति को अन्य-निरपेक्षता ही सिद्ध होती है, यह तो क्या कहना, प्रत्युत ज्ञान, कर्म योगादि को अपने फल प्रदान करने में भक्ति का सहारा लेना पड़ता है और भक्ति को उनका फल प्रदान करने में भी इन में से किसी की गन्ध मात्र भी सहायता नहीं लेनी पड़ती। इसलिये श्री भगवान् ने कहा

है कि ' यज्ञादि कर्मों द्वारा, तपस्या द्वारा एवं ज्ञान-वैराग्य द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वह सब फल मेरा भक्त भक्ति से ही अनायास प्राप्त कर लेता है । परन्तु भक्ति के बिना मनुष्य के जाति, शास्त्र-ज्ञान, जप तथा तपस्या आदि ऐसे ही निष्फल और व्यर्थ हैं, जैसे लोक-रंजन के लिए प्राणहोन शरीर को वेश-भूषा धराना । अर्थात् भक्ति के बिना मनुष्य के उच्च वंश में जन्म, शास्त्र-ज्ञान, जप तथादि समस्त निष्फल हैं । शरीर जैसे प्राणों के आधीन है, उसी प्रकार ज्ञान, जप-तप, योगादि भक्ति के ही आधीन हैं और फिर कर्मयोग अर्थात् याग-यज्ञादि के अनुष्ठान में काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, पवित्रता की आवश्यकता है—यह बात स्मृति शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है ।

विश्वोल्लासिनी टीका— भगवद्-भक्ति किसी की भी अपेक्षा नहीं रखती, वह स्वयं प्रकाश है और भक्ति अपना फल प्रेम प्रदान करने में भी किसी की अपेक्षा नहीं रखती । इस बात का ऊपर प्रतिपादन कर आए हैं । अब यह दिखाते हैं कि भक्ति को छोड़ कर अन्य जितने साधन हैं ज्ञान, कर्म, योग जप-तप आदि वे भक्ति के ही अधीन हैं । वे सब साधन अपना फल भी स्वतन्त्र रूप से प्रदान नहीं कर सकते । उन्हें अपना फल प्रदान करने के लिए भक्ति का सहारा लेना पड़ता है । भक्ति जहाँ अपना फल अर्थात् भगवत्प्रेम प्रदान करने में स्वतन्त्र है, वहाँ ज्ञान-कर्म-योगादि अन्य समस्त साधनों का फल भी प्रदान करने में परम स्वतन्त्र है । ज्ञान-कर्म-योगादि का फल भी भक्ति अनायास प्रदान कर देती है । उसे इन का भी फल प्रदान करने में इन साधनों की भी कुछ सहायता नहीं लेनी पड़ती । श्री ब्रह्माजी ने कहा है—

श्रेयः सृति भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलज्ञान लब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद यथा स्थूल तुषावघातिनाम् ॥

— श्री भा० १०-१४-४

हे भगवन् ! आपकी भक्ति ही समस्त मंगलों का मूल स्रोत है । जो लोग उस भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रम करते हैं और दुख उठाते हैं, केवल क्लेश ही क्लेश उनके हाथ पड़ता है, और कुछ भी नहीं, जैसे थोथी भूसी कूटने वाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं । अर्थात् भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रम करने वालों के हाथ कुछ भी नहीं पड़ता है ।

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुज हरेर्भजन्पक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र बब वागद्गममूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

— श्री भा० १-५-१७

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्मों का त्याग करके श्री भगवान् के चरण-कमलों का भजन सेवन करता है, भजन परिपक्व हो जाने पर तो कहना ही क्या है, यदि उससे पहले ही उसका भजन छूट जाये तो क्या कहें उसका कोई अहित हो सकता है ? अर्थात् कभी भी उसका अमंगल नहीं होता परन्तु जो श्री भगवान् का भजन-भक्ति न करके केवल अपने धर्मों का पालन करते हैं, उन्हें कौनसा लाभ प्राप्त होता है ? अर्थात् उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता । तात्पर्य यह है कि भगवद्-भक्ति का अनुष्ठान करते हुए यदि भगवान् की प्राप्ति से पहले ही किसी साधक का शरीर छूट जाता है अथवा रोगादि अनेक कारणों वश यदि उसका भजन छूट जाता है या पथ-भ्रष्ट हो जाता है, तो भी उसका कहीं भी कुछ भी अमंगल नहीं होता । परन्तु भगवत्-भक्ति को छोड़ कर जो व्यक्ति अग्यान्य अनेक प्रकार के धर्मों के पालन में, दान-व्रत, तपस्यादि या वर्णाश्रम धर्मों के पालन में ही लगे रहते हैं, उन्हें अन्त तक कुछ भी प्राप्त नहीं होता । क्षाणिक सुख अथवा स्वर्गादि लोकों के क्षण-भंगुर सुख भोगने के बाद वे फिर संसार के आवा-गमन को प्राप्त करते हैं । भगवत्-भक्ति के बिना उनका व्रत स्वधर्म पालनादि व्यर्थ ही हो जाता है ।

भक्ति के बिना योग-कर्मादि की कुछ भी सार्थकता नहीं है इस को दिखाते हुए श्री ब्रह्मा जी कहते हैं—

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्म लब्धया ।

विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥

— श्री भा० १०-१४-५ ॥

हे अच्युत ! हे अनन्त ! इस लोक में पहले बहुत से योगी हो गए हैं । जब उन्हें योगादिक के द्वारा आप की प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आप के चरणों में समर्पित कर दिये । उन समर्पित कर्मों से तथा आप की लीला-कथा सुनने से उन्हें आप की भक्ति प्राप्त हुई, उस भक्ति से ही उन्हें फिर आपका अथवा भक्ति का स्वरूप ज्ञान प्राप्त हुआ और वे सुगमता से आप के परम पद को प्राप्त हुए ।

श्री ब्रह्मा जी ने जो पहले यह कहा कि भक्ति को त्याग कर जो केवल ज्ञानश्रम उठाते हैं, उनके हाथ केवल क्लेश ही पड़ता है, वे कहते हैं— यह केवल मुहं जबानी बात नहीं है, बल्कि पहले अनेक बार इस का अनुभव मैं कर चुका हूँ । बड़े बड़े योगीजन आपको प्राप्त नहीं कर पाते हैं । बल्कि समस्त लौकिक वैदिक कर्मों को आप के चरणों में समर्पण करने के बाद जब वे आप की लीला-कथा का श्रवण-कीर्तन करते हैं, तब उन्हें भक्ति की कृपा प्राप्त होती है । वे भक्ति को ही परम उत्कृष्ट गति या आपकी प्राप्ति का परम उपाय निश्चित करते हैं और फिर

उस भक्ति का ही अवलम्बन कर आपके धाम को प्राप्त करते हैं। योगीजन तो क्या मुक्त पुरुष भी आप की लीला-कथा का श्रवण कर आपके भजन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

सारांश यह है कि ज्ञान, योग-कर्मादि द्वारा उद्दिष्ट फल बिना भक्ति के कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। बल्कि उन सब का त्याग कर भक्ति का अवलम्बन लेने से ज्ञान-योगादि का फल अनायास प्राप्त हो जाता है, अधिकान्तु परम उत्कृष्ट पद अर्थात् श्री वैकुण्ठधाम अथवा प्रेम-भक्ति राज्य श्री गोलोकधाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

भक्ति ही समस्त साधनों का प्राण है। ज्ञान, योग एवं कर्मादि सब साधन भक्ति के बिना मृतक तुल्य हैं। अपना अपना फल देने में विल्कुल असमर्थ हैं। जहाँ जितना भी इन का कुछ फल प्राप्त होता है, वह भक्ति की सहायता से ही प्राप्त होता है। भक्ति इन सब का फलप्रदान करने में भी स्वतन्त्र है। वह योग का फल प्रदान करती है परन्तु बिना योग की सहायता के। वह ज्ञान का फल मुक्ति—सायुज्य तक भी प्रदान कर देती है परन्तु बिना ज्ञान के इत्यादि। भक्ति अपना फल-प्रेम प्रदान करने में किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखती। यही भक्ति की एक अनिवर्चनीय विशेषता है। परमस्वच्छन्दता एवं स्वयंप्रकाशता की पराकाष्ठा है। इसलिए श्री भगवान् स्वयं यह कहते हैं कि समस्त अभोष्ट फलों को मेरा भक्त मेरी भक्ति करने से प्राप्त कर लेता है, वह भी बिना किसी श्रम एवं यत्न के।

भक्ति में किसी काल, देश का नियम नहीं है, हर समय, हर अवस्था में हर स्थान पर भक्ति का अनुष्ठान हो सकता है। हर एक प्राणी भक्ति का अधिकारी है, इसमें नीच, ऊँच, वर्ण, आश्रम, जाति-कुल का कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं है। यहाँ तक कि पवित्रता अपवित्रता का भी कुछ विचार भक्ति अनुष्ठान में नहीं है। परन्तु अन्यान्य कर्म, योग एवं ज्ञानादि समस्त साधनों में देश, पात्र आदि का नियम है, विचार है। अब इस विषय को प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

अस्यास्तु न तथा—

“न देश-नियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।

नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामनि लुब्धकः॥”

किञ्चास्याः प्रसिद्धसापेक्षत्वमपि न।

“सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेतया वा,

भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥

इत्यादेः।

—पद्यावली

भावार्थ— भक्ति के बारे में कोई भी विधि विधान नहीं है। विष्णु धर्मोत्तर (क्षत्र-बन्धु-उपाख्यान) में कहा गया है कि हे लुब्धक ! इस श्री हरिनाम संकीर्तन में—भक्ति-अङ्ग अनुष्ठान में देश या स्थान का कोई नियम नहीं है। भक्ति-अङ्ग का अनुष्ठान श्री हरिनाम संकीर्तन इस जगह करो, उस जगह न करो—ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सबेरे नाम जप करो, रात को न करो इत्यादि इस प्रकार काल का भी कोई नियम नहीं है। भूँठे मुँह—अपवित्र अवस्था में भी भक्ति-अङ्ग का अनुष्ठान करना निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार अनेक शास्त्र वचनों से पता लगता है कि भक्ति साधन में देश, काल आदि का कुछ भी नियम नहीं है।

भक्ति के विषय में कोई भी प्रसिद्ध सापेक्षत्व नहीं है अर्थात् भक्ति अपनी सिद्धि के लिए कभी भी किसी की अपेक्षा नहीं रखती है। इसलिए कहा गया है—“हे भृगुवंश श्रेष्ठ ! श्रद्धा से अथवा अश्रद्धा से किसी बहाने से एक बार भी श्री कृष्णनाम उच्चारण किया जाए तो वह मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा करता है—भवसागर से पार कर देता है।

विश्वेत्लासिनी टीका— कर्म, योग, ज्ञानादिक साधनों के लिए देश-काल पात्र, पवित्रता आदि का नियम है। परन्तु भक्ति में इस प्रकार का कोई भी नियम नहीं है। भक्ति के सब प्राणी अधिकारी हैं। बाल, युवक, बृद्ध, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संन्यासी, वानप्रस्थ, गृहस्थ, ब्रह्मचारी सब ही भक्ति करते हैं, कर सकते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी भक्ति करते हैं। खाते—पीते, सोते जागते, चलते फिरते, बोलते-हँसते हर अवस्था में भक्ति का अनुष्ठान किया जा सकता है इस प्रकार सब तरह से अन्य निरपेक्ष भक्ति के अनुष्ठान का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार महोदय ने श्री नाम-संकीर्तन के अङ्ग सम्बन्धी प्रमाणों का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि भक्ति के चौंसठ अङ्गों में नव विधा भक्ति ही श्रेष्ठ है। नव विधा भक्ति में भी कीर्तन-श्री नाम-संकीर्तन सर्व श्रेष्ठ है, बल्कि “नव विधा भक्ति पूर्ण हय नाम हैते।—नव विधा भक्ति भगवत् नाम से ही पूर्णता लाभ करती है। अतः भक्ति के समस्त अङ्गों का प्राण है श्रीनाम-संकीर्तन। इसलिए भक्ति सर्वांग पूर्णता विधायक श्रीनाम संकीर्तन अङ्ग में ही समस्त भक्ति अङ्गों का समावेश शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है। अतः यहाँ श्रीनाम-संकीर्तन का उदाहरण ही पर्याप्त है।

कर्मयोगस्य तथाभूतत्वे महानर्थकारित्वमेव । “मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् सवागवज्रो यजमानं हि नास्ति इत्यादिः।

एवं ज्ञानस्यान्तः करणशुद्धिर्धोनेत्वं प्रसिद्धमेव । निष्फलकर्मयोगेनान्तः करणस्य शुद्धौ निष्पादितायामेव तत्र तस्य प्रवेशात् कर्माधोनेत्वञ्च । तदधिकृतस्य देवान् दुराचारत्वलवेऽपि “स वै वान्ताश्यपत्रपः इति निन्दा । कंसहिरण्यकशिपु-पुरावणादीनां तत्तत् प्रकरणदृष्ट्या ज्ञानाभ्यासवतामपि न तत्वेन व्यपदेशलवोऽपि ।

भावाथ— कर्म योग में देश-कालादि का नियम है, विधि-निषेध है । उस में त्रुटि हो जाने पर महान् अनर्थ पैदा हो जाता है । शास्त्र में कहा गया है कि— “यज्ञादि में किसी मन्त्र के उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित—स्वर उच्चारण में भ्रम या भूल हो जाने अथवा कोई वर्ण चूक जाने पर या ठीक तौर पर उसका प्रयोग न होने पर वह मन्त्र—वाग् रूप वज्र यजमान—यज्ञ करने वाले का ही सर्व नाश कर देता है ।

इस प्रकार ज्ञान के साधन भी अन्तरिन्द्रियों—मन, बुद्धि एवं चित्त की शुद्धि के अधीन हैं । फल को कामना रहित कर्म योग के अनुष्ठान से ही अन्तरिन्द्रियों की शुद्धि होती है । उसके बाद अन्तःकरण में ज्ञान का विकास होता है । इसलिए ज्ञान भी फल कामना रहित कर्म योग के अधीन हो जाता है । ज्ञान योग का कोई साधक देववश थोड़े से भी दुराचार में प्रवृत्त हो जाए, तब उसे निर्लज्ज वमन-भोजी कहकर शास्त्र उसकी निन्दा करता है । कंस, हिरण्यकशिपु तथा रावणादि इस प्रकरण की दृष्टि से ज्ञान वेत्ता होते हुए भी उनकी सब जगह निन्दा ही होती है । ज्ञान-अभ्यास करने वालों का तत्त्वतः कोई भी किञ्चित् असदाचार साधु-सम्मत नहीं है—ऐसा निश्चित होता है ।

विश्वोत्सासिनी टीका— भक्ति-अङ्ग अनुष्ठान में कोई भी विधि-निषेध का बन्धन नहीं है । विघ्न एवं त्रुटि होने पर भी साधक का कभी भी अमंगल नहीं होता । परन्तु कर्मयोग में थोड़ी से त्रुटि हो जाने पर साधक का महान् अनर्थ एवं अमंगल हो जाता है, श्री भागवत में प्रसङ्ग आया है—इन्द्र ने विश्वरूप का वध कर दिया । उसके पिता त्वष्टा ऋषि ने बदला लेने के लिए इन्द्र के विनाशहित दैत्यों की बल वृद्धि के लिए यज्ञ आरम्भ किया, इन्द्र शत्रु तुम्हारी वृद्धि हो । इस प्रकार कह कर आहूति देने लगे । इन्द्र-शत्रु के उच्चारण में स्वर में त्रुटि आ गई । उस यज्ञ का फल यह हुआ कि इन्द्र-शत्रु बल वृद्धि की वजाए इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर का नाश हो गया । यज्ञ का फल विपरीत होकर यजमान का ही अहित हुआ ।

ज्ञान के साधकों के विषय में भी यही बात है । मन-बुद्धि चित्त की शुद्धता होने पर ज्ञान विकसित होता है । इनकी शुद्धि के लिए निष्काम कर्म योग का सहारा लेना पड़ता है । और यदि पूर्व संस्कार वश— देवयोग से वे पथ भ्रष्ट हो गए तो वे निन्दनीय हो जाते हैं । और शास्त्र उन्हें वमन-भोजी (उल्टी को खाने वाला) कहकर पुकारता है । जैसे आजकल के ज्ञान-पथ अवलम्बन लेकर संन्यास लेने वाले । घर परिवार छोड़ कर भाग आते हैं फिर बड़े बड़े आश्रम

चले-चेलियाँ रखकर अनेक प्रकार के दुष्कर्म संग्रह करते फिरते हैं—अन्तरिन्द्रिय शुद्ध न होने से ज्ञान तो विकसित होता नहीं, दुराचार में और ग्रस्त हो जाते हैं । ऐसे पथ-भ्रष्ट ज्ञानी की रक्षा करने वाला भी तो कोई नहीं है । भक्त की पद-पद पर रक्षा करने वाले श्री भगवान् उसके सिर पर रहते हैं, जो भक्तवत्सल हैं, अपार कृष्णामय हैं । ज्ञानी तो स्वयं ब्रह्म बनता है, अतः बन्दरो के बच्चे की तरह अपने आप माँ को पकड़े रहे तो ठीक, यदि हाथ छूटा तो चक्काचूर । परन्तु भक्त तो बिल्ली के बच्चे की तरह हर प्रकार आत्म समर्पण कर माँ पर अपनी रक्षा का भार छोड़ देता है । माँ ही उसे सम्भालती रहती है,

कंस, हिरण्यकशिपु तथा रावण, देखा जाए तो परम ज्ञान-वान थे, तत्त्व-वेत्ता थे, रावण ने तो वेदों का भाष्य लिखा है । किन्तु उनके आचरण दुराचार से भरपूर थे और आज तक निन्दा के पात्र बने हुए हैं, विशेषतः भक्ति विरोधी होने से उन्हें दैत्य नाम से पुकारा जाता है ।

सारांश यह है कि कर्म, ज्ञानादि के अनुष्ठानों में थोड़ी सी त्रुटि एवं दुराचार आ जाने से साधक का लोक-परलोक बिगड़ जाता है, यहाँ तक सर्व—नाश हो जाता है । भक्ति मार्ग में काम-क्रोध, दुराचार आदि दोषों के हृदय में रहते हुए भी परमा भक्ति अर्थात् स्वतन्त्रा एवं सर्व गुणातीता भक्ति हृदय में प्रवेश करते ही, उसकी कृपा से कामादि सब प्रकार के दोष मिट जाते हैं । इस बात का परवर्ती प्रसंग में वर्णन करते हैं । यह ध्यान रहे कि इस आलोचना का तात्पर्य यह नहीं है कि भक्ति के साधक दुराचार से बचने की चेष्टा ही न करें अथवा दुराचारी होने में कोई डर नहीं है । भक्ति भी करते रहें, दुराचार भी । मन्तव्य यह है कि दुराचारी मनुष्य को भी भक्ति अङ्गों के अनुष्ठान में अग्रसर होना चाहिये, भक्ति-कृपा से उसका सब दुराचार मिट जाएगा और वह भगवत् प्राप्ति कर सकेगा ।

भक्तेस्तु “विक्रीडितं ब्रजवधूमिः” इत्यादौ—

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(भा० १०-३३-४०)

इत्यत्र ‘कत्वा’ प्रत्ययेन हृद्रोगवत्येवाधिकारिणि परमाया अपि तस्याः प्रथममेव प्रवेशस्ततस्तथैव परमस्वतन्त्रया कामादीनामपगमश्च । तेषां कदाचित् सत्त्वेऽपि—“ अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् ” इति “वाध्यमानोऽपि मद्भक्त” इत्यादिभ्यश्च तद्वतां न क्वापि शास्त्रेषु निन्दालेशोऽपि । अजामिलस्य भक्तत्वं विष्णु-दूतैर्निर्दिष्टम् । संकेतभगवन्नाम पुत्रस्नेहानुषङ्गजमित्यादिदृष्ट्या तदाभासवता-मप्यजामिलादीनां भक्तत्वं सर्वैः सङ्गीतमेव । तदेवं कर्मयोगादीनामन्तःकरणशुद्धि-व्यदेशशुद्ध्यादयः साधकास्तद्वैगुण्यादयो बाधका भक्तिस्तु प्राणदायिन्येवेति । सर्वथा पारतन्त्र्यमेव तेषाम् । न हि स्वतन्त्राः केनापि साध्यन्ते वाध्यन्ते वेति ।

भाषार्थ—“संबन्ध्यापक भगवान् श्री कृष्ण को ब्रजवधूओं के साथ इस रास लीला को जो श्रद्धा सहित सुनता है, वर्णन करता है, वह धीरे तत्त्ववेत्ता श्रीभगवान् की पराभक्ति को प्राप्त कर और अति शीघ्र हृद-रोग रूप काम से मुक्त हो जाता है। इस श्लोक में ‘प्रतिलम्ब्य’ क्त्वा प्रत्यान्त अर्धसमापिका क्रिया है। इस का तात्पर्य यह है कि हृदरोग-कामादि के रहते हुए भी रासक्रीड़ा श्रवण या वर्णन करने का अधिकार है। उस व्यक्ति का भक्ति में प्रथम प्रवेश होकर फिर उसी स्वतन्त्र भक्ति के द्वारा ही उसके कामादि रोग-दोषों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। श्री भगवान् कहते हैं—कामादि दोषों के रहते हुए भी अनन्य भाव से जो सुदुराचारी है और मेरा भजन करता है, उसे साधु—भक्त ही मानना चाहिये।” “मेरा भक्त कामादि से बाधित-पीड़ित होते हुए भी मेरी भक्ति के प्रभाव से विषयों से पराजित नहीं होता।”—इन सब प्रमाण वचनों से स्पष्ट है कि कामादि दोष युक्त व्यक्तियों का भी भक्ति में प्रवेश है और उनकी शास्त्रों में कहीं जरा भी निन्दा नहीं की गई है। अजामिल का भक्तत्व विष्णुदूतों ने निरूपण किया है। पुत्र के स्नेह वश होकर पुत्र के नाम के संकेत या बहाने से उसने श्री नारायण नाम उच्चारण किया था—

इस प्रकार शास्त्र वचनों को देखकर भगवन्नाम के आभास मात्र का उच्चारण करने से अजामिलादि के भक्तत्व की कथा सब ही सम्यक् रूप से गान करते हैं।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि अन्तःकरण-शुद्धि, द्रव्य शुद्धि तथा देश—शुद्धि आदि कर्म-योगादि के साधक हैं और कोई त्रुटि या साधक के दोष-दुराचारादि कर्म-योगादि के बाधक हैं। फिर भक्ति के बिना कभी भी वे फल प्रदान नहीं कर सकते। बल्कि भक्ति ही उनको प्राण देने वाली है। इस तरह कर्म-योग-ज्ञानादि हर प्रकार से भक्ति के परतन्त्र हैं जो स्वतन्त्र वस्तुएं होती हैं, वे न तो किसी से साधित होती हैं, और न किसी से बाधित होती हैं।

विश्वोल्लासिनी टीका—कर्म-योग-ज्ञान के साधक या अधिकारी जहाँ कामादि दोष या दुराचारों के आ जाने से हर प्रकार से निन्दित हो जाते हैं अथवा उनका विनाश हो जाता है, वहाँ भक्ति मार्ग में यह सम्भावना कभी नहीं है, बल्कि कामादि दोष रहते हुए एक साधक भक्ति का अधिकारी है और भक्ति-अङ्गों का पालन करते ही उसमें परम स्वतन्त्रा भक्ति आविर्भूत हो उठती है और अति शीघ्र वह समस्त दोषों से विनिर्मुक्त हो जाता है।

भक्ति के उदय में सर्व प्रथम अङ्ग है श्रद्धा और फिर रति। श्रद्धा एवं रति का उदय होता है—महत् पुरुषों के साथ रहकर उनके मुख से श्री भगवान् की लीला-कथा सुनने से। श्री भगवान् की समस्त रसमयी लीलाओं का सार है रास-लीला। उस दिव्यतम रासलीला के वर्णन करने के बाद उसकी फलश्रुति अर्थात्

उस लीला के-सुनने-वर्णन करने के फल को बताते हुए श्री शुकदेव जी ने कहा है— श्री भा० १०-३३-४०

विक्रीडितं ब्रजवधूमिरिदं च विष्णो श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयादथ वर्णयेदयः।

भक्ति परां भगवति प्रतिलम्ब्य कामं हृदरोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इह श्लोक का भावार्थ यही है कि श्री भगवान् की ब्रजगोपियों के सहित रासलीला तथा अन्य लीलाओं के निरन्तर श्रद्धा युक्त हाकर श्रवण-कीर्तन से पराभक्ति की प्राप्ति होती है एवं शीघ्र ही हृदरोग कामादि विकार-दोष दूर हो जाते हैं। इससे कामादि विकारयुक्त साधकों के पक्ष में भी श्रवण-कीर्तनादि अङ्गों के अनुष्ठान की बात कही गई है अर्थात् भक्ति के साधन में अन्तःकरण शुद्धि आदि की कोई शर्त नहीं है और न ही भक्ति इस बात की अपेक्षा रखती है। भक्ति परमस्वतन्त्र है। अन्य कोई विधि इसकी साधक नहीं है और न कोई निषेध इस का बाधक ही है। जिस साधन का कोई साधक अर्थात् उसको सिद्धि प्रदान करने वाला है, और जिसका कोई बाधक है अर्थात् बाधा डाल कर उसे सिद्ध नहीं होने देता, तो वह साधन कभी स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। कर्म-योग-ज्ञानादि साधनों के अन्तःकरण शुद्धि आदि साधक है, इनके बिना वे सिद्ध नहीं होते और कामादि-दोष इनके बाधक हैं—साधक को पथ भ्रष्ट कर विनष्ट कर देते हैं। अतः भक्ति को छोड़ कर अन्य सब साधनों को परतन्त्र कहा गया है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि क्या सर्वोत्कृष्ट निखिल रसमयी महारास लीला के श्रवण-वर्णन, चिन्तन, स्मरण आदि का केवल यही फल है कि हृदय के कामादि रूप रोग नष्ट हो जाते हैं? वास्तव में यह अर्थ गौण ही है। पराभक्ति में प्रवेश पाकर केवल कामादि दोषों का विनाश होना परम फल नहीं है, भक्ति के श्रवण कीर्तनादि अङ्गों के आचरण का यह तो आनुषङ्गिक फल है। श्री पाद सनातन गोस्वामि ने इस रहस्य को खोला है—लौकिक काम क्रीडावत् इस क्रीडा की कल्पना करने वालों के लिए प्रसङ्गानुसार ऐसे फल की कल्पना कर ली गई है, वरना महारास लीला तो दिव्य प्रेम परिपाक विलास विशेष है, जो अलौकिक है। उन्होंने लिखा है” जो ब्रजवधूओं के साथ श्री कृष्ण की इस प्रेमपरिपाक विलास विशेष रूप लीला का निरन्तर श्रवण एवं वर्णन करते हैं, उन में श्रद्धा का उद्गम होता है अथवा जो श्रद्धायुक्त होकर इसका श्रवण-वर्णन करते हैं, चिन्तन करते हैं (कामं) यथेष्ट अभिलषित भावनानुसार श्री भगवान् की (परां) प्रेमलक्षणा भक्ति को प्राप्त कर (हृदरोगं) मन की पीड़ा अर्थात् श्री कृष्ण अप्राप्ति रूप जो मन की महान दुस्सह पीड़ा है, उससे वे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् श्री कृष्ण चरणा-रविन्द की सेवा को ही निश्चय प्राप्त करते हैं। अस्तु।

श्रीभगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—श्री गीता ६-३०

अपि चेत् सूरदुराचारो भजते मामनन्यमाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

जो व्यक्ति अनन्य भजन परायण होकर मेरा भजन करता है, अर्थात् मुझ को छोड़ कर किसी और देवी-देवता का भजन नहीं करता, मेरी भक्ति को छोड़ कर ज्ञान-कर्म-योगादि का अनुष्ठान नहीं करता, मुझे छोड़ कर और कुछ नहीं चाहता—ऐसा व्यक्ति यदि परहिंसा, परदार-परद्रव्यादि ग्रहण रूप दुराचार परायण है, (अनन्य भजन परायण होने पर इन दुराचारों का रहना यद्यपि नितान्त असम्भव है, तो भी यदि ऐसा कोई व्यक्ति देखने में आवे तो श्री भगवान् कहते हैं) उसे साधु-भक्त ही मान लेना चाहिये, ऐसी मेरी आज्ञा है। यदि कहा जाए वह व्यक्ति भजन करता है इसलिए किसी अंश में वह साधु है और दुराचार अंश में वह असाधु है, तो यह बात भी नहीं है—‘एव’ शब्द से यही तात्पर्य है कि वह साधु ही है—पूर्वांश में उसे साधु ही मानना चाहिये। बात यह है न, श्री भगवान् की भक्तों में स्वाभाविक आसक्ति है, दुराचार विद्यमान रहने पर भी भक्त में श्री भगवान् की आसक्ति दूर नहीं होती। इसलिये वे उसे साधु मानने की ही विशेष आज्ञा करते हैं और भी एक कारण श्रीभगवान् उसके साधु मानने का प्रस्तुत करते हैं कि वह मेरी भक्ति में सम्यक् प्रकार से निश्चित बुद्धि वाला है अर्थात् उसने यह निश्चय कर रखा है कि अपने दुस्त्यज पापों के कारण मुझे नरक में जाना पड़े, तो भी ऐकान्तिक श्री कृष्ण-भजन को मैं किसी तरह भी कभी त्याग नहीं करूँगा।

तात्पर्य यह है कि भक्ति मार्ग के साधक में दुराचार आदि रहते हुए भी श्री भगवान् उसे अपना भक्त समझते हैं। श्री गीता के ६-३१ में उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है—अनन्य भक्ति करने वाला दुराचारी व्यक्ति अति शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है और उसका कभी नाश नहीं होता।

इस आलोचना का यह तात्पर्य न समझ लिया जाए कि भक्ति के साधन में दुराचारों को मिटाने की किसी चेष्टा की जरूरत नहीं है। अथवा साधक भक्ति भी करता रहे और निन्दनीय दुराचार भी। भक्ति साधक को निश्चित रूप से समस्त दुराचारों से बचना होगा, हर क्षण आत्म निरीक्षण करना होगा। संस्कारवश यदि कोई दुराचार बन जाता है, तो उस के लिए उसे अन्तःस्थल से पश्चात्ताप करना होगा, श्री भगवान् के चरणों में उस प्रकार के दुराचार पुनः न बन जाने की निरन्तर प्रार्थना करनी होगी। दुराचारों से बचने का नाम सदाचार है जो भक्ति का परमावश्यक अंग है। यहाँ केवल इतना प्रतिपाद्य है कि दुराचार रहते हुए भी साधक भक्ति का अधिकारी है और अनन्य भक्ति में दुराचार बाधक नहीं है, उन्हें श्री भगवान् अति शीघ्र दूर कर देते हैं और ज्ञानी-योगी आदि साधकों की तरह भक्ति परायण दुराचारी व्यक्ति भी निन्दनीय नहीं है, बल्कि श्री भगवान् उसे भी साधु मानने की आज्ञा करते हैं।

किञ्च ज्ञानैकसाधनमाश्रयं भवतेरित्यज्ञेरेवोच्यते यतो ज्ञानसाध्यान्मोक्षादपि तस्या परमात्कथं एवालोच्यते। मुक्तिं ददाति कहिंचित् स्म न भक्तियोगम्” (श्रीभा० ५-६-८) इति ।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायणः ।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥

(श्रीभा० ६-१४-५) इत्यादिभ्यः ।

कई एक आज्ञानी पुरुष ही यह बात कहते हैं कि एक मात्र ज्ञान ही भक्तिका साधक है। किन्तु ज्ञान का साध्य जो मुक्ति है, उससे भी भक्तिका परम उत्कर्ष शास्त्रों में आलोचित हुआ है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि “श्रीभगवान् भले ही मुक्ति देते हैं, परन्तु भक्तियोग प्रदान नहीं करते”। और भी कहा गया है कि “हे महामुने! जीवन्मुक्ति एवं सायुज्यमुक्ति रूप सिद्धि के निकट पहुँचने वाले कोटि व्यक्तियों में भी श्रीनारायण का सेवा-परायण प्रशान्त-चित्त एक भक्त मिलना बड़ा कठिन है। इस प्रकार के अनेक वचन शास्त्रों में मिलते हैं, जिन से ज्ञान से भक्ति का उत्कर्ष, बल्कि ज्ञान के परम फल मुक्ति से भी भक्ति का परम उत्कर्ष प्रतिपादित होता है।

विश्वोत्सासिनी टीका—भक्ति-साधन में सब का समान अधिकार है, तथा दुराचारादि दोष भी भक्ति की प्रवृत्ति में बाधक नहीं हैं—इस बात का विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन करने के बाद अब चक्रवर्तीपाद ज्ञान-साधन से तथा ज्ञान के साध्य या परमफल मुक्ति से भी भक्ति का परम उत्कर्ष दिखाते हैं:—

कई लोगों का मत है कि केवल ज्ञान के द्वारा ही भक्ति को प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान-शब्द से ज्ञान के तीन अङ्ग समझे जा सकते हैं—एक तो तत्-पदार्थ का ज्ञान अर्थात् परब्रह्म या भगवत् तत्त्व का ज्ञान। २. त्वं-पदार्थ अर्थात् जीव के स्वरूप का ज्ञान। ३. तीसरा है, परब्रह्म और जीव के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान। ज्ञान के इन तीन अङ्गों के अनुसार परब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान में यह आता है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, सविशेष, साकार, सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य

मण्डित द्विभुज नराकृति धारण कर नित्य चिन्मय घाम में अपने परिकरों के साथ अनन्तानन्त लीलाओं के माध्यम से सर्वविधि रसास्वादन करते हैं। रसिक शेषर हैं और अनन्त कल्याणगुणगणों से अलंकृत हैं। वे इस प्रकार तत्-पदार्थ का शास्त्र प्रतिपादित अति संक्षिप्त ज्ञान या परिचय है यह।

ज्ञान के दूसरे अङ्ग में जीव के स्वरूप का ज्ञान होना अभिप्रेत है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था-शक्ति है, उनका विभिन्नांश है। नित्य है एवं इसका नित्य पृथक् अस्तित्व है, जीव में कर्तृत्व है, एवं अणु स्वातन्त्र्य है—इत्यादि।

ज्ञान के तीसरे अङ्ग में आता है, परब्रह्म के साथ जीव के सम्बन्ध का ज्ञान; उपर्युक्त दोनों अङ्गों के अनुरूप परब्रह्म के साथ जीव का सम्बन्ध अंशी-अंश, शक्तिमान तथा शक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है। अंश अपने अंशों की, शक्ति शक्तिमान की सदा सेवा करते हैं, अतः जीव का भी स्वरूपानुबन्धी-धर्म परब्रह्म की सेवा होने से जीव का परब्रह्म से सेव्य-सेवक सम्बन्ध है। परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण सेव्य—स्वामी हैं और जीव उनका सेवक—नित्य दास है।

इन तीनों अङ्गों का इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होना भक्ति के प्रवेश से पहले आवश्यक सा प्रतीत होता है और यह ज्ञान भक्ति में प्रवृत्ति कराने में सहायक भी कहा जा सकता है। क्योंकि जीव को अपना स्वरूप जाने बिना कर्तव्य का पता नहीं चल सकता। परब्रह्म के स्वरूप जाने बिना साध्य या उपास्य का निर्णय नहीं हो सकता और सम्बन्ध तत्त्व जाने बिना उपास्य के आकर्षत्व-महत्त्व का परिचय नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में यह ज्ञान भक्तिमूलक है, भक्ति का परिचायक है। भक्ति में प्रवेश के बाद इसकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

परन्तु दूसरे पक्ष में यानि मायावादियों के मत में ज्ञान का सर्वथा विपरीत स्वरूप प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् वे परब्रह्म को निर्विशेष, निराकार एवं निगुण कहते हैं, जीव-जगत् की कोई भी सत्ता न मान कर एक मात्र ब्रह्म की व्याप्ति मानते हैं, यहां ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म के बिना जब दूसरी वस्तु ही कोई नहीं तो सम्बन्ध कैसा? जीव को भी ब्रह्म मानते हैं—इस प्रकार का जो जीव-ब्रह्मार्थ ज्ञान है, उससे सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति होती है। जीव-ब्रह्म में लीन हो जाता है। यहां जीव एवं ब्रह्म की एकता मानी गई है। ऐसे ज्ञान को जो भक्ति का साधक कहते हैं, वे शास्त्र रहस्य को न जानने वाले—अनभिज्ञ हैं—क्योंकि यह ज्ञान भक्ति-विरोधी है।

जीव-ब्रह्मार्थ ज्ञान तथा उससे प्राप्त होने वाली मुक्ति में तथा भक्ति-मार्ग और भक्ति-साधन से प्राप्त होने वाली भगवान् की प्रीतिपूर्ण सेवा-प्राप्ति में जमीन-आकाश का अन्तर है। ये दोनों मार्ग, दोनों के साधन तथा दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले साध्य विल्कुल भिन्न हैं, इनका आपस में कोई मेल-ताल नहीं है। श्रीमद्भागवत (१-६-१८) में श्रीशुकदेवजी ने कहा है—

राजन् पतिगुणरत्नं भवतां यदूनाः दैव प्रियः कुलपतिः स्व च किंकरो वः
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजता मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥

हे परीक्षित! भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवों के और यदुवंशियों के स्वामि, गुरु, इष्टदेव, सुहृद और कुलपति थे।—वे कभी कभी उनके आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। परन्तु श्रीभगवान्—ऐसे जनहितकारी होते हुए भी भजन करने वालों को मुक्ति दे देते हैं, किन्तु कभी-कभी भक्तियोग अर्थात् प्रेम-भक्ति दान नहीं करते।

इस श्लोक में श्रीशुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित जी को कहा है कि घनिष्ठ आत्मीयता की जितनी वैचित्री हो सकती है, उस समस्त वैचित्री में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों एवं यादवों के सामने आत्म-प्रकट किया था। पालनकर्ता, उपास्यदेव थे वे उनके, और मित्र तथा कुल-नियन्ता थे, यहां तक की आज्ञाकारी सेवक का कार्य भी वे पाण्डवों के लिए करते थे। इतने वे वशीभूत थे उनकी भक्ति के। किन्तु प्रेम-भक्ति वे सब को नहीं देते हैं। वे अपने भजनकारियों को सायुज्य मुक्ति दे देते हैं किन्तु प्रेमभक्ति हर एक को नहीं देते। अर्थात् किसीको दे भी देते हैं, और किसी को नहीं भी देते। सासङ्ग-भजन करते करते जब चित्त में मुक्ति और भुक्ति की वासना नष्ट हो जाती है, तब तो वे भजनकारी को प्रेमभक्ति दे देते हैं, किन्तु जब तक भुक्ति और भुक्ति की वासना बनी रहती है, और जब तक सासङ्ग-भजन नहीं बनता, तब तक वे प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते।

श्रीचैतन्यचरितामृत (१-८-१६) में श्री कृष्णदास कविराज ने कहा है—

कृष्ण यदि छूटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया।

कभु प्रेम-भक्ति ना देय राखे लुकाइया ॥

भक्त को अनेक प्रकार के भोग अर्थात् सन्तति-सम्पत्ति आदि और चारों प्रकार की भुक्ति देकर श्रीभगवान् यदि भक्त से छुटकारा पा सकें—भक्त यदि भोग और मोक्ष लेकर सन्तुष्ट हो जाये तो श्रीभगवान् फिर उसे प्रेम-भक्ति नहीं देते। बल्कि उस से प्रेमभक्ति छिपाकर रखते हैं। कारण यह है कि जब तक भक्त के हृदय में भोग और मोक्ष की वासना रहती है तब तक उसका हृदय प्रेम-भक्ति के आविर्भाव होने की योग्यता ही प्राप्त नहीं करता। वह हृदय प्रेम-भक्ति को धारण ही नहीं कर सकता।

भोग और मोक्ष दे देने पर तो श्रीभगवान् मौज में रहते हैं, परन्तु प्रेम-भक्ति देने पर बन्ध जाते हैं, भक्त के वशीभूत होकर रहना पड़ता है उन्हें। इसलिए वे भजनकारी को मुक्ति-भुक्ति तो सहज में दे देते हैं परन्तु अपनी प्रेम-भक्ति नहीं देते। इससे स्पष्ट है कि मोक्षसे भक्तिका परम उत्कर्ष है, अति महँगी वस्तु है भक्ति। जब मोक्ष से भी भक्ति का परम उत्कर्ष है, तब मोक्ष का साधन ज्ञान उस आशु-आदेया सुदुर्लभा भक्ति का साधक कैसे हो सकता है?—कभी भी नहीं हो सकता।

भक्ति की सुदुर्लभता समझकर—अनुभवकर राजा परीक्षित ने भी महामुनि श्रीशुकदेवजी की इस प्रकार की उक्ति का अनुसोदन किया है 'मुक्तानां'—श्लोक द्वारा, जिससे भक्ति का मुक्ति से बहुत बड़ा उत्कर्ष स्थापन होता है।

उक्त श्लोक में मुक्तानां—शब्द का अर्थ करते हुए श्रीजीवगोस्वामिपाद ने कहा है—“प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमानं शून्यानाम्” अर्थात् ज्ञानमार्ग के साधन के प्रभाव से प्राकृत शरीर में अवस्थित होते हुए भी जो देहादि के अभिमान से रहित हो चुके हैं; अर्थात् जीवन्मुक्त। “सिद्धानां” —शब्द का अर्थ लिखा है—“प्राप्तसालोक्यादीनाञ्च—जो व्यक्ति ज्ञान के साधन प्रभाव से जीवन् मुक्त होकर सिद्ध तो हो चुके हैं अर्थात् प्राकृत शरीर में रहते हुए भी देहादि के अभिमान से रहित होकर देह छूटने पर जो सालोक्य-सारूप्य-सायुज्यादि मुक्ति को प्राप्त करेंगे, या करने वाले हैं, ऐसे कोटि व्यक्तियों से श्रेष्ठ होने के कारण श्रीनारायण-सेवा-परायण प्रशान्त-चित्त भक्त का मिलना सदुल्लभ है।

यह बात याद रखने योग्य है कि ज्ञान-मार्ग के साधन करने वाले सब जीवन्-मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं करते हैं, कोई विरला ऐसा साधक होता है जो जीवन्-मुक्त अवस्था, देहादि के अभिमान से शून्य-अवस्था को प्राप्त करता है। फिर यह भी जरूरी नहीं कि समस्त जीवन्-मुक्त सिद्धावस्था को अर्थात् सायुज्यादि मुक्ति को प्राप्त करें। क्योंकि जीवन्-मुक्त भी कर्मवश पुनः माया के बन्धन में बंध जाते हैं। श्रीभगवान् के प्रति अपराध बन जाने से उनकी अचिन्त्य महाशक्ति माया उन्हें भी फिर बन्धन में डाल देती है—

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः ।

यद्यचिन्त्य माहशक्तौ भगवत्पराधिनाः ॥

इसलिये कहा गया है कि जहाँ कोटि व्यक्ति जीवन्मुक्त रहते हैं, उन में कोई एक सिद्ध (सायुज्यादि मुक्ति को निकट काल में प्राप्त करने वाला) पुरुष मिलता है और फिर जहाँ कोटि सिद्ध व्यक्ति रहते हैं, उन में श्रीकृष्ण की सेवा में रहने वाला कोई एक प्रशान्त-चित्त विरला भक्त मिलता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत में कविराज गोस्वामिपाद ने इसी बात को और भी स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। उन्होंने कहा यह ब्रह्माण्ड अनन्त कोटि जीवों से भरा रहता है। उसमें भी जीव दो प्रकार के हैं—स्थावर (जो चल-फिर नहीं सकते, वृक्षादि) और जङ्गम (जो चल फिर सकते हैं, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि)। ऐसी तिर्यक-जल-चर-स्थलचरादि चौरासी लाख योनियों में मनुष्य जाति की संख्या अति थोड़ी है। उस मनुष्य जाति में भी म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध एवं शबर आदि ऐसी जातियां हैं जो वेदों को नहीं मानती हैं। बाकी के जो वेद मानते हैं, उनमें आधे तो ऐसे मनुष्य हैं जो केवल मुँह से ही वेद-वेद कहना जानते हैं, परन्तु वेद की विधि अनुसार वे धर्मकर्मों का अनुष्ठान कुछ भी नहीं करते, बल्कि वेद-विरुद्ध पापाचरण करते हैं। बाकी के आधे लोगों में जो वेद धर्माचरण करने वाले हैं, उनमें बहुत लोगों की निष्ठा यज्ञादि कर्मों में है। यदि उनमें कोटि कर्म निष्ठ लोग हैं तो वहाँ कोई एक ज्ञानी होता है। जहाँ ज्ञान का साधन करने वाले कोटि मनुष्य हैं, उनमें कोई एक विरला व्यक्ति ही देहादि अभिमान-शून्य अवस्था और सिद्ध-अवस्था को प्राप्त करता है। जहाँ कोटि मुक्त व्यक्ति विद्यमान रहते हैं उनमें कोई एक विरला

कृष्ण-भक्त हुआ करता है; ऐसा अनुपात निर्धारण किया गया है। कोटि कृष्ण-भक्तों में भी वास्तविक कृष्ण-भक्त कोई एक विरला होता है, जो प्रशान्त-चित्त होता है अर्थात् श्रीकृष्ण और कृष्णसेवा-कामना को छोड़कर वह और कुछ भी नहीं चाहता। उसे ही श्रीकृष्ण-सेवा-परायण “प्रशान्त-चित्त भक्त” कहा गया है।

एतद् ब्रह्माण्डं भरि अनन्त जीवगण ।

चौरासीलक्ष योनिं करये भ्रमण ॥

तार मध्ये स्थावर जङ्गम दुइ भेद ।

जङ्गमे तिर्यक जल-स्थल-चर-विभेद ॥

तार मध्ये मनुष्य जाति अति अल्पतर ।

तार मध्ये म्लेच्छ पुलिन्द बौद्ध शबर ॥

वेद-निष्ठ मध्ये अर्द्धक वेद मुखे माने ।

वेदनिषिद्ध पाप करे धर्म नाहि गणें ॥

धर्माचारीगण मध्ये बहुत कर्मनिष्ठ ।

कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ ॥

कोटि ज्ञानि मध्ये हय एकजन मुक्त ।

कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त ॥

कृष्णभक्त निष्काम, अतएव शान्त ।

भुक्ति-मुक्ति सिद्धिकामी सकल अशान्त ॥

भुक्ति-मुक्ति चाहने वालों की भी प्रशान्त में गिनती नहीं है—वे सब ‘अशान्त’ हैं, क्योंकि भुक्ति अर्थात् भोग-विलास चाहने वाला तो कभी शान्त हो ही नहीं सकता। वह आज इस लोक के भोग चाहता है, तो कल स्वर्ग के, परसू ब्रह्मा के लोक के। भोगों से कभी तृष्णा मिटती नहीं। कभी भी उसे शान्ति नहीं मिल सकती। अनेक प्रकार की भोग-वासनाएँ उसे चञ्चल किए रहती हैं।

जो अणिमादि सिद्धियों को चाहने वाले हैं, वे भी आत्म-सुख चाहते हुए भी प्रतिष्ठा चाहते हैं, अतः वे सदा अशान्त ही रहते हैं। मुक्ति-कामी भी वास्तव में अशान्त हैं। सालोक्य, सारिण, सारूप्य एवं सामीप्य मुक्ति प्राप्त-जीवों में तो धामोचित ऐश्वर्यादि की कामना रहने से चञ्चलता रहती ही है, सायुज्य मुक्ति में जहाँ अपना अस्तित्व भी कुछ नहीं रहता, उसकी कामना करने वाला पुरुष भी अशान्त माना गया है। क्योंकि, सायुज्यमुक्ति चाहने वाले में अपने सुख की वासना तो नहीं रहती, परन्तु अपने दुखों की निवृत्ति की वासना बराबर रहती है। संसार की यन्त्रणा से ही तो अस्थिर होकर वह उससे छुटकारा पाने के लिए सायुज्य मुक्ति के साधन में जुटता है। मुक्ति के साधन की मूल-जड़ ही है अपने दुख की निवृत्ति। जहाँ अपने दुख की निवृत्ति की वासना है, उसे फिर शान्त कैसे कहा जा सकता है?

यदि कोई कहे कि ब्रह्म की एकता प्राप्त करने के अभिप्राय से ही मुक्ति की कामना है, न कि दुख-निवृत्ति के लिए।—यहाँ भी ब्रह्म-प्राप्ति के गौरव की

कामना को साधन की प्रवर्तक मानना होगा। गौरव की कामना भी चित्त की चञ्चलता का कारण है। दुख-निवृत्ति अथवा ब्रह्मत्व-लाभ के गौरव की कामना साधन की शेष अवस्था तक रहती है, क्योंकि इस कामना को छोड़कर सायुज्य मुक्ति चाहने वाले का और कोई उद्देश्य तो हो नहीं सकता। अतः मुक्ति कामी को भी 'अशान्त' कहा गया है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्त को छोड़ कर और सब भुक्ति, मुक्ति तथा सिद्धि-कामी अशान्त ही हैं। विशेषतः जब तक एक नित्य, अचञ्चल, सर्वग्रासी एवं अनन्त वैचित्र्यमय आनन्द की प्राप्ति जीव नहीं कर पाता, और जब तक उस आनन्द में चित्त की निविड़ आविष्टता नहीं हो उठती, तब तक चित्त की चञ्चलता, इधर-उधर भागना कभी बन्द नहीं हो सकता, सम्भव भी नहीं है। इस प्रकार का आनन्द केवल मात्र भक्ति द्वारा भगवद्-लीला-रस के आस्वादन में ही जीव को मिल सकता है। इस भक्तिरस का आस्वादन, लीला-रस का आस्वादन जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, फिर उनके चित्त को ब्रह्मानन्द भी विचलित नहीं कर सकता। दूसरी तरफ ब्रह्मानन्द-निमग्न जानियों को भक्ति पूर्वक लीला-रस का आस्वादन चञ्चल कर देता है, वे ललायित तो उठते हैं और भक्तिरसास्वादन की ओर खिंचे चले आते हैं।

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।

ब्रह्मजानी आकषिया करे आत्मवश॥

श्रीचै० चरितामृत २-१७-१३१

इससे यह भी पता लगता है, कि ब्रह्मजानी तभी तक ब्रह्मानन्द में अचञ्चल चित्त होकर अवस्थित रह सकते हैं, जब तक अशेष-रसामृतमिन्धु भगवान् श्री कृष्ण के रूप-गुण-लीला-माधुरी की कथा उनके कानों तक नहीं पड़ती है। श्री शुकदेव मुनि एवं सनकादिक मुनि इस बात का प्रमाण हैं। आजन्म से ब्रह्ममय थे ये, परन्तु श्रीकृष्णगुणों में आकृष्ट होकर भक्तिपूर्वक भजन में प्रवृत्त हो गये। अतः ब्रह्मजानी में भी चित्त की चञ्चलता की सम्भावना रहती है। इसलिये उन्हें भी अशान्त कहा गया है और भक्त जो नित्य भक्ति पूर्वक श्रीकृष्णलीलारस आस्वादन कर उनकी सेवा में आत्मविस्मृत रहता है, वह ही केवल शान्त ही नहीं प्रशान्त है—प्रकृष्ट रूप से शान्त कहा गया है।

इस आलोचना से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भक्ति सर्वश्रेष्ठ चिन्तामणि स्वरूपा है, जो दुर्लभा है। श्रीभगवान् भी उसे छिपा कर रखते हैं, हर एक को प्रदान नहीं करते। पीछे इस बात का सविस्तार निरूपण किया हो जा चुका है कि ज्ञान भी अपने फल मुक्ति को केवल भक्ति की सहायता से ही दे सकता है। इसलिए ज्ञान कभी भक्ति का साधक नहीं हो सकता। ज्ञान के साध्य मुक्ति से भी भक्ति का परम उत्कर्ष सर्वत्र प्रतिपादित किया गया है।

इन्द्रमेव प्रधानीकृत्य स्वयं गुणीभवतोपेन्द्रेण तं सर्वथा-पुष्णता स्वकृपालु-त्वमेव यथाभिज्ञजनेषुप्रत्यायते न तु स्वापकर्षस्तथैव ज्ञानं पुष्णत्यास्तत्तत्प्रकरण-वाक्येषु तस्या भक्तेरनुग्रह एव सुधीभिरनुगम्यते, इति।

श्री भगवान् ने स्वयं सर्व गुणशाली होते हुए भी इन्द्र को प्रधानता देकर उपेन्द्र हूँ से उसको सब प्रकार से पुष्ट किया था। ऐसा करने में जैसे श्रीभगवान् को कृपालुता ही विद्वदजन अनुभव करते हैं न कि श्री भगवान् का कुछ अपकर्ष, उसी प्रकार ज्ञानाङ्ग-भक्ति अर्थात् ज्ञान को पुष्ट करने वाली सात्विकी-भक्ति के प्रतिपादक वाक्यों में ज्ञान के प्रति भक्ति का अनुग्रह ही सुधी-जन निर्धारण करते हैं।

त्रिशूललासिनी टीका—श्रीमद्भगवत के आठवें स्कन्ध में वर्णित है कि राजा बलि ने भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा अनुष्ठान कराकर महान बल-पराक्रम को प्राप्त किया और उसने बड़े भारी असुर-सेना को लेकर देवराज इन्द्र की अमरावती पुरी पर चढ़ाई कर दी। इन्द्र धबड़ाकर देवगुह श्रीवृहस्पति के पास गए और उस आपत्ति से बचने का उपाय पूछा। उन्होंने कहा—इन्द्र ! इस समय बलि राजा ने ब्राह्मणों द्वारा महा तेज और महान शक्ति प्राप्त कर ली है। अतः उससे मुकाबला करना तुम्हारे बस की बात नहीं है। तुम स्वर्ग को छोड़कर भाग जाओ। इन्द्र एवं समस्त देवता अपने रूप छिपा छिपाकर स्वर्ग छोड़कर भाग गए। बलि राजा ने अमरावती पर अधिकार कर लिया। फिर वह पृथ्वी लोक और पाताल लोक को भी जीतकर तीनों लोकों का राजा बन गया।

देवताओं की माता अपने पुत्रों की यह दुर्दशा देख अति दुखी हो उठी। अनेक दिन पीछे परम प्रभावशाली श्री कश्यप मुनि तपस्या करने के बाद अपने आश्रम पर आए और अपनी पत्नी अदिती की अति उदास देखकर उसका कारण पूछा। अदिती ने अपना दुख कह सुनाया और यह भी कहा कि स्वामिन् ! देवता और असुर दोनों आपके पुत्र हैं और आपके लिए यद्यपि दोनों समान हैं, फिर भी जैसे श्री भगवान् सबके प्रति समान भाव रखते

हुए भी भक्तों की रक्षा और उनकी अभिलाषायें पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार आप मेरे इस दुर्दशा को देखकर मेरे पुत्रों का कष्ट निवारण कीजिये। वे वन-वन में बेचर होकर मारे मारे भटक रहे हैं। उन्हें उनका राज्य-सम्पत्ति वैभव जिस प्रकार पुनः प्राप्त हो, ऐसा कोई उपाय बताइये।

श्री कश्यप जी ने सन्तति-सम्पत्ति के मोह को प्रबल महिमा जानकर अदिती को प्याव्रत द्वारा श्री वासुदेव भगवान् की आराधना करने को आदेश दिया। अदिती ने उस व्रत का पालन किया। भगवान् श्री पुरुषोत्तम प्रकट हुए। अदिती ने प्रणाम पूर्वक उनकी स्तुति की। श्रीभगवान् ने कहा “हे देवजननि! मैं ही तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा करूँगा और उन्हें पुनः सब राज्य-सम्पत्ति प्रदान करूँगा।” ऐसा ही हुआ, श्री भगवान् स्वयं वामन रूप में अदिती के गर्भ से आविर्भूत हुए, जो इन्द्र के छोटे भाई होने से ‘उपेन्द्र’ कहलाए। उन्होंने राजा बलि से तीन पाँव पृथ्वी मांगने के बहाने तीनों लोकोंको नाप लिया और राजा बलि को रसातल लोक में भेज दिया। अमरावती का राज्य पुनः इन्द्र को सौंप कर उसको हर प्रकार पुष्ट और स्मृद्ध कर दिया।

इस प्रकार सर्वशक्तिशाली, पुरुषोत्तम भगवान् ने स्वयं इन्द्र का छोटा भाई बनकर इन्द्र की रक्षा की, उसे पुष्ट किया। विचार पूर्वक देखा जाय तो श्रीभगवान् को इस लीला में इन्द्र के प्रति करुणा ही है। स्वयं परम स्वतन्त्र सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ होकर भी श्री भगवान् छोटे भाई बन गए और अपने को उपेन्द्र कहलाना भी स्वीकार कर लिया तथा इन्द्र को ही प्रधानता प्रदान की। इसमें श्री भगवान् का कुछ भी अपकर्ष या छोटापन नहीं समझा जा सकता।

इसी प्रकार भक्ति भी ज्ञान को पुष्ट करती है। क्योंकि विना भक्ति का आश्रय लिए ज्ञान भी अपना फल प्रदान नहीं कर सकता। अतः इस बात को जानकर ब्रह्मैक्य ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक-जन भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। श्री भगवान् प्रसन्न होकर उन्हें उनका अभीष्ट फल प्रदान कर देते हैं। ऐसे लोगों की भक्ति को सात्विकी भक्ति कहा जाता है, जो ज्ञान को पुष्ट करती है। वस्तुतः भक्ति का स्वरूप है सत्त्व, रज, तम गुणों से परे, परम विशुद्ध निर्गुण। निर्गुणा होते हुए भी वह सत्त्वगुण को ग्रहण करती है, केवल ज्ञान को पुष्ट करने के लिए। श्री भगवान् का इन्द्र की रक्षा करने के लिए उपेन्द्र नाम धरना और इन्द्र को प्रधानता देना जैसे इन्द्र पर केवल करुणा का ही द्योतक है, उसी प्रकार परम शक्तिशालिनी निर्गुणा भक्ति का सात्विक गुण ग्रहण कर अपने को सात्विकी कहलाना और ज्ञान को पुष्ट करना केवल मात्र ज्ञान के प्रति भक्ति की करुणा को ही प्रकाशित करता है। इसमें भक्ति का कुछ अपकर्ष भी नहीं है और न ही भक्ति को ज्ञान का अंग ही समझा जाता है।

सात्विकी भक्ति के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवत (३-२६-१०) में भगवान् श्रीकपिल देव ने कहा है—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदपेक्षम् ।

यजेदयष्टव्यमिति वा पृथग् भावः सः सात्विकः ॥

कर्मों के फल को नाश करने के लिये या मुक्ति के उद्देश्य से जो व्यक्ति श्री भगवान् को कर्मर्पण करता है, किंवा श्री भगवान् के अतिरिक्त अन्य वस्तु की कामना से केवल कर्तव्य बुद्धि से श्री भगवान् की भक्ति करता है, वह सात्विक है अर्थात् उसकी भक्ति सात्विकी है।

कर्मों के क्षय या मुक्ति की कामना से भी अनेक व्यक्ति श्री भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्मों को श्री भगवान् के अर्पण किया करते हैं, क्योंकि श्रीभगवान् की प्रसन्नताके विना कर्माक्षय या मोक्ष भी तो प्राप्त नहीं हो सकते। भक्ति ही कर्म, योग एवं ज्ञान के फल देने वाली है, ये तीनों भक्ति या भगवत् कृपा के बिना अपना अपना फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं—इस विषय की पहले आलोचना की जा चुकी है। उन लोगों की भगवत्-प्रसन्नता का उद्देश्य श्रीभगवान् की प्रीति या उनकी सेवा सम्पादन करना नहीं है, उनका उद्देश्य केवल कर्म बन्धन की निवृत्ति होता है। इसलिए श्लोकमें “पृथग् भावः” कहा गया है। श्रीकृष्ण कामना को छोड़कर अन्य किसी भाव से भक्ति करना श्रीभगवान् से पृथक्-भावकी भक्ति कहलाती है। अथवा शास्त्रों में श्रीभगवान् के भजन का उपदेश-विधान है, इसलिए कर्तव्य जानकर भी अनेक लोग भजन करते हैं, वास्तव में भक्ति के तत्त्व को जानकर वे भक्ति की प्राप्ति के लिए भजन नहीं करते। इसलिए उनकी भक्ति को निर्गुणा नहीं कहा गया, बल्कि सात्विकी-भक्ति कहा गया है।

उपर्युक्त भागवतीय श्लोक में कहा गया है कि भक्ति मोक्ष अर्थात् ज्ञान के फल को प्रदान करती है। इसलिए श्रीजीव गोस्वामिपादने कहा है ‘कैवल्यकामा सात्विकी’—कैवल्य अर्थात् ब्रह्म से एकता प्राप्त करने की कामना करने वाले सात्विकी हैं। इससे भी ज्ञात होता है मोक्ष-प्राप्ति का साधन है सात्विकी-भक्ति।

कहा जा सकता है कि मोक्ष-प्राप्त जीव में माया का कोई भी गुण नहीं रह सकता, अतः उसमें सात्विक गुण भी नहीं रहता। यदि सात्विकगुण रहता है तो मोक्ष-प्राप्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि माया की सम्यक् रूप से निवृत्ति ही तो मोक्ष है, या ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। जब तक माया का कोई प्रभाव या गुण साधक के चित्त में रहता है तब तक उसे ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मोक्ष जिस ब्रह्मज्ञान का फल है, वह गुणातीत या विशुद्ध होगा, वह सात्विक कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर मिलता है श्रीमद्भगवत (११-२५-२४) में—
भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव के प्रति कहा है—

कैवल्यं सात्विकं ज्ञानं रजो वैकलिकं च यत् ।

प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्त्रिष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥

अर्थात् कैवल्य-ब्रह्मज्ञान (निर्विशेष ब्रह्म के साथ शुद्ध जीव का अभेद ज्ञान) सात्त्विक ज्ञान है, देहादि-विषयक ज्ञान राजस है, बालक-मूक व्यक्ति के ज्ञान के समान जो प्राकृत-ज्ञान है, वह तामस ज्ञान है और जो ज्ञान मन्निष्ठ है अर्थात् भगवद् विषयक है वह निर्गुण—निर्मल-विशुद्ध ज्ञान है ।

यहाँ चार प्रकार के ज्ञान की चर्चा करते हुए श्रीभगवान् ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मज्ञान सात्त्विक है । अर्थात् वह ब्रह्मज्ञान सात्त्विक-भक्ति से प्राप्त होता है दूसरे शब्दों में भक्ति सत्त्वगुण को स्वीकार कर ब्रह्मज्ञान को पुष्ट करती है । मोक्षकामी को मोक्ष प्रदान करती है । तात्पर्य यह है कि भक्ति स्वरूपतः निर्गुणा होकर भी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कराने के लिये सत्त्वगुण ग्रहण पूर्वक सात्त्विकी-भक्ति रूप में आत्म-प्रकट करती है । इसे ज्ञान के प्रति भक्ति का वैसा अनुग्रह ही निरूपण किया गया है, जैसे सर्व शक्तिसम्पन्न श्री भगवान् इन्द्र पर अनुग्रह करने के लिए उपेन्द्र रूप में आत्म-प्रकट करते हैं ।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या” इति भक्तेः फलं प्रेमरूपा संवेति स्वयं पुरुषार्थमौलिरूपत्वं तस्याः । तदेवं भगवत इव स्वरूपभूताया महाशक्तेः सर्वव्यापकत्वं सर्ववशाकारित्वं सर्वसञ्जीवकत्वं सर्वोत्कर्षपरमस्वातन्त्र्यं स्वप्रकाशत्वञ्च किञ्चिदुद्विज्जितं तदपि तां विना अन्यत्र प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्स्याभाव इति किं वक्तव्यम् । नरत्वस्यापि “को वै न सेवेत विना नरेतरम्” इत्यादिभिरवगमो दृष्टः ॥४॥

‘भक्ति से भक्ति उदित होती है’—इस भागवतीय वचन से यही सिद्ध होता है कि भक्ति से भक्ति आविर्भूत होती है । भक्ति ही सर्व पुरुषार्थ-मुकुटमणि है । अतएव श्री भगवान् की तरह उनकी स्वरूपभूता महाशक्ति की सर्वव्यापकता, सर्ववशीकारिता, सर्वसंजीवकता, सर्वोत्कर्षता, परम स्वतन्त्रता तथा स्वयंप्रकाशता का यहाँ किञ्चित् वर्णन किया गया है । फिर भी भक्ति को छोड़कर यदि फिर किसी भी अन्य साधन में प्रवृत्ति दीखती है, तो उस व्यक्ति में बुद्धि का अभाव ही है—इससे अधिक क्या कहा जाए । उसमें मानवता का भी पूरा विकाश नहीं हुआ है । इसलिये अमानव या जड़-पशु को छोड़कर और कौन ऐसा हो सकता है जो भक्तिमें प्रवृत्त न हो—इत्यादि वचनोंसे यही निर्णय होता है

विश्वोर्लालसिनो टीका—श्रीमद्भागवत (११-३-३१) में निमिराजा से योगेश्वर प्रबुद्ध जी बोले—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽधौवहरं हरिम् ।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या विभ्रत्युत् पुलकां तनुम् ॥

हे राजन् ! श्रीकृष्ण एक क्षण में पापों की राशियों का हरण करने वाले हैं । सबको उनका स्वयं स्मरण करना और दूसरों का कराना चाहिये । इस प्रकार (साधन) भक्ति से (प्रेम) भक्ति का उदय हो उठता है, जिससे शरीर पुलकित हो उठता है । तात्पर्य यह है कि भक्ति से भक्ति उदित होती है ।

भक्ति के विषय में ही यह एक अद्भुत बात है । यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करने से इस लोक के अथवा मृत्यु के बाद ऊपर के स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है । योग के साधन शम-दमादि से ऋद्धि-सिद्धियों की, निर्विकल्प समाधि तथा माक्ष को प्राप्ति होती है । ज्ञानके साधन-श्रवणमनन-निर्द्वयासन आदि से जीव-ब्रह्म का ज्ञान—मोक्ष की प्राप्ति होती है । इन समस्त मार्गोंके साधन अपने साध्यसे भिन्न हैं । साधन और है और प्राप्त होने वाला साधन का फल—साध्य और है । परन्तु भक्ति मार्ग में भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य है । अर्थात् साधन-भक्ति साधन है और प्रेमभक्ति साध्य है ।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१-१-१) में श्रीरूप गोस्वामिचरण लिखते हैं—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

श्रीकृष्ण-प्राप्ति की कामना को छोड़कर भोग तथा मोक्ष तक की अन्यान्य सब अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान, कर्म तथा योग से अमिश्रित, श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए हो अनुकूल भाव से जो अनुशीलन—क्रिया या चेष्टा करता है—उसे उत्तमा भक्ति-कहते हैं ।

यह उत्तमा-भक्ति तीन प्रकार की है—१. साधन-भक्ति, २. भाव-भक्ति, ३. प्रेम-भक्ति । यद्यपि साधन और साध्य भेद से भक्ति दो प्रकार की है, तथापि साध्य-भक्ति के दो भाग किए गये हैं । पूर्वावस्था का नाम है भाव-भक्ति और अपरावस्था का नाम है प्रेम-भक्ति । भाव-भक्ति की गाढ़ अवस्था को ही प्रेम-भक्ति कहा गया है । इन तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण भी गोस्वामीवृन्द ने वर्णन किये हैं ।

साधन-भक्ति—के सम्बन्ध में भक्तिरसामृतसिन्धु (१-२-१) में कहा गया है—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनामिधा ।

नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥

अन्याभिलाष शून्य आदि लक्षणयुक्त जो उत्तमा-भक्ति है, उसका जब जिह्वा-कर्णादि इन्द्रियों द्वारा अनुष्ठान किया जाता है और उसका साध्य या लक्ष्य यदि श्रीकृष्ण प्रेम हो, उसे ‘साधन-भक्ति’ कहते हैं, क्योंकि नित्य सिद्ध कृष्ण-प्रेम के हृदय में आविर्भूत होने में ही साध्यता है, अर्थात् जब साधन-भक्तिको करते करते हृदय में कृष्ण प्रेम उदित हो आए तभी साधन-भक्ति की सिद्धता मानी गई है ।

श्रवण-कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन—ये नौ अङ्ग उत्तमा-भक्ति के हैं । ये जब इन्द्रियों द्वारा अनुष्ठित होते हैं, तब उसे साधन-भक्ति कहा जाता है । भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष होने से चिन्मय है, स्वयं प्रकाश है । अतः प्राकृत इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है । परन्तु इन अङ्गोंका इन्द्रियों द्वारा अनुष्ठान करते करते जब

चित्त शुद्ध हो जाता है अर्थात् कर्मफल एवं अपराध आदि दूर हो जाते हैं, तब श्रीकृष्ण अथवा कृष्ण-भक्त की कृपा से वही चिन्मय स्वयं प्रकाश भक्ति स्वतः स्फुरित हो उठती है और प्राकृत इन्द्रियों को तादात्मता प्रदान करती है। जैसे अग्नि के द्वारा लोहा तादात्मता प्राप्त कर अग्नि के समान गुणोंयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार चिन्मय भक्ति की तादात्मता प्राप्त कर प्राकृत इन्द्रियां भी अप्राकृत-चिन्मय हो जाती हैं। उनसे भक्ति के अङ्गों का (एक अंग का या एक से अधिक अंगों को) जो अनुष्ठान है वह साधन-भक्ति है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि भक्ति के इन अंगों का-अनुष्ठान जब केवल श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिए ही हो और वह भाव-भक्ति को उदित करने वाला हो, तभी साधन-भक्ति कहलाता है। यदि श्रवण-कीर्तनादि भक्ति के अङ्गों का अनुष्ठान धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के लिए किया जाये—तो वह अनुष्ठान साधन-भक्ति नहीं कहलाता।

भाव-भक्ति—के सम्बन्धमें भक्तिरसामृतसिन्धु (३-१-१) का वर्णन है—

शुद्धसत्त्व	विशेषात्मा	प्रेमसूर्याशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिरचित्तमासृण्यकृदसौ	भाव	उच्यते ॥

जो शुद्ध सत्त्व विशेष स्वरूपा है और प्रेम रूप सूर्य की किरण के सदृश है, तथा रुचि द्वारा चित्त को स्निग्ध करने वाली भक्ति है, उसका नाम 'भाव-भक्ति' है, उसे रति भी कहते हैं।

इस श्लोक में भाव-भक्ति का स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण दोनों कहे गये हैं। भाव-भक्ति शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा है। श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति की तीन रूपों में अभिव्यक्ति है। सन्धिनी, संवित् तथा ह्लादिनी। श्रीभगवान् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं। तदनुसार उनकी स्वरूप-शक्ति की ये तीन वृत्तियां हैं। सत्-अंश शक्ति को सन्धिनी, चित्-अंश शक्ति को संवित् तथा आनन्द-अंश शक्ति को ह्लादिनी कहते हैं। श्री भगवान् की स्वरूप-शक्ति की स्वप्रकाश संवित् नामक वृत्ति को यहां शुद्ध सत्त्व कहा गया है। माया का कुछ भी संश्रव न रहने से उसे विशुद्ध-सत्त्व भी कहा जाता है। संवित् के साथ ह्लादिनी का भी प्रधान रूप से मिश्रण होने से यहाँ 'शुद्ध सत्त्व-विशेषात्मा' कहा गया है। अर्थात् ह्लादिनी प्रधान संवित् वृत्ति का सार स्वरूप होने से भाव-भक्ति को शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा कहा गया है। यही शुद्ध सत्त्व श्री भगवान् के नित्य परिकरों के हृदय में तादात्म्य भाव से रहता है, जिसके कारण उनकी श्रीभगवान् के आनुकूल्य की इच्छामय परम प्रवृत्ति रहती है।

यह भाव-भक्ति प्रेम-भक्तिरूप सूर्य की किरण के समान है। जैसे सूर्य के उदित होने से पहले किरणें प्रकाश कर देती हैं, उसी प्रकार प्रेम-भक्ति के उदित होने से पहले भाव-भक्ति उदित होती है। भाव-भक्ति को प्रेम-भक्ति का अङ्कुर ही जानना चाहिए।

प्रेम के प्रादुर्भाव-क्रमानुसार—वैष्णव-भक्त-श्रीगुरुमुख द्वारा श्रीकृष्ण-कथा के सुनने से जीव में श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसके बाद वह साधुजन—भक्तों का सङ्ग करता है। उससे वह भजन करने लगता है। भजन करने से अनर्थों की निवृत्ति होती है, उसके बाद श्रीकृष्ण में निष्ठा और फिर रुचि पैदा होती है—रुचि का अर्थ है श्रीकृष्ण सेवा के लिए तीव्र उत्कण्ठा। उस रुचि के फल स्वरूप श्रीकृष्ण में प्रचुर आसक्ति उदित होती है। उस आसक्ति के उदित होने पर ही भाव का आविर्भाव होता है जिससे चित्त स्निग्ध—परम आर्द्र हो जाता है—अश्रु-पुलक आदि सात्विक विकार अल्प-मात्रा में तब होने लगते हैं।

प्रेम-भक्ति—के लक्षण करते हुए भक्तिरसामृतसिन्धु (४-१-१) में श्री रूप गोस्वामिपाद कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो समत्वातिशयाद्धितः ।

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

उपर्युक्त भाव-भक्ति जब चित्त को अतिशय स्निग्ध—आर्द्र या कोमल करती हुई श्रीकृष्ण में अतिशय समत्व बुद्धि उत्पन्न करती है, और प्रथमावस्था की अपेक्षा परमानन्दोत्कर्ष को अर्थात् परमानन्द की निविड-स्वरूपता को प्राप्त करती है—उसे भक्ति-तत्त्वज्ञान प्रेमा या 'प्रेम-भक्ति' कहते हैं।

भाव-भक्ति जब गाढ़ता को प्राप्त करती है तो पूर्ण परमानन्द के साथ केवल मात्र श्रीकृष्ण को सुखी करने की तीव्र कामना जाग उठती है। ह्लादिनी-प्रधान स्वरूप-शक्ति की कृपा—तादात्मता प्राप्त कर साधक की सेवा-वासना श्रीकृष्णप्रीति-वासना में ही बदल जाती है। तब उसे 'प्रेम-भक्ति' कहा जाता है। भाव एवं प्रेम में भेद इतना है कि भाव केवल चित्त को स्निग्ध करता है, प्रेम सर्वाङ्ग की सम्यक् स्निग्धता को सम्पादन करता है। भाव की अन्तिम सीमा श्रीकृष्ण प्राप्ति की तीव्र-अभिलाषा है और प्रेम की अन्तिम सीमा है श्रीकृष्ण में अतिशय समत्व बुद्धि। प्रेमीभक्त 'श्रीकृष्ण मेरे हैं'—मैं इनको कैसे सुखी करूँ—इसी भाव में आनन्दाकुल रहता है। भाव अथवा रति क्रमशः वृद्धि को प्राप्त कर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव नामों को धारण करती है, जो प्रेम-भक्ति के ही स्थायी-भाव माने गए हैं।

भक्ति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विस्तृत विवेचन किया गया है भक्तिरसामृत-सिन्धु ग्रन्थ-रत्न में। श्रीरूप गोस्वामिपाद, श्रीजीव गोस्वामिपाद, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद तथा कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामिपाद ने अपनी टीकाओं में, भक्तिसन्दर्भ, श्रीचैतन्य चरितामृत में भक्ति के सम्बन्ध में अतिशय विशद विवेचन किया है, जिसकी कल्पना भी विश्व में कोई नहीं कर सकता और न आज तक कर सका। यहाँ केवल इतना ही इस आलोचना का प्रयोजन है कि भक्ति से ही भक्ति उदित होती है अर्थात् भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य। साधन-भक्तिसे भाव-भक्ति और भाव-भक्ति ही प्रेम-भक्तिमें परिणत होती है, जो परमतम साध्य है। जैसे कि श्रीकविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी ने कहा है—

साधन-भक्ति हैते ह्य रतिर उदय ।

रति गाढ़ हैले तार प्रेम नाम कय ॥

—श्री चैतन्य चरितमृत (२-१-१५१)

यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है—सांख्यमत कहता है कि उपादान कारण अपनी पूर्वावस्था को त्यागकर कार्यरूप में बदलता है, जैसे दूध दही में परिणत होता है तो दूध अपनी पूर्वावस्था को त्यागकर ही दही बनता है। दही में फिर दूध नहीं रहता, तो भाव-भक्ति भी जब प्रेम-भक्ति में बदलती है, तो क्या वह अपनी पूर्वावस्था का त्यागकर देती है? रति जब स्नेहमें परिणत होती है, तो क्या रति की पूर्वावस्था लुप्त हो जाती है? और स्नेह जब प्रणय में परिणत होता है, तो क्या स्नेह की पूर्वावस्था नष्ट हो जाती है?—इस शंका का उत्तर श्रीरूप गोस्वामिपाद ने दिया है कि यह सिद्धान्त भक्ति के विषय में लागू नहीं है। रति श्रीकृष्ण की ह्लादिनी-शक्ति की वृत्ति-विशेष है। वह श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति से पूर्वावस्था का त्याग किए बिना ही उत्तरोत्तर अवस्था को प्राप्त करती है। श्रवण-कीर्तनादि अङ्ग जैसे साधन-भक्ति में रहते हैं, वैसे ही भाव-भक्ति में तथा प्रेम-भक्ति में रहते हैं। अतः भाव-भक्ति पूर्वावस्था का त्याग किये बिना ही प्रेम-भक्ति में परिणत हो जाती है।

वह प्रेम-भक्ति सर्व-पुरुषार्थ शिरोमणि है। भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की वृत्ति होने से भक्ति महाशक्तिशालिनी है, परतत्त्व श्रीकृष्ण को वशो-भूत करने की वह शक्ति रखती है। श्री भगवान् की तरह वह सर्वव्यापक है, विभु-परिच्छेद-रहित है। आत्माराम मुनियों तक के मन को आकर्षण करनेवाली है। परम स्वच्छन्द—निरपेक्ष है, स्वतन्त्र है और स्वयंप्रकाश है।

श्री चक्रवर्तीपाद कहते हैं—मैंने भक्ति की स्वरूप-महिमा का यहाँ थोड़ा सा वर्णन किया है। जो लोग भगवद्-भक्ति को छोड़कर कर्म, योग एवं ब्रह्म-ज्ञान आदि अन्यान्य साधनों का आश्रय लेते हैं, वस्तुतः उनमें बुद्धि का अभाव है। वे सम्यक् दर्शन नहीं कर सकते। देखते हुए भी वे वास्तविक मार्ग को नहीं पहचान सकते। वे अपना हित-अहित भी नहीं जानते। वस्तुतः जिसमें बुद्धि का अभाव हो, दृष्टि रहित हो, अपना हित अहित जो न पहचानता हो, उसे मानव न कहकर पशु या जड़ ही कहा जाता है। अतः भक्ति-विहीन पुरुष में मानवता का भी यहाँ अभाव कहा गया है। प्राणी मात्र का स्वरूपानुबन्धी धर्म है श्रीकृष्ण सेवा, और श्रीकृष्ण—सेवा प्राप्ति का एकमात्र साधन है भगवत् भक्ति। भगवद् भक्ति और श्रीकृष्ण सेवा के बिना मानव जीवन व्यर्थ और निरर्थक है—इसमें सन्देह हो क्या है?

श्री चक्रवर्तीपाद की यह उक्ति भी भक्ति-विहीन व्यक्तियों के प्रति अति कृपा ही है। हम देखते हैं कि श्रीभगवान् ने अपने परम प्रिय सखा अर्जुन को—‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज’। समस्त धर्मों को छोड़कर तू मेरी शरण में आ। ‘मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु’—तू मुझ में मन लगा, मेरा

भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझे नमस्कार कर’—इत्यादि परम हितकारी वचनों को कहने के बाद कहा—

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

हे अर्जुन ! तू अपने चित्त को मुझ में लगा—मेरा स्मरण कर—इसी से ही तू मेरी कृपा से समस्त विघ्नों—जन्म-मरणादि संसार भय से तर जायेगा। यदि अहंकार वश तू मेरी बात नहीं सुनता है, तो तू विनष्ट हो जायेगा।

श्रीभगवान् के यह कटु वचन जैसे श्रीअर्जुन के प्रति अति सुनिश्चित मार्ग के द्योतक हैं और उनकी कृपा के सूचक हैं, उसी प्रकार श्री चक्रवर्तीपाद की भी कृपावश यह उक्ति है कि यदि मानव जीवन की सार्थकता चाहते हो तो अन्यान्य मार्गों को त्याग कर श्रीभगवान् की भक्ति की शरण में आओ। एक मात्र भक्ति द्वारा ही तुम्हारी अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

महामहोपध्याय श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ति विरचितायां माधुर्य-कादम्बिन्यां

भवतेः सर्वोत्कर्षनामा प्रथमावृष्टिः ॥१॥

द्वितीयावृष्टिः

अथात्र माधुर्यकादम्बिन्यां द्वैताद्वैतवादविवादयोर्नावकाशो लभ्यते इति केचिदपेक्षणीय इत्येवमेष्यकादम्बिन्यां दृश्यतां नाम ॥१॥

इस माधुर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ में द्वैत और अद्वैत सिद्धान्त के विषय को लेकर वाद-विवाद का अवकाश नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उन सिद्धान्तों को जानना चाहता है, तो ऐश्वर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ में देख सकता है।

विश्वोत्लासिनी-टीकाः—माधुर्य-कादम्बिनी की प्रथमावृष्टि में भक्ति-महाराणी का सर्वोत्कर्ष सम्पादन करने के बाद भक्ति के प्रकार-भेदों का विश्लेषण करने से पहले श्रीचक्रवर्तीपाद कहते हैं कि इस ग्रन्थ-रत्न में जिन प्रधान विषयों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें द्वैत वाद और अद्वैतवाद की आलोचना का कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् उस परतत्त्व वस्तु परब्रह्मसे जीव और जगत् का भेद है या अभेद—इस विषय की आलोचना हम यहाँ नहीं करते हैं। उन्होंने अपने द्वारा रचित ऐश्वर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ का परिचय प्रदान करते हुए कहा कि यदि कोई इस विषय को जानना चाहता है तो ऐश्वर्य-कादम्बिनी ग्रन्थ को देख सकता है।

इदानीं करणकेदारिकामु प्रादुर्भवन्त्यास्तस्या एव भक्तेर्ज्ञान-कर्माद्यभि-श्रितत्वेन शुद्धायाः कल्पवत्या अपि निरस्तान्यफलाभिसन्धितयैव धूतव्रतमधुव्र-तेरिव भव्यजनेराश्रयमाणायाः स्वविषयकानुकूल्यमूलप्राणायाः स्वस्पर्शन-स्पर्शमणिरिव करणवृत्तीरपि प्राकृतत्वलोहतां शनैस्त्याजयित्वा चिन्मयत्वशुद्ध-जाम्बूनदतां प्रापयन्त्याः कन्दलीभावास्ते समुद्रगच्छन्त्याः साधनाभिख्ये द्वे

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती विरचित ‘ऐश्वर्यकादम्बिनी’ नामका उल्लेख इस ग्रन्थमें मिलता है, परन्तु किसी को आज तक उसका अनुसंधान नहीं मिला। श्रीबलदेव विद्याभूषण पाद ने भी ‘ऐश्वर्यकादम्बिनी’ नामक एक ग्रन्थ की रचना की है, जो उपलब्ध है, परन्तु उसका विषय विलकुल भिन्न है।

पत्रिके धिक्प्रियेते । तयोः प्रथमा क्लेशघ्नी द्वितीया शुभदेति । द्वयोरपि तयोरन्तस्तु लोभप्रवर्तकत्वलक्षणसंबन्धेन “येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च” इत्यादि शुद्धसम्बन्ध-स्निग्धतया च प्राप्तोत्कर्षे देशे रागनाम्नो राज्ञ एवाधिकारः । बहिस्तु “तस्मात् भारत सर्वात्मा” इत्यादि शास्त्रप्रवर्तकत्वलक्षण-पारुष्याभासेन प्रियादिशुद्ध-सम्बन्धाभावात् स्वत एवातिस्निग्धतानुदयेन पूर्वतः किञ्चिदपकृष्टे देशे वैधनाम्नो-परस्य राज्ञः । क्लेशघनत्व शुभदत्वाभ्यान्तु प्रायस्तयोर्न कोऽपि विशेषः ॥२॥

इन्द्रिय रूप क्षेत्र में जो आविर्भूत होती है और ज्ञान-कर्मादि से जो मिश्रित नहीं है, वह शुद्ध भक्ति है और वह एक कल्प-लता के सदृश है । उस शुद्ध भक्ति-कल्पलता का, वही भाग्यवान्-जन आश्रय लेते हैं, जो मधुकर की तरह व्रतधारी हैं । अर्थात् जैसे मधुकर केवल मकरन्द-रस का आस्वादन करता है और कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार जिन्होंने केवल भक्तिरस पान करने के लिये—भगवत्-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के फल (साध्यों) के त्याग का व्रत धारण कर रखा है । वे ही भक्तिलता का मूल प्राण है स्वविषय अर्थात् श्रीभगवान् की अनुकूलता—सेवा सम्पादन करना ।

यह अपने स्पर्श से पारस मणि की तरह इन्द्रियों के प्राकृतत्व रूपी लोहे-पने को धीरे धीरे दूर कर चिन्मयत्व रूप शुद्ध स्वर्णरूपता प्राप्त करा देती है । फिर अंकुररूप से प्रस्फुटित होकर साधन-भक्ति नाम की दो पत्तियों को पैदा करती है । उन में एक का नाम है क्लेशघ्नी और दूसरी का नाम है शुभदा । इन दोनों पत्तियों का अन्दरूनी भाग लोभ-प्रवर्तक लक्षण रूप स्निग्धता से शोभित है । श्रीभगवान् ने कहा—“जिनका मैं प्रिय, आत्मा और पुत्र हूँ”—इन वचनों के अनुसार शुद्ध सम्बन्ध की स्निग्धता से वह उत्कर्ष युक्त है । उस उत्कृष्ट भाग पर राग-नामक राजा का अधिकार है । उन दोनों पत्तियों का बाहरी भाग—“इसलिये हे परीक्षित! मुझ सर्वात्मा (की उपासना करनी चाहिये) इत्यादि शास्त्र-प्रवर्तक लक्षणों से युक्त होने से कठोर या रूखा है । प्रियतादि शुद्ध सम्बन्ध रहित होने से अन्दरूनी भाग की अपेक्षा स्वाभाविक ही कुछ अपकर्षयुक्त है । इस भाग पर वैध-नामक एक दूसरे राजा का अधिकार है । परन्तु क्लेशघनता (दुःख नाश करने) में तथा शुभदत्व (शुभगुण प्रदान करने) में प्रायः दोनों में कोई भी भेद नहीं है ॥२॥

विश्वोत्सासिनी-टीका—उत्तमा-भक्ति सर्वव्यापक है, सर्व साधनों को वशीभूत रखती है, परम स्वतन्त्र है, किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती एवं स्वयं प्रकाश हैं—भक्ति के इन सामान्य लक्षणों का प्रथम अमृत-वृष्टि में वर्णन करने के बाद श्रीचक्रवर्तीपाद इस द्वितीय अमृत-वृष्टि में साधन भक्ति के विशेष लक्षणों का और उसके दो भेदों का वर्णन करते हैं ।

कर्म, योग और ज्ञान की जिसमें जरा भी मिलावट नहीं है, वही उत्तमा-भक्ति है । उस भक्ति के साधकों में—केवल श्रीकृष्ण-प्राप्ति की ही अभिलाषा रहती है । धर्म, अर्थ, काम तथा मुक्ति तक की भी उन्हें कामना नहीं रहती । श्रीकृष्ण-

कामना के अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओं के त्याग का वे व्रत धारण किये रहते हैं । ऐसे साधक विरले हैं । अतः उन्हें भाग्यवान् कहा गया है । उस उत्तमा भक्ति को एक कल्प-लता स्वरूप माना गया है । उसकी जड़ अर्थात् मूल-प्राण है श्रीकृष्ण के अनुकूल-अनुशीलन करना । अनुकूल-अनुशीलन का अर्थ है मन वाणी एवं शरीर से होने वाली समस्त चेष्टाओं को केवल श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये करना और श्री कृष्ण से सम्बन्ध न रखने वाली मन, वाणी एवं शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग कर देना । इस प्रकार का अनुशीलन ही उस उत्तमा-भक्ति का मूल आधार है ।

‘पहले यह कह आये हैं कि भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति की वृत्ति होने से अप्राकृत है, चिन्मय है । परन्तु यहां कहा गया है कि इन्द्रियरूप खेत में उसका उदय होता है ।

प्रश्न उठता है—प्राकृत इन्द्रियां उस भक्ति को कैसे ग्रहण कर सकती हैं ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं । जैसे पारस मणि लोहेका स्पर्श करते ही लोहे को सोना बना देती है । अथवा अग्नि जैसे स्पर्श से लोहे में अपने समस्त गुणों का सञ्चार कर देता है, उसी प्रकार भक्ति भी अपनी अचिन्त्य चिन्मयशक्ति के द्वारा प्राकृत इन्द्रियों को स्पर्श कर उन्हें चिन्मय बना देती है—उसका प्राकृतत्व दूर हो जाता है अर्थात् साधन-भक्ति के अङ्गों का श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठान करते-करते योग्यता प्राप्त हो जाने पर धीरे-धीरे समय पाकर इन्द्रियों का प्राकृतत्व नष्ट हो जाता है ।

लता जब भूमि से उगती है तो पहले-पहले एक अंकुर प्रस्फुटित होता है, जो दो पत्तियों के रूप में सामने आता है । इसी तरह भक्ति-कल्पलता भी अंकुरित होती है दो पत्तियों के रूप में । अर्थात् साधन-भक्ति दो लक्षणोंयुक्त होकर प्रकाशित होती है । साधन-भक्ति का एक गुण है क्लेशघ्नी और दूसरा गुण है शुभदा । क्लेशघ्नी का अर्थ है क्लेशों को नाश करने वाली, और शुभदा का अर्थ है शुभ गुणों को प्रदान करने वाली । (क्लेशों एवं शुभगुणों का विस्तृत विवरण आगे उल्लेख किये जायेगा ।)

किसी लता के पत्तों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो वह एक तरफ चिकने और दूसरी तरफ कुछ रूखे और खुदरे से होते हैं । अंकुर से ही पत्तियां जब फूटती हैं वे अन्दर की तरफ से चिकनी होती हैं और बाहरकी तरफ से रूखी होती हैं । बाद में चिकनी तरफ ऊपर आ जाती है और रूखी तरफ नीचे हो जाती है । इसी प्रकार साधन-भक्ति रूपी कल्पलता की दोनों पत्तियां भी अन्दर की तरफ स्निग्ध हैं—चिकनी हैं । उक्तो देखकर आकर्षण या उसे प्राप्त करने का लोभ उत्पन्न होता है, परन्तु बाहर की तरफ रूखी या कठोर है ।

तात्पर्य यह है कि साधन-भक्ति के प्रवर्तक दो भाव हैं—एक तो लोभ । भक्ति की स्निग्धता—सुन्दरता, कोमलता, स्वप्रकाशिता आदि गुणों को देखकर स्वतः ही उसके लिये साधक का मन लालायित हो उठता है, उसकी प्राप्ति का

पत्रिके विविधियेते । तयोः प्रथमा क्लेशघ्नी द्वितीया शुभदेति । द्वयोरपि तयोरन्तस्तु लोभप्रवर्तकत्वलक्षणचैवकण्येन “येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च” इत्यादि शुद्धसम्बन्ध-स्निग्धतया च प्राप्तोत्कर्षे देशे रागनाम्नो राज्ञ एवाधिकारः । बहिस्तु “तस्मात् भारत सर्वात्मा” इत्यादि शास्त्रप्रवर्तकत्वलक्षण-पारुष्याभासेन प्रियादिशुद्ध-सम्बन्धाभावात् स्वत एवातिस्निग्धतानुदयेन पूर्वतः किञ्चिदपकृष्टे देशे वैधनाम्नो-ऽपरस्य राज्ञः । क्लेशघ्नत्व शुभदत्वाभ्यान्तु प्रायस्तयोर्न कोऽपि विशेषः ॥२॥

इन्द्रिय रूप क्षेत्र में जो आविर्भूत होती है और ज्ञान-कर्मादि से जो मिश्रित नहीं है, वह शुद्ध भक्ति है और वह एक कल्प-लता के सदृश है । उस शुद्ध भक्ति-कल्पलता का वही भाग्यवान्-जन आश्रय लेते हैं, जो मधुकर की तरह व्रतधारी हैं । अर्थात् जैसे मधुकर केवल मकरन्द-रस का आस्वादन करता है और कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार जिन्होंने केवल भक्तिरस पान करने के लिये—भगवत्-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के फल (साध्यों) के त्याग का व्रत धारण कर रखा है । वे ही भक्तिलता का मूल प्राण है स्वविषय अर्थात् श्रीभगवान् की अनुकूलता—सेवा सम्पादन करना ।

यह अपने स्पर्श से पारस मणि की तरह इन्द्रियों के प्राकृतत्व रूपी लोहे-पने को धीरे धीरे दूर कर चिन्मयत्व रूप शुद्ध स्वर्णरूपता प्राप्त करा देती है । फिर अंकुररूप से प्रस्फुटित होकर साधन-भक्ति नाम की दो पत्तियों को पैदा करती है । उनमें एक का नाम है क्लेशघ्नी और दूसरी का नाम है शुभदा । इन दोनों पत्तियों का अन्दरूनी भाग लोभ-प्रवर्तक लक्षण रूप स्निग्धता से शोभित है । श्रीभगवान् ने कहा—“जिनका मैं प्रिय, आत्मा और पुत्र हूँ”—इन वचनों के अनुसार शुद्ध सम्बन्ध की स्निग्धता से वह उत्कर्ष युक्त है । उस उत्कृष्ट भाग पर राग-नामक राजा का अधिकार है । उन दोनों पत्तियों का बाहरी भाग—“इसलिये हे परीक्षित! मुझ सर्वात्मा (की उपासना करनी चाहिये) इत्यादि शास्त्र-प्रवर्तक लक्षणों से युक्त होने से कठोर या रूखा है । प्रियतादि शुद्ध सम्बन्ध रहित होने से अन्दरूनी भाग की अपेक्षा स्वाभाविक ही कुछ अपकर्षयुक्त है । इस भाग पर वैध-नामक एक दूसरे राजा का अधिकार है । परन्तु क्लेशघ्नता (दुःख नाश करने) में तथा शुभदत्व (शुभगुण प्रदान करने) में प्रायः दोनों में कोई भी भेद नहीं है ॥२॥

विश्वीश्लासिनी-टीका—उत्तमा-भक्ति सर्वव्यापक है, सर्व साधनों को वशीभूत रखती है, परम स्वतन्त्र है, किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती एवं स्वयं प्रकाश है—भक्ति के इन सामान्य लक्षणों का प्रथम अमृत-वृष्टि में वर्णन करने के बाद श्रीचक्रवर्तीपाद इस द्वितीय अमृत-वृष्टि में साधन भक्ति के विशेष लक्षणों का और उसके दो भेदों का वर्णन करते हैं ।

कर्म, योग और ज्ञान की जिसमें जरा भी मिलावट नहीं है, वही उत्तमा-भक्ति है । उस भक्ति के साधकों में—केवल श्रीकृष्ण-प्राप्ति की ही अभिलाषा रहती है । धर्म, अर्थ, काम तथा मुक्ति तक की भी उन्हें कामना नहीं रहती । श्रीकृष्ण-

कामना के अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओं के त्याग का वे व्रत धारण किये रहते हैं । ऐसे साधक विरले हैं । अतः उन्हें भाग्यवान् कहा गया है । उस उत्तमा भक्ति को एक कल्प-लता स्वरूप माना गया है । उसकी जड़ अर्थात् मूलःप्राण है श्रीकृष्ण के अनुकूल-अनुशीलन करना । अनुकूल-अनुशीलन का अर्थ है मन वाणी एवं शरीर से होने वाली समस्त चेष्टाओं को केवल श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये करना और श्री कृष्ण से सम्बन्ध न रखने वाली मन, वाणी एवं शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग कर देना । इस प्रकार का अनुशीलन ही उस उत्तमा-भक्ति का मूल आधार है ।

पहले यह कह आये हैं कि भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति की वृत्ति होने से अप्राकृत है, चिन्मय है । परन्तु यहां कहा गया है कि इन्द्रियरूप खेत में उसका उदय होता है ।

प्रश्न उठता है—प्राकृत इन्द्रियां उस भक्ति को कैसे ग्रहण कर सकती हैं ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं । जैसे पारस मणि लोहेका स्पर्श करते ही लोहे को सोना बना देती है । अथवा अग्नि जैसे स्पर्श से लोहे में अपने समस्त गुणों का सञ्चार कर देता है, उसी प्रकार भक्ति भी अपनी अचिन्त्य चिन्मयशक्ति के द्वारा प्राकृत इन्द्रियों को स्पर्श कर उन्हें चिन्मय बना देती है—उसका प्राकृतत्व दूर हो जाता है अर्थात् साधन-भक्ति के अङ्गों का श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठान करते-करते योग्यता प्राप्त हो जाने पर धीरे-धीरे समय पाकर इन्द्रियों का प्राकृतत्व नष्ट हो जाता है ।

लता जब भूमि से उगती है तो पहले-पहले एक अंकुर प्रस्फुटित होता है, जो दो पत्तियों के रूप में सामने आता है । इसी तरह भक्ति-कल्पलता भी अंकुरित होती है दो पत्तियों के रूप में । अर्थात् साधन-भक्ति दो लक्षणोंयुक्त होकर प्रकाशित होती है । साधन-भक्ति का एक गुण है क्लेशघ्नी और दूसरा गुण है शुभदा । क्लेशघ्नी का अर्थ है क्लेशों को नाश करने वाली, और शुभदा का अर्थ है शुभ गुणों को प्रदान करने वाली । (क्लेशों एवं शुभगुणों का विस्तृत विवरण आगे उल्लेख किया जायेगा ।)

किसी लता के पत्तों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो वह एक तरफ चिकने और दूसरी तरफ कुछ रूखे और खुदरे से होते हैं । अंकुर से ही पत्तियां जब फूटती हैं वे अन्दर की तरफ से चिकनी होती हैं और बाहरकी तरफ से रूखी होती हैं । बाद में चिकनी तरफ ऊपर आ जाती है और रूखी तरफ नीचे हो जाती है । इसी प्रकार साधन-भक्ति रूपी कल्पलता की दोनों पत्तियां भी अन्दर की तरफ स्निग्ध हैं—चिकनी हैं । उक्तको देखकर आकर्षण या उसे प्राप्त करने का लोभ उत्पन्न होता है, परन्तु बाहर की तरफ रूखी या कठोर है ।

तात्पर्य यह है कि साधन-भक्ति के प्रवर्तक दो भाव हैं—एक तो लोभ । भक्ति की स्निग्धता—सुन्दरता, कोमलता, स्वप्रकाशिता आदि गुणों को देखकर स्वतः ही उसके लिये साधक का मन लालायित हो उठता है, उसकी प्राप्ति का

लोभ जाग उठता है। ऐसा स्वाभाविक लोभ भाव जिस साधन-भक्ति का प्रवृत्तक है—उसे “रागात्मिका-भक्ति” कहते हैं। इसलिये यहां उस के सम्बन्ध में कहा गया है कि इस स्निग्धता पूर्ण भाग पर ‘राग’ नाम के राजा का अधिकार है। अर्थात् इस रागात्मिका-भक्ति की हर अवस्था पर राग-भगवत्—प्रेमका अधिकार रहता है। उसी प्रेम के कारण साधक श्रीभगवान् से अपने अनेक सम्बन्ध जोड़ लेता है, उन्हें अपना प्रिय, अपना आत्मा अपना, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद और इष्ट मानता है। जैसे कि श्रीभगवान् कपिल देव ने अपनी माता से कहा—

न कर्हिचिन्मत्पुरा शांतरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥

(श्रीमद्भागवत ३-२५-३८)

हे माता ! जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद-बान्धव और इष्टदेव हूँ, वे मेरे ही आश्रय रहने वाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठ-धाम में पहुँच कर किसी प्रकार भी दिव्य भोगों से वञ्चित नहीं होते और न ही उन्हें मेरा काल चक्र ही ग्रस सकता है।

इस प्रकार रागात्मिका-भक्ति के साधनों में शुद्ध सम्बन्ध की स्निग्धता रहती है और पत्तियों के स्निग्ध भाग की तरह वे भी ऊपर शोभित होती है। अर्थात् रागात्मिका-भक्ति का सदा उत्कर्ष रहता है।

साधन-भक्ति का प्रवर्तक दूसरा भाव है—शास्त्र-प्रवर्तकत्व, अर्थात् शास्त्र के शासन-भय से साधक की साधन-भक्ति में प्रवृत्ति होती है।

शास्त्र कहते हैं—भगवद् भक्ति के बिना जन्म-मृत्यु रूप संसार सागर से जीव कभी भी पार नहीं उत्तर सकता। क्योंकि जन्म-मरण रूप संसार का मूल कारण है माया-बन्धन और माया से छुटकारा पाने के लिए केवल भगवद्-भक्ति ही उपाय है—जैसे कि श्रीमद्भागवत (१-१-५) का कथन है—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरीरीश्वरः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा—हे राजा परीक्षित! संसार-भय अर्थात् माया-बन्धन से जो छुटकारा पाना चाहते हैं, उनको सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि के नाम गुण-लीलाओं का श्रवण करना चाहिये, उनका कीर्तन एवं स्मरण करना चाहिये।

इन वचनों को सुनकर जो लोग साधन-भक्ति में प्रवृत्त होते हैं, उनकी भक्ति को ‘वैधी-भक्ति’ कहते हैं। वैधी-भक्ति के साधकों की भक्ति में प्रवृत्ति श्री-भगवान् की प्रीति सम्पादन करने के लिये नहीं है, बल्कि अपने दुःख की निवृत्ति के लिये ही भक्ति-अङ्गों का वे अनुष्ठान करते हैं। अतः इसे रूखा और कठोर कहा गया है। यहाँ कोई भी प्रीति का शुद्ध सम्बन्ध नहीं है। पत्ती के रूखे भाग

की तरह वैधी-भक्ति भी नीचे की तरफ रहती है अर्थात् इसका रागात्मिका भक्ति की अपेक्षा अपकर्ष ही है। इसके अनुष्ठान में शास्त्र-विधि की ही प्रधानता रहती है। इसलिए इस पर वैध-राजा का अधिकार यहाँ वर्णन किया गया है।

जैसे लता की पत्तियों के सर्वभागों में समान गुण रहता है, यह नहीं कि चिकनी तरफ का गुण और हो तथा रूखी तरफ का गुण और। इसी प्रकार चाहे साधन-भक्ति रागात्मिका हो अथवा वैधी दोनों के गुण प्रायः समान ही प्रकाशित होते हैं। दोनों ही समान रूप से क्लेशों को दूर करने वाली हैं और समान रूप से शुभगुण प्रदान करने वाली हैं।

सारांश यह है कि कर्म-ज्ञानादि से अनावृत्त अन्याभिलाषशून्य तथा अनु-कूलता पूर्वक श्रीकृष्णानुशीलनयुक्त जो उत्तमा-भक्ति है, वह साधन-भक्ति रूप में उदित होकर प्राकृत इन्द्रियों को चिन्मयता प्रदान करती है। उसके दो भेद हैं—एक रागात्मिका जिस का प्रवर्तक भाव साधक की तीव्र लालसा या लोभ है। दूसरी वैधी भक्ति, जिसमें साधक शास्त्र-भय से ही प्रवृत्त होता है। रागात्मिका-भक्ति में श्री भगवान् से प्रेमका एक शुद्ध सम्बन्ध रहता है, इसलिए यह उत्कर्षमयी है और वैधी-भक्ति में श्रीभगवत्-प्रेम का कुछ सम्बन्ध नहीं है। वहाँ अपने संसार-भय की निवृत्ति की प्रधानता है। अतः रागात्मिका भक्ति से इसका उत्कर्ष कम है। परन्तु साधन-भक्ति चाहे रागात्मिका हो या वैधी, क्लेश को दूर करने वाली है और शुभगुणों को प्रदान करने वाली है।

तत्राविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । प्रारब्धाप्रारब्धरूढ-बीजपापादयस्तन्मया एव । शुभानि दुर्विषयवैतृण्य-भगवद्विषय-सत्तृण्यचानुकूल्य-कृपा-क्षमा-सत्य-सारल्य-साम्य-धैर्य-गम्भीर्य - मानदत्वामानित्वसर्वसुभगत्वादयो गुणाश्च “सर्वे गुणैस्तत्र समासते सुराः” इत्यादि दृष्ट्या ज्ञेयाः ॥३॥

क्लेश पाँच प्रकार के हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ तथा बीज ये चार प्रकार के पापादि भी इन क्लेशों के अन्तर्गत हैं। बुरे या दुःखजनक विषयों से अरुचि होना, भगवद् विषयों में रुचि होना, अनुकूलता, कृपा, क्षमा, सत्य, सरलता, समता, धैर्य, गम्भीरता, दूसरों को मान देना, स्वयं मान न चाहना, सर्व सुभगत्व युक्त होना—ये सब गुण ‘शुभ’ कहे गए हैं। “देवतागण समस्तगुणों के साथ भक्त में अवस्थान करते हैं”—श्रीमद्-भागवत के इस वचनानुसार भक्त इन समस्त शुभगुणों से सम्पन्न होते हैं ॥३॥

विश्वोत्सासिनी टीका—पहले कह आये हैं कि साधन भक्ति, चाहे वह रागात्मिका हो अथवा वैधी, क्लेशों को नाश करने वाली है और शुभ गुणों को दान करने वाली है। क्लेशों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

पातञ्जल योग दर्शन के साधन पाद के तीसरे सूत्र में कहा गया है, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष,

और अभिनिवेश ये पांच बलेश हैं। वस्तुतः ये पाँचों बलेश अविद्या के ही प्रकार भेद हैं या कारण हैं। इन्हीं से ही कर्म व अकर्मों में प्रवृत्ति होती है। फिर धर्म व अधर्म तथा पाप-पुण्य घटित होते हैं। पाप-पुण्य अदृष्ट या प्रारब्ध के अनुसार सुख और दुःख मिलता है।

अविद्या—अनित्य वस्तु को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख समझना और अनात्म वस्तु (देह-दैहिक वस्तुओं) में आत्मबुद्धि होना—इस को 'अविद्या' कहते हैं।

अस्मिता—दृक्शक्ति की और दर्शन-शक्तिकी एकात्मता का ज्ञान अस्मिता कहलाता है। अथवा 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकार का जो अभिमान या मोह है, उसे 'अस्मिता' कहते हैं।

राग—सुख-प्राप्ति के तथा दुःख-निवृत्ति के उपाय करने की कामना का नाम 'राग' है।

द्वेष—दुःख या दुःख के कारण के प्रति विरक्ति या अनिच्छा का नाम 'द्वेष' है।

अभिनिवेश—अनुकूल विषयों में आसक्ति अर्थात् अनुकूल विषयों को प्राप्त करने के आधार स्वरूप शरीर में आसक्ति होना और मृत्यु (शरीर त्यागने) में भय होने का नाम 'अभिनिवेश' है।

प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ तथा बीज ये चार प्रकार के पाप कहे गये हैं। ये चारों पाप भी बलेश के अन्तर्गत हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रारब्ध-पाप—प्रारब्ध-पाप कहते हैं उन पापों को, जो पहले जन्मों में किये गए संचित पापों में से कुछ हैं और जिनका फल दुःख-भोग इस वर्तमान शरीर से भुगतना आरम्भ हो गया है। अथवा पूर्वजन्मकृत जिन पापों का फल वर्तमान जन्म में भोगना है।

अप्रारब्ध-पाप—अनेक जन्मों में किये हुए पाप जो संचित रूप में विद्यमान हैं, जिनका फल अभी भुगतना आरम्भ नहीं हुआ। या जो अनभिव्यक्त रूप में जमा हैं उन्हें 'अप्रारब्ध-पाप' कहा जाता है।

रूढ़-पाप—इन्हें कूट या सूक्ष्म पाप भी कहा जाता है। जो पाप बीज का रूप धारण कर आगे चल कर फूटेंगे और अपना फल लाएंगे, उन्हें 'रूढ़-पाप' कहा जाता है। अप्रारब्ध फल के समष्टि रूप में ये अवस्थान करते हैं।

बीज-पाप—ये वासनामय पाप हैं, वासना के रूप में रहते हैं और प्रारब्ध की पृष्ठ भूमि हैं।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीरूप गोस्वामीजी ने पाप, पाप-बीज तथा अविद्या—इन तीन प्रकार के बलेशों का उल्लेख किया है और पाप के दो भेद माने हैं—प्रारब्ध एवं अप्रारब्ध। इस प्रकार प्रारब्ध-पाप, अप्रारब्ध-पाप, पाप-बीज तथा अविद्या—ये चार बलेश माने हैं।

योगदर्शनादि में अविद्याको पाप या बलेशों का मूल—बीज माना गया है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां' आदि योगसूत्र में भी अविद्या को ही अस्मितादि बलेशों का क्षेत्र—उत्पत्ति स्थान कहा गया है। किन्तु श्रीरूप गोस्वामी ने पाप, पाप-बीज तथा अविद्या को पृथक् मानकर भक्तिद्वारा उनके नष्ट होने में पृथक्-पृथक् शास्त्र-प्रमाणों को उद्धृत किया है।

सारांश यह है कि साधन-भक्ति अर्थात् जो भक्ति निष्कामभाव से श्रीकृष्ण के सुख विधान के लिये ही की जाती है और जिसमें कर्म-ज्ञान एवं योगादि की मिलावट नहीं है, वह चाहे रागात्मिका हो, चाहे वैधी, वह समस्त बलेशों को, सर्व प्रकार के पापों को, पापों की वासनाओं को तथा अविद्या को नाश करने वाली है जैसा कि पद्मपुराण में भी कहा गया है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् ।

क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णु-भक्तिरतात्मनाम् ॥

जिनका आत्मा - मन श्रीकृष्ण भक्ति में लगा हुआ है, उनके अप्रारब्ध फल (जिन पापों का फल आदि आरम्भ नहीं हुआ है) कूट-पाप (सूक्ष्म-अंकुर रूप पाप), बीज रूप (वासनामय) पाप और फलोन्मुख पाप (प्रारब्ध अर्थात् जिनका फल भुगतना आरम्भ हो गया है) क्रमशः विनष्ट हो जाते हैं।

साधन-भक्ति के द्वारा समस्त बलेश या अविद्या के नष्ट होने के साथ-साथ शुभगुणों का भी उदय होता है, क्योंकि उसका दूसरा गुण है शुभगुण प्रदान करना। वे शुभगुण इस प्रकार कहे गये हैं—

बुरे कर्मों से या दुःखजनक विषयों से अरुचि होना, भगवान् से सम्बन्धित विषयों में—उनकी कथा, लीला, गुण-नाम में रुचि, उनके भक्तों के प्रति आदर आदि, श्रीकृष्ण-सेवा के अनुकूल ही समस्त चेष्टाएँ करना, जीव मात्र के प्रति दया करना, सबके प्रति क्षमा रखना, सदा सत्य बोलना, सरल, हृदय होना—छल-कपट रहित होना, सब में समान दृष्टि रखना—सब में अपने इष्टदेव को देखना, विपत्ति में भी धीरज धारण करना, गम्भीर रहना, दूसरों को सदा मान-इज्जत देना, स्वयं मान-इज्जत की कामना न रखना। सब चेष्टाओं में—व्यवहारमें, वाणी में श्रेष्ठता-कोमलता का रहना—आदि वे सब शुभगुण हैं जो साधन-भक्ति प्रदान करती है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१-१-१७) में श्रीरूपगोस्वामीपाद ने भक्ति के शुभदत्व विषय में लिखा है :—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता ।

सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनोषभिः ॥

जगत् के समस्त प्राणियों को सन्तुष्ट करना, समस्त प्राणियों का अनुराग प्राप्त करना, दया-दाक्षिण्यादि सद्गुण और सुख—इन चारों को विद्वानों ने 'शुभ' नाम से कहा है ।

जगत् को सन्तुष्ट करना और जगत् के अनुराग को प्राप्त करना—ये दोनों बातें भक्ति से प्राप्त होती हैं । भक्ति इन दोनों को प्रदान करने वाली है, पद्मपुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

येनाचितो हरिस्तेन तपितानि जगन्त्यपि ।

रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि ॥

जिसने श्रीभगवान् को अपनी अर्चना द्वारा सन्तुष्ट कर लिया है, उसने सारे जगत को तृप्त कर लिया है । उसके प्रति जगत् के समस्त प्राणी और स्थावर तक भी अनुरक्त हो जाते हैं—उस भक्त से प्रेम करने लगते हैं ।

इन शुभ-स्वरूप सद्गुणों को साधन-भक्ति प्रदान करती है । श्रीमद्भागवत् (५-१८-१२) में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वगुणैस्तत्र समास्ते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

जिसकी श्रीभगवान् के प्रति निष्काम भक्ति है उसमें समस्त सद्गुणों के साथ देवताओं का निवास होता है । जो श्रीभगवान् का भक्त नहीं है और जिसका मन सदा संसारी विषयों में घूमता रहता है उस भक्ति-विहीन व्यक्ति में महान् या शुभगुण कहां से आ सकते हैं ?

तात्पर्य यह है कि भक्ति में ही सब शुभ-गुण प्रदान करने की शक्ति है । भक्ति के बिना उन की प्राप्ति नहीं हो सकती ।



“भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः” इत्युक्तप्रकारेण युगपदपि प्रवृत्तयोरपि तयोः पत्रिकयोर्द्विगमता रतम्येनैव तत्तदशुभनिवृत्तिशुभ-प्रवृत्तितारतम्यादस्त्येव क्रमः । स चातिसूक्ष्मो दुर्लक्ष्योऽपि तत्तत्कार्यदर्शनलिङ्गेन सुधीभिरवसीयते ॥४॥

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि श्रीभगवान् की भक्ति, अनुभूति तथा श्रीभगवान् को छोड़कर अन्य पदार्थों से विरक्ति—ये तीनों एक ही समय उदित हुआ, करती हैं । इसी कथनकी तरह यह समझा जा सकता है कि पहले क्लेशघ्नी तथा शुभदा नाम की भक्ति-कल्पलता की दो पत्तियों की उत्पत्ति की जो बात कही गई है, उन दोनोंकी एक ही समय एक साथ उत्पत्ति होती है । फिर भी अल्प और अधिक परिमाण में उत्पत्ति का तारतम्य होने से अशुभों की निवृत्ति तथा शुभों की प्राप्ति या आरम्भ में भी तारतम्य रहता है, किन्तु अशुभ निवृत्ति तथा शुभ-प्राप्ति का एक निर्दिष्ट क्रम है । वह क्रम अति सूक्ष्म है और सहज में लक्ष्य नहीं किया जा सकता । फिर भी उनका कार्य दृष्टिगत होने के कारण एवं लक्षणों द्वारा सुधीजन उस तारतम्य को या स्थिति को स्थिर कर लेते हैं ।

विश्वोत्लासिनी टीका—पहले यह कहा जा चुका है कि साधन-भक्ति चाहे वह रागात्मिका हो या वैधी, हर प्रकार के अशुभों अर्थात् क्लेशों को नाश करने वाली है और शुभगुणों को प्रदान करने वाली है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि साधन-भक्ति अशुभों का नाश और शुभगुणों का प्रदान, ये दोनों काम एक ही काल में कैसे सम्पादन करती है ? इसका उत्तर देते हुए श्रीचक्रवर्तिपाद ने निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुधायोजुघासम् ॥

—श्री भा० ११-२-४२

—जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक आस के खाने पर तृप्ति, पुष्टि अर्थात् जीवन शक्ति का सञ्चार और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों बातें एक साथ ही प्राप्त होती जाती हैं, वैसे ही जो व्यक्ति श्रीभगवान् की शरण लेकर उनका

भजन करने लगता है, उसे भजन के साथ प्रत्येक क्षण में श्रीभगवान् के प्रति प्रेम, श्रीभगवान् के स्वरूप का अनुभव तथा श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य मायिक पदार्थों से वैराग्य—इन तीनों की एक ही समय एक साथ प्राप्ति होती जाती है।

इसी प्रकार साधन-भक्ति के उदित होते ही क्लेश या अशुभोंकी निवृत्ति अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेषादि तथा समस्त पापों का नाश और समस्त प्राणियों को सन्तुष्ट करना, भगवन्नाम-गुण-लीला श्रवण-कीर्तन में रुचि तथा दया आदि शुभगुणों का भी आरम्भ होने लगता है। हाँ, यह आवश्यक नहीं, इन दोनों का अनुपात बराबर हो। कहीं अशुभों की निवृत्ति अधिक होती है एवं शुभगुणों की प्राप्ति थोड़ी और कहीं अशुभों की निवृत्ति थोड़ी मात्रा में होती है और शुभगुण अधिक मात्रा में साधक में आ जाते हैं। इनके उदित होने में तार-तम्य अर्थात् घटा-बढ़ी रहती है, परन्तु इस घटा-बढ़ी का भी एक क्रम है जो निश्चित है, निश्चित है। किस क्रम से, कितनी मात्रा में अशुभों की निवृत्ति हो रही है और किस क्रम से, किस मात्रा में, शुभगुणों का उदय हो रहा है—यह बात सहज में सब कोई नहीं पकड़ सकता। परन्तु अशुभों के नाश की क्या क्रिया होती है, किस परिमाण में अशुभों की निवृत्ति होने से साधक का कैसा आचरण और कैसी चेष्टा होती है तथा कौन से और कितने शुभगुण आने से साधक में क्या लक्षण दीखने लगते हैं—इस बात को भक्तितत्त्ववेत्ता, भजनशील पुरुष जान जाते हैं। वे शास्त्र एवं भक्तजनों द्वारा कहे गये लक्षणों द्वारा भक्तिपथ में साधक की अवस्थिति अर्थात् यह उन्नति की ओर कितना बढ़ रहा है, सब स्थिर कर लेते हैं—जान लेते हैं।

तत्र भक्त्यधिकारिणः प्रथमं श्रद्धा। सा च तत्तच्छास्त्रार्थे दृढप्रत्यय-मयी। प्रक्रम्यभाणयत्नैकनिदानरूपतद्विषयकत्वैकनिर्वाहरूपसादरस्पृहा च। सा च सा च स्वाभाविकी केनापि बलादुत्पादिता च। ततश्चाश्रितगुरुचरणस्य तस्य जिज्ञास्यमानसदाचारस्य यच्छिक्षयैव सजातीयाशयस्निग्धभक्त्यभिज्ञसाधुसंगभागी दयः। ततो भजनक्रिया। सा च द्विविधा अनिष्ठिता निष्ठिता च। तत्र प्रथमम-निष्ठिता क्रमेणीत्साहमयी घनतरला व्यूढविकल्पा विषयसंगरा नियमाक्षमा तरंग-रंगिणीति षड्विधा भवन्तीति स्वाधारं विलक्षयति ॥५॥

भक्ति के जो अधिकारी हैं, उनमें सबसे पहले श्रद्धा का उदय हुआ करता है। श्रद्धा कहते हैं भक्तिशास्त्रों में वर्णित विषय में दृढ़ विश्वास का होना। शास्त्र में कहे गये साधनों के अनुष्ठान में विशेषरूप से यत्नशील होकर तदनुसार कार्य करने की जो आदर सहित इच्छा है, उसे भी श्रद्धा कहा जाता है। यह दोनों प्रकार की श्रद्धा पुनः दो प्रकार की है—एक तो स्वाभाविकी श्रद्धा, दूसरी वह श्रद्धा, जो किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार जबर्दस्ती पैदा की जाती है। जैसे भी हो इस श्रद्धा के उत्पन्न होने पर गुरुचरणों का आश्रय ग्रहण करते हुए सदाचार अथवा भजनादि आचरण के विषय में जानने की जिज्ञासा इच्छा पैदा होती है। ऐसी जिज्ञासा होने पर सदाचार भजनादि की शिक्षा से अपने

अभीष्ट भजनीय-इष्टदेव के अनुकूल आशययुक्त प्रेममय भक्तिपथ को जानने वाले साधु-महत् पुरुषों के सङ्ग रूप भाग्य का उदय होता है। साधु-सङ्ग प्राप्त होने के बाद भजन-क्रिया का वास्तविक आरम्भ होता है। भजन-क्रिया दो प्रकार की है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। इनमें पहली जो अनिष्ठिता नामक भजन-क्रिया है, वह क्रमशः उत्साहमयी, घनतरला, व्यूढ विकल्पा, विषयसङ्गरा, निय-माक्षमा एवं तरङ्गरङ्गिणी—इन छः भेदों में विभक्त होती है। अन्त में अपने आधार-स्वरूप श्रीभगवान् में बद्धलक्ष्य या केन्द्रित हो जाती है ॥५॥

विश्वोद्लासिनी टीका—समस्त क्लेशोंको क्रमशः नाश करने वाली एवं समस्त शुभ गुणों को प्रदान करने वाली साधन-भक्ति का अधिकारी कौन है? कैसा व्यक्ति भक्ति पथ की ओर अग्रसर होता है—इस विषय में श्रीचक्रवर्त्तिपाद का कहना है कि भक्ति में प्रवेश करने से पहले श्रद्धा का उदय होता है। श्रद्धा के बिना कोई भी प्राणी भक्ति में प्रवेश नहीं कर सकता। जहाँ तक भक्ति के अधि-कार की बात है, प्राणीमात्र का स्वरूपगत अधिकार है भक्ति की प्राप्तिके लिए। उसमें भी भक्ति साधन के करने, समझने के योग्य एवं सक्षम होनेके कारण मानव देहधारी मात्र ही भक्ति का अधिकारी है। जाति, कुल, वर्ण स्त्री-पुरुष आदि की कोई भी शर्त नहीं है—भक्ति के अधिकार या आचरण में। श्रीमन्महाप्रभु का स्पष्ट उद्घोष है—

कृष्णभजने नाहि जाति-कुलादि-विचार।

—श्री चै० च० २।२।३८

पद्मपुराण का कहना है—

सर्वेधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ॥

हे राजन् ! भक्तिमार्ग के साधन में जैसे हर एक का अधिकार है, (उसी प्रकार माघ स्नान में भी सबका अधिकार है) अर्थात् भक्ति में सर्वाधि-कार स्वतः सिद्ध है।

किन्तु भक्ति-साधन में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति किसी जाति, किसी वर्ण आदि का भी क्यों न हो, उसके लिए श्रद्धा की शर्त अनिवार्य है। श्रद्धावान् मनुष्य ही भक्ति का अधिकारी है—

श्रद्धावान् जन ह्य भक्त्ये अधिकारी।

—श्री चै० च० ३।४।६३

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि केवल भक्ति पथ में ही नहीं, कर्म, योग एवं ज्ञान मार्ग में भी पूर्ण श्रद्धा की शर्त है, वरना कोई भी साधक उन-उन मार्गों में अग्रसर नहीं हो सकता। श्रद्धा के बिना क्या कोई व्यक्ति धृत-हवि आदि अनेक मूल्यवान् वस्तुओं को आग में फूँक देगा? यज्ञ-हवन करने वाले कर्मों व्यक्तियों में दृढ़ विश्वास या श्रद्धा ही होती है कि उन्हें मरने के बाद स्वर्गादि लोकों का सुख प्राप्त होगा, इसलिए वे यज्ञ-हवन करते हैं। मरने के बाद फल

प्राप्त करने की उनमें श्रद्धा है। योगीजन अनेक तपस्याओं द्वारा प्राणकण्ट सहते हैं—इसी श्रद्धा-विश्वास के बलबूते पर कि उन्हें सिद्धि-ऋद्धि प्राप्त होगी, और ऐसे ही ज्ञान मार्ग के साधक सायुज्य मुक्ति पाने में श्रद्धा रखकर सर्व त्याग कर आत्म सत्ता को लुटाते फिरते हैं किन्तु इन मार्गों के पथिकों की श्रद्धा और भक्ति मार्ग की श्रद्धा में बहुत बड़ा पार्थक्य है। श्रद्धा रखकर ये अपने साधनों में प्रवृत्त होते हैं। फिर उनके साधन ही भक्ति की सहायता लेकर उन्हें उनका अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। परन्तु श्रद्धा रहते हुए भी यदि कर्म-ज्ञान के साधनों में त्रुटि होगी तो फल नहीं प्राप्त होगा, भक्ति-मार्ग की श्रद्धा ही स्वयं उन्हें अभीष्ट फल प्राप्त करा देती है। श्रद्धा ही रति एवं प्रेम भक्ति महल की पहली सीढ़ी है।

विशेषतः श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्ति की हेतु केवल मात्र वह श्रद्धा ही है जिसका परिचय श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातनपाद गोस्वामिपाद को दिया है—

श्रद्धा-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।

कृष्ण-भक्ति कैले सर्वकर्म कृत तय॥

—श्री चै० च० २।२२।३७

कृष्ण भक्ति करने से समस्त कर्मों-साधनों का फल प्राप्त हो जाता है, स्वतन्त्र भाव से और किसी साधन-कर्म को करने का प्रयोजन नहीं है—शास्त्रों के इस वाक्य में सुदृढ़ निश्चयात्मक विश्वास का होना ही श्रद्धा है। इससे प्रेम प्राप्ति होती है।

इस प्रकार की श्रद्धा में बुद्धि एवं तर्क का भी कोई दखल नहीं है। दूसरे शब्दों में शास्त्र वचनों में अन्ध-विश्वास होना ही वास्तविक श्रद्धा है। शास्त्रों में वर्णित साधन अनुष्ठानों को आदर सहित यत्नपूर्वक जो अनुशीलन करनेकी इच्छा है उसे भी 'श्रद्धा' कहा जाता है।

वह श्रद्धा दो प्रकार की है—एक तो है स्वभाविकी। स्वाभाविकी श्रद्धा वह है जो पूर्वजन्म के साधु-सङ्ग एवं महत् कृपा के कारण सहज रूप में ही साधक में उदित होती है। भक्ति शास्त्र वचनों में स्वाभाविक विश्वास होता है।

दूसरी श्रद्धा वह है जो पूर्ण संस्कार रहित एवं शास्त्र ज्ञान-हीन लोगों में दूसरे श्रद्धावान लोगों का आचरण देखकर या कुल परम्परा प्राप्त रीति से उत्पन्न हुआ करती है। इस प्रकार की श्रद्धा कभी-कभी तो स्थिरता को प्राप्त करती है और कहीं-कहीं इसका कुछ भी मूल्य नहीं पड़ता, केवल लोकाचार या देशाचार का यान्त्रिक अनुसरण मात्र ही उसका रूप रह जाता है।

कैसे भी हो श्रद्धा के उदित होने पर भक्ति के विकास का उत्तरोत्तर क्रम आरम्भ हो जाता है। यह पहले आलोचना की जा चुकी है कि भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य। भक्ति की सर्वोत्तम अन्तिम सीढ़ी है प्रेम और उसी की आरम्भिक दशा या पहली सीढ़ी है श्रद्धा। जैसे कि श्रीरूपगोस्वामिपादने भक्ति के विकास क्रम का निरूपण किया है भक्ति रसामृतसिन्धु ग्रन्थरत्न में—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।

ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमान्मुदञ्चति।

साधकानामय प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

—म० र० सि० १।४।१५-१६

—आदि में श्रद्धा उसके बाद साधु-सङ्ग फिर भजन-क्रिया। उसके बाद अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा और फिर रुचि पैदा हुआ करती है। उसके बाद आसक्ति, फिर भाव और प्रेम उदित होता है—साधकों में प्रेम विकास का यह क्रम है।

इसी क्रमको लक्ष्य कर श्रीचक्रवर्त्तिपाद कह रहे हैं कि श्रद्धाके उत्पन्न होने पर साधु-सङ्ग प्राप्त होता है। साधु शब्दका वास्तविक अर्थ है श्रीभगवत्कृत, श्रीभगवान् के परम प्रिय भक्त स्वरूप हैं श्रीगुरुदेव, जिनसे दीक्षा एवं भजन-शिक्षा प्राप्त की जाती है। उनके चरणाश्रित होकर साधक अपने भजनीय भगवत् स्वरूप की आनुकूल्यमयी प्रीति तथा अपने भावानुकूल भजन की जिज्ञासा करता है तथा वैष्णव-सदाचार की शिक्षा भी प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। श्रीगुरुदेव के संग एवं चरण सेवा द्वारा भजन किस प्रकार किया जाता है—यह सब शिक्षा साधक शिष्यको प्राप्त होती है। शिष्यता स्वीकार किये बिना अथवा श्रीगुरुचरण आश्रय लिए बिना जो मनमाना भजन है, भावनाओं की उड़ानें लेना है, उनसे कभी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। कभी भी भक्ति की कृपा लाभ नहीं हो सकती। दीक्षा गुरु के अप्रकट हो जाने पर अथवा उनसे दूर अवस्थित रहने पर दूसरे सजातीय महत् पुरुषों से भी भजन-शिक्षा प्राप्त की जाती है।

भजन-क्रिया के भी दो प्रकार हैं—एक अनिष्ठिता और दूसरी निष्ठिता। निष्ठिता और भजनक्रिया में कभी शिथिलता और गिरने का भय नहीं होता। निर्विघ्न रूप में भजन-क्रिया का निर्वाह होता चला जाता है और भजन-पथ में अनुराग पूर्वक अग्रसर गति होती चली जाती है, परन्तु अनिष्ठिता भजन-क्रिया छः प्रकार की है। जिसका वर्णन आगे विस्तार पूर्वक करते हैं।

तत्रोत्साहमयी प्रथममेव शास्त्रमध्येतुमारभमाणस्य सर्वलोकश्लोक्यमान-पाण्डित्यसुपपन्नमिव स्वस्मिन् मन्यमानस्य वदोरिव उत्साहं स्वाधिकरणस्य प्रचुर-यतीत्युत्साहमयी॥६॥

१. उत्साहमयी—छात्र जब सर्वप्रथम शास्त्र अध्ययन आरम्भ करता है, तो वह अपने मन में ऐसे मानने लगता है कि 'मुझमें समस्त लोगों द्वारा प्रशंसनीय पाण्डित्य उत्पन्न हो आया है।' ऐसा मान लेने से एक उद्यम या उत्साह सा उत्पन्न होकर मानो आरम्भ किये हुए अध्ययन-विषय के प्रति उसमें अतिशय अभिनिवेश सञ्चार हो जाता है। उसी प्रकार भक्ति-मार्ग में प्रवेश करने मात्र से भक्त में उत्साहमयी चेष्टा देखने में आती है। इसलिए इस अवस्था को 'उत्साहमयी' भजन-क्रिया कहा जाता है।

विश्वोत्सासिनी टीका—तात्पर्य यह है कि भक्त जब भजन करना आरंभ ही करता है, तब उसके मन में ऐसा लगता है कि मैं एक सुन्दर-पथ का अनुसरण कर रहा हूँ। सब लोग मुझे श्रेष्ठ मानने लगे हैं, मुझे भक्त मानने लगे हैं। इस भाव से प्रेरित होकर वह सर्व प्रथम अध्ययन में प्रवेश करने वाले छात्र की तरह भजन में भी उत्साहित हो उठता है। भजन में वह यत्न पूर्वक उद्यम, उत्साहमयी चेष्टायें करने लगता है। यह जो भक्त के भजन की प्रथम अवस्था है इसका नाम है—“उत्साहमयी।”

अथ घनतरला। प्रक्रम्यमाणानि भक्त्यङ्गानि कदाचिन्निर्वहन्ति कदाचिच्च न वेति घनत्वं तरलत्वञ्चास्याः यथा वटोः शास्त्राभ्यासः कदाचित् सान्द्रः कदाचित् तदर्थप्रवेशासमर्थतया सारस्यानुदयेन शिथिलश्च ॥७॥

घनतरला—जैसे नवीन-छात्र का शास्त्र-अभ्यास अथवा अध्ययन कभी गाढ़ और कभी उस पाठ में प्रवेश न होने के कारण या रस न आने से अध्ययन में उद्यम शिथिल पड़ जाता है, उसी प्रकार भक्ति अङ्ग के सम्यक् निर्वाह होते जाने पर भक्त की भजन-क्रिया में गाढ़ता दीखती है और कभी उसका निर्वाह न हो सकने पर भजन-क्रिया में तरलता, शिथिलता आ जाती है।

विश्वोत्सासिनी टीका—तात्पर्य यह है कि भक्त जब भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करने लगता है, यदि उन अंगों का अनुष्ठान भली प्रकार से निभता चला जावे और उसमें कोई बाधा-विघ्न न आवे तो उसका भजन भी दिन-ब-दिन गाढ़ता (दृढ़ता) प्राप्त करता चला जाता है। परन्तु जब उस अनुष्ठान में भजनकारी के चित्त का प्रवेश नहीं हो पाता, उसमें उसे रस नहीं आता, या बाधा-विघ्न के कारण अथवा किन्हीं कारणों-वश उसे सम्पन्न करने में असमर्थ हो जाने के कारण उसकी सरसता का वह अनुभव नहीं कर पाता, तो उसकी भजन-क्रिया शिथिल पड़ जाती है। भजन विषयक उसके यत्न में ढील आ जाती है। इस प्रकार से उत्साह और कभी निरुत्साह होनेके कारण भजन-क्रिया में कभी गाढ़ता और कभी तरलता—ढीलापन आ जाता है। इसलिए इस प्रकार की भजन-क्रिया को ‘घनतरला’ कहा गया है।

अथ व्यूढ विकल्पा। किमहं सपरिग्रह एव पुत्रकलत्रादीन् वैष्णवीकृत्य भगवत्परिचर्यायां नियोज्य गृहएव सुखं तं भजे, किंवा सवानेव परित्यज्य निर्विक्षेपः श्रीवृन्दावनं ध्येयस्थानमेवासीनः कीर्तनश्रवणादिभिः कृतार्थी भवेयम्। स च त्यागः किं भुक्तमोगस्यावगतविषयविषयदावदवथोर्मम चरमदशायामेव किं बाधुनैव समुचित इति। किंच “तामीक्षेदात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्” इति दृष्ट्या आश्रमस्यास्याविश्वास्यतया “यो दुस्त्यजान् दारमुतान्” इत्यत्र “जहौ युवैव मलवत्” इत्यादि दृष्ट्या त्यक्त विलम्बस्त्रापि “अहो मे पितरौ वृद्धौ” अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः” इति भगवद्वाक्येन त्यागोऽलव्यबलश्च सम्प्रत्येव प्राणधारणमात्रवृत्तिवत् तदेव प्रविश्याष्टावेव च यामानभ्यर्थयानीति। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विह” इत्यत्र तु वैराग्यस्य भक्तिजनकत्वे एव दोषो न तु

भक्तिजनितत्वोऽति तदनुभावरूपतया तदधीनत्वमिति। ‘यद्यदाश्रममगात् स भिक्षुस्तत्तदन्नपरिपूर्णं भक्षत इति न्यायेन कदाचिद् वैराग्यं “तावद् रागादयस्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्” इति कदाचित् गाहस्थञ्च निश्चिन्वन् किमहं कीर्तनमेव किंवा कथाश्रवणमपि उत सेवामेव उताहो तावदम्बरीषादिवदनेकांगामेव भक्तिं करबे-इत्यादि विविधा एव प्राप्ता विकल्पा यत्र भवन्तीति व्यूढविकल्पा ॥८॥

(३) व्यूढ विकल्पा—[भजनकारी के हृदय में अनेक विकल्प उदित होते हैं। उन अनेक भाँति के विकल्पों को दिखा कर इस व्यूढ-विकल्पा अवस्था का वर्णन करते हैं।]

“क्या मैं परिवार सहित पुत्र-कलत्रादि को वैष्णव बनाकर भगवत्-सेवा में नियुक्त करके घर में ही रह कर सुख-पूर्वक श्रीभगवान् का भजन करूँ या पुत्र-कलत्र सब को त्यागकर विक्षेप रहित होकर ध्येय स्थान श्रीवृन्दावन में वास करते हुए श्रवण-कीर्तनादि नवविधा भक्ति के अङ्गों का अनुष्ठान कर कृतार्थता लाभ करूँ?” “त्याग भी यदि इसका करूँ तो विषय भोग कर इन विषयों के कष्ट-दायित्व की अच्छी प्रकार अनुभव कर अन्तिम दशा में मैं त्याग करूँ या इसी क्षण ही संसार का त्याग करना समुचित है?” “किन्तु शास्त्र में लिखा है कि अपनी स्त्री को तृणों से ढके कुँए की तरह मृत्यु रूप जानना चाहिये।” इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम को विश्वास योग्य न जानकर सहज में न त्यागे जाने वाले स्त्री-पुत्रों को त्याग देना चाहिये।” फिर यह भी इसी श्लोक में कहा गया है कि ‘उसने युवा अवस्था में ही संसार का मलवत् त्याग कर दिया।’ परन्तु दूसरी विचार दृष्टि से शीघ्र त्याग करना उचित भी नहीं है क्योंकि ‘मेरे माता-पिता वृद्ध हैं,’ (उनको असहाय छोड़कर जाने से भजन में सिद्धि नहीं होगी)। शास्त्र यह भी कहता है कि ‘जो अतृप्त अवस्था में संसार त्याग कर देता है और फिर उसका चिन्तन करते-करते भरता है तो भयंकर अन्धकारमय नरक लोक को जाता है।’ श्रीभगवान् के इस वचन से भजनकारीका शीघ्र त्याग करने का सङ्कल्प कमजोर पड़ जाता है और विचार करता है—“अब तो किसी तरह जीवन धारण करना चाहिये। फिर यथा समय वन में जाकर आठों याम भजन करूँगा।” शास्त्र के इन वचनों पर भी विचार करता है—“भक्तिपथ में न तो प्रायः ज्ञान कल्याणकारी है और न वैराग्य।” इस वाक्य से यह सोचता है कि भक्ति की उत्पत्ति में वैराग्य एक दोष ही है। भक्ति के उदित हो जाने पर फिर वैराग्य को दोष न समझ कर भक्ति का एक अनुभाव (लक्षण) माना जा सकता है जो भक्ति के आधीन या अनुकूल हुआ करता है। “वह संन्यासी जिस-जिस आश्रम में गया, उस-उस आश्रम को उसने अन्न से परिपूर्ण पाया”—इस सुप्रसिद्ध न्याय से किसी समय भी वैराग्य या संन्यास लिया जा सकता है।” शास्त्र यह भी कहता है—“जब तक श्रीभगवत् अनुराग अर्थात् भक्ति का उदय नहीं होता, तब तक ही गृह कारागृह (जेल) के समान बन्धन है।” इस कथनानुसार गृहस्थाश्रम में ही रहने का निश्चय कर क्या मैं कीर्तन करूँ? अथवा सेवा करूँ या राजा अम्बरीष की

तरह भक्ति के अनेकों का आचरण करूँ”—इस प्रकार के विविध विकल्प भजनकारी के मन में जिस अवस्था में उदित होते रहते हैं—उसे ‘व्यूढ-विकल्पा’ कहते हैं।

विश्वोत्सासिनी टीका—भजन करने में प्रवृत्त होने पर अनेक प्रकार की वितर्क (दलीलें) उठा करती हैं। कभी तो भजनकारी यह सोचता है कि मैं अपने पुत्रादि को वैष्णवी-दीक्षा दिलाकर उसे घरकी मन्दिर सेवा एवं घर-गृहस्थी के कार्य में लगा दूँ और फिर सुख पूर्वक भजन करूँ। कभी यह सोचता है कि गृहस्थ को छोड़ कर वृन्दावन या किसी और भगवत् लीलास्थली या वन में ही जाकर वास करूँ। इससे मेरे सब विक्षेप दूर हो जायेंगे। वहाँ ही श्रवण कीर्तनादि नवविधा भक्ति-अङ्गों का आचरण करके मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।” घर को त्यागने का विचार आते ही उसके मन में फिर यह वितर्क उठता है कि विषयों को अच्छी प्रकार भोग लूँ। जब ये कष्ट देने वाले दीखेंगे तभी वृद्धावस्था में ही इसका त्याग करूँगा। फिर सोचता है क्या अभी ही त्याग कर दूँ।” इस वितर्क के उठते ही उसके सामने श्रीभगवत् का निम्न लिखित श्लोक आता है—

योपयाति शतैर्मया योषिदेवनिमिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥

—श्री मा० ३।३।४०

भगवान् कपिलदेव ने कहा है—“श्री भगवान् की रची हुई जो यह स्त्री रूपिणी माया धीरे-धीरे (सेवा के बहाने) तुम्हारे पास आती है, उसे तिनकों से ढके हुए कुएं के समान अपनी मृत्यु ही जानो।”

इन वचनों से उसे यह विश्वास हो जाता है कि गृहस्थाश्रम स्त्री-पुत्रादि तिनकों से ढके हुए कुएं की तरह धोखे की टट्टी है। इनका त्यागना ही श्रेयस्करो है। विचार आता है वृद्धावस्था में इनको त्याग दूँगा? इस उहा-पोह में पड़े हुए भजनकारी को जवाब मिल रहा है श्रीमद्भगवत् के इस श्लोक में—

यो दुस्त्यजान् दारभुतान् सुहृदराज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवव मलवतुत्तमश्लोकलालसः ॥

—श्री मा० ५।१।४३

राजा भरत ने पुण्यकीर्ति श्रीहरि की प्राप्ति के लिए सुन्दर स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्य को युवावस्था में ही विष्ठा के समान त्याग दिया था, जिनका त्यागना बड़ा ही कठिन है।

इन वचनों से देख कर जब वह गृहस्थाश्रम को त्यागने का निश्चय कर लेता है, तो इतनेमें उसके सामने इस निश्चयके विपरीत शास्त्र-वचन आकर उपस्थित होते हैं—

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥

—श्री मा० १।१।७।५७

हाय ! हाय !! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री और बाल-बच्चे अभी छोटे हैं। मेरे छोड़ जाने पर ये अनाथ हो जायेंगे, दुःखी होकर ये कैसे जीवन धारण करेंगे? बदल जाती है उसकी मनोवृत्ति। अति अन्याय है वृद्ध माता-पिता एवं स्त्री-बच्चों के प्रति इस असहाय दशा में उन्हें छोड़ जाना, बिल्कुल असंगत है। फिर वह मन में सोचता है, जाने दो, माता-पिता, स्त्री-बच्चों की बात, मेरा मन भी तो अभी इन से नहीं भरा है। अति कठिन है, मकान-दुकान हर प्रकार के सुख-भोगों को छोड़ कर एक भिखारी बन कर अकेला रहना। श्रीभगवान् ने भी तो स्वयं कहा है कि—

एवं गृहाशयाक्षिप्त हृदयो मूढधीरयम् ।

अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥

—श्री मा० १।१।७।५८

जिसका मन घर-गृहस्थ की वासनाओं से विक्षिप्त रहता है और जिसका मन त्रिषय-भोगों से अभी तृप्त नहीं हुआ, वह मूढ़-बुद्धि उनका चिन्तन करते हुए यदि शरीर का त्याग करता है तो वह घोर तमोमय नरक में जाता है।

इस प्रकार के वचनों से उस भजनकारी का गृहस्थाश्रम त्यागने का संकल्प समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह अपने को अभी अतृप्त ही समझता है। इस निश्चय पर पहुँचता है कि अभी तो सुख-पूर्वक गृहस्थ में रहकर जीवन यापन करना चाहिये। विषयों की भी यथोचित रूप से भोग कर तृप्ति लाभ करनी चाहिए। समय आयेगा फिर वन में चलकर या वृन्दावन में चलकर आठों याम दिन-रात भजन ही करूँगा। उसकी इस धारणा के अनुकूल जब उसे शास्त्र के निम्न लिखित वचन भी मिल जाते हैं तो उसे बड़ा सहारा मिल जाता है—

तस्मान् ममभक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विहि ॥

—श्री मा० १।१२।०।३१

—“इसलिए जो भक्त मेरी भक्ति में लगा हुआ है और मन से मेरा चिन्तन करता रहता है, उस योगी-भक्त के लिए ज्ञान और वैराग्य की आवश्यकता नहीं है, उसका तो कल्याण मेरी भक्ति के द्वारा ही प्रायः हो जाता है।”

ज्ञान-वैराग्य भक्तिर कभु नहे अंग ॥

—श्री चै० च० २।२।५२

ज्ञान और वैराग्य तो भक्ति के अङ्ग कभी नहीं हैं। बल्कि वैराग्य तो भक्ति के उदित होते समय में दोष है, क्योंकि भक्ति उदित होने से पहले का जो वैराग्य है, वह हृदय को कठोर एवं नीरस बना देता है। यहाँ तक कि साधन-भक्ति के अङ्गों में प्रयोजनीय वस्तुओं से भी उसे वैराग्य होता है। भगवत् प्रसादादि से भी उसे वैराग्य होता है जो अपराध बनकर भक्ति को उदित ही नहीं होने देता। हाँ श्रीकृष्ण अनुराग उदित हो जाने पर स्वतः जो मायिक पदार्थों से वैराग्य है, वह भक्ति का एक लक्षण गिना जाता है।

ज्ञान में तो जीव अपने को ब्रह्मचिन्तन करता है। वहाँ सेव्य-सेवक भाव ही नहीं रहता। सेव्य-सेवक भाव ही तो भक्ति का प्राण है। अतः ज्ञान तो सर्वथा विरोधी है भक्ति का।

भक्त को फिर गृह भी ध्यान आता है कि संन्यासी पुरुष जहाँ भी चला जाये, उसे भिक्षा मिलजाती है, किसी समयभी उसे अभाव नहीं रहता। फिर मुझे जल्दी क्या है? जब भी होगा, इस गृहस्थाश्रम की छोड़कर चल दूँगा। कोई चिन्ता नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि तभी तक राग-द्वेषादि दोष चोरों की तरह जीव का सर्वस्व हरण करते रहते हैं, एवं तभी तक ही स्त्री-पुत्र-कलत्र गृहादि कारागृह या बन्धन का कारण है, और तभी तक ही मोह की बेड़ियाँ पाँवों को जकड़े रखती हैं, जब तक यह जीव श्रीकृष्ण का नहीं बनता, श्रीकृष्ण का शरणागत नहीं होता। यह बात चार मुख वाले, चार मस्तकों वाले श्रीब्रह्माजी ने ही तो कही है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावन् कारागृहं गृहम्।

तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

—श्री भा० १०।१४।३६

वस अब वह यही निश्चय कर लेता है कि मुझे घर-बार छोड़ने की कोई जरूरत नहीं, कहीं जाने की दरकार नहीं, गृहस्थाश्रम में रहकर श्रीकृष्ण की शरणागति लेनी है। श्रीकृष्ण नाम-रूप-लीला का कीर्तन करूँगा, एवं उनकी कथाओं का नित्य श्रवण करते हुए उनकी ही सेवा-पूजा करता रहूँगा। क्या राजा अम्बरौष ने राज्यगृह में रहकर भक्ति के समस्त अङ्गों का पालन कर श्रीभगवान् को अपने वशीभूत नहीं कर लिया था? मैं भी उनकी तरह गृहस्थ में रहकर भक्ति के सर्व अङ्गों का आचरण करूँगा।

इस प्रकार के अनेक विधि संकल्प-विकल्पों में पड़कर भजनकारी कुछ निर्णय नहीं कर पाता। शास्त्र के विविध वचनों का, जो वास्तव में अविरोधी हैं, आपात दृष्टि से विरोध अनुभव करते हुए वह द्विविधा में पड़ जाता है। घर में रहकर भजन करूँ कि घर-बार छोड़कर वन में जाकर भजन करूँ। अभी त्याग करूँ कि वृद्धावस्था में त्याग करूँ। भजन-क्रिया में इस प्रकार की जी अवस्था है, उसका नाम है “व्यूढ-विकल्पा।”

अथ विषयसङ्गरा—

“विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशः सुदूरतः।

वाहणीदिग्गतं वस्तु ब्रजन्तैर्द्रो किमाप्नुयात्॥”

इति भोगा एव बलात् स्वस्मिन्नभिनिवेश्य मां भजने शिथिलयन्तीति तद मस्त्यक्त्वा नामग्राहं कांश्चन कांश्चन त्यक्तवतोऽपि भुञ्जानस्य—“जुषमाणश्चतान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वर” इति भगवद्वाक्यस्योदाहरणत्वं प्राप्तवतस्तस्य पूर्वाभ्यस्तैर्विषयैस्तैः सह सङ्गरो युद्धं कदाचित् तत्पराजयः कदाचित् स्वपराजय इति विषयसङ्गरा ॥६॥

(४) विषयसङ्गरा—शास्त्र में कहा गया है कि जिनका चित्त विषय-भोगों में लिप्त हो रहा है, उनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्त होना अति कठिन है—दूर की वस्तु है। जो वस्तु पश्चिम दिशा में रखी हुई है, क्या उसे पूर्व दिशा में जाने वाला व्यक्ति प्राप्त कर सकता है? अर्थात् पूर्वगामी व्यक्ति को कभी भी पश्चिम में रखी हुई वह वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। (इस शास्त्र-वचन को देखकर भजनकारी भक्त सोचता है) —इसीलिए ये सब विषय भोग मुझे बल-पूर्वक अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं और मेरी भजनासक्ति को शिथिल किए दे रहे हैं। इसलिए मैं इन समस्त विषयों को त्याग कर श्रीहरिनाम का आश्रय ग्रहण करूँगा।” ऐसा सोचने पर भी विषयों को त्याग करने पर भी बरबस उनका भोग हो जाता है। जैसे कहा गया है कि—“परित्याग करने पर भी असमर्थ होकर वह अनेक कामनाओं का घृणा सहित भोग करता है।” श्रीभगवान् के कथित इस शास्त्र वाक्य को उदाहरण रूप में लेकर उन विषयों के साथ, जिनको पहले वह भोगता रहा है, सङ्गर अर्थात् युद्ध करता रहता है। कभी तो वह विषयों पर जीत पा लेता है और कभी स्वयं उनसे पराजित हो जाता है। विषयों के साथ युद्ध होते रहने से भजन-क्रिया की इस अवस्था को “विषयसङ्गरा” कहते हैं ॥६॥

विश्वोल्लासिनी टीका—शास्त्र का कहना है कि जहाँ विषय या भोगा-सक्ति है, वहाँ से कृष्ण-भक्ति कोसों दूर है। विषय भोगासक्ति का अर्थ है भोगों में प्रीति, जिसका फल है—मायिक पाँचभौतिक शारीरिक, क्षणभंगुर दुःखमय-सुख, अनित्य सुख। परन्तु श्रीकृष्ण-भक्ति है—श्रीकृष्ण में प्रीति, जिसका पर्यवसान है—श्रीकृष्ण-इन्द्रिय सुख में, जिसका फल है—श्रीकृष्ण-चरण-सेवा। अतः भोगा-सक्ति है कृष्ण बहिर्मुखता। जो भक्ति से बिल्कुल विपरीत है। प्रतिकूल मार्ग है। एक तो पश्चिम की ओर ले जाने वाला और दूसरा पूर्व की ओर।

इस बात को विचार कर भजनकारी भक्त यही निश्चित करता है कि मेरे भजनमें जो शिथिलता आ रही है, उसका कारण है विषय-भोगों में मेरी आसक्ति। मुझे ये अपनी ओर बरबस खींचकर श्रीकृष्ण चरण-प्राप्ति से दूर ले जा रहे हैं। अतः मुझे इनको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये। घर-गृहस्थ में रहते हुए भी उत्तम भक्ति है—‘श्रीनाम सङ्कीर्तन’, जिससे नवविधा भक्ति परिपूर्ण हो जाती है।

नवविधा भक्ति पूर्णहय नाम हस्ते।

परन्तु ऐसा निश्चय करने पर भी, विषय-भोगों से घृणा एवं निन्दा करने पर भी, उसे विषय कभी-कभी दबा लेते हैं। माया शक्ति प्रबल है न? फिर कृष्ण-बहिर्मुख जीव पर तो माया का जोर चलता ही है, क्योंकि जब तक पूर्ण शरणागति नहीं हो जाती, माया भजनकारी व्यक्ति को भी घेरती-पछाड़ती ही रहती है। न चाहने पर भी भक्त विषयों के फन्दे में फँस जाता है, परन्तु

जब भगवत् चिन्तन या शरणागति प्रबल हो उठती है, उस समय विषयों को भी पराजित कर देता है, उनके वशीभूत नहीं होता।

श्री भगवान् ने कहा है—

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ निश्चयः ।

जुशमाणश्च तादृकामाद् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥

—श्री मा० ११।२०।२७-२८

—जो साधक विषय भोगों का त्याग करना चाहते पर भी असमर्थ है, उसे भोग तो भोग ही लेना चाहिये, परन्तु उसे श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रेम से मेरा भजन करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि एक ऐसीभी स्थिति है कि विषय-भोगोंको वृणित एवं निन्दनीय जानकर उनको भजनकारी भक्त छोड़ना चाहता है, परन्तु वह इतना समर्थ नहीं होता कि हर समय उन पर विजय प्राप्त कर ले। कभी प्रभु कृपा वल से वह विषयों को पछाड़ भी देता है और कभी उनसे पछड़ भी जाता है। विषयों से उसका प्रायः हर समय यही युद्ध चलता रहता है। भजन-क्रिया की इस अवस्था का नाम है “विषयसङ्गरा”।

अथ नियमाक्षमा—अद्यारभ्य इयन्ति नामानि गृहीतव्यानि एतावत्यश्च प्रणतयः कार्या इत्यमेव तद्भक्ता अपि सेवनीया भगवदसम्बद्धा वाचोऽपि नोच्चारणीया ग्राम्यवार्त्तावतां सन्निधिस्युक्तव्य इत्यादि प्रतिदिनमपि प्रतिजानतोऽपि समये तथा न क्षमत्वम्—इति नियमाक्षमा विषयसङ्गरायां विषयत्यागाक्षमत्वम्—अत्र तु भक्त्युत्कर्षाक्षमत्वमिति भेदः ॥१०॥

(५) नियमाक्षमा—“आज से मैं दस हजार या एक लाख भगवन्नाम ग्रहण करूँगा। उसके बाद इतनी संख्या में श्री भगवान् को प्रणाम करूँगा। इतने भगवत्-भक्तों की सेवा भी करूँगा, और श्री भगवान् से जिस बात का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी कोई भी बात नहीं करूँगा। जो ग्राम्य-वार्त्ता करने वाले हैं, उन व्यक्तियों का संग भी त्याग कर दूँगा।” इत्यादि इस प्रकार प्रतिदिन प्रतिज्ञा या नियम-सङ्कल्प करने पर भी समय आने पर भजनकारी वैसा नहीं कर पाता है। ऐसी जो एक अवस्था है वह है ‘नियमाक्षमा।’ पूर्वकथित विषयसङ्गरा में विषयों को त्यागने में असमर्थता रहती है और इस नियमाक्षमा में भक्ति-साधन को बढ़ाने में असमर्थता रहती है—यही इन दोनों में भेद है ॥१०॥

विश्वोत्लासिनी टीका—भजनकारी अपने भजन को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन सङ्कल्प करता है या नियम ग्रहण करता है कि मैं एकलाख श्री हरिनाम ग्रहण करूँगा, इतने भगवत्-प्रणाम करूँगा, इत्यादि। परन्तु वह अपने नियम को पूरा करनेमें समर्थ नहीं होता। न तो उतना नामही ग्रहण कर पाता है, न इच्छित प्रणाम। भगवदेत्तर बातें भी उससे ही जाती हैं। ग्राम्य-वार्त्ता (स्त्री एवं स्त्री सम्बन्धी पुरुषों की वार्त्ता) करने वाले व्यक्तियों से भी वह नहीं बच पाता।

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

अर्थात् अपने भजन साधन को वह बढ़ाना चाहता है, उसके लिए रोज नियम या सङ्कल्प भी लेता है, परन्तु उसका पालन नहीं कर पाता। भजन-क्रिया की इस अवस्था को “नियमाक्षमा” कहते हैं।

विषयसंगरा तथा नियमाक्षमा में अन्तर इतना है कि विषयसंगरा में भजनकारी भक्त में विषयों को त्यागनेकी असमर्थता रहती है, वह पूर्ण समर्थ नहीं होता। कभी विषयों को पराजित कर देता है, और कभी विषयों से पराजित भी होता रहता है। नियमाक्षमा में भजन-साधन को बढ़ाने में पूर्ण समर्थ नहीं होता। क्या हुआ, कभी कुछ बढ़ा लिया, दूसरे दिन पहले से भी कम। इस प्रकार नियम को बढ़ाकर पालन करने में भक्त असमर्थ होता है। इसका विशेष कारण भजन में रसास्वादन की अनुभूति न होना है। रसानुभूति न होने से साधक का भजन अनुराग-रञ्जित नहीं होता, अतः उसे बढ़ाने में, उसमें पूर्ण आविष्ट होने में साधक असमर्थ रहता है।

अथ तरङ्गरङ्गिणी—भवतेः स्वभाव एवायं यत् तद्वति सर्वेऽपि जना अनुरज्यन्तीति—“जनानुरागप्रभवा हि सम्पद” इति प्राचां वाचोऽपि। भक्त्युत्थासु विभूतिषु लाभपूजाप्रतिष्ठाविषु वल्लीवलितासु पशाखासु तरंगेऽपि वाचरन्त्या अस्या रङ्ग इति तरङ्गरङ्गिणी ॥११॥

६. तरङ्गरङ्गिणी—भक्ति का यह स्वभाव है कि जिसमें भक्ति उदित होती है, उसके प्रति सब लोगों की स्वाभाविक अनुरक्ति हो उठती है और “लोगों के अनुराग के फल-स्वरूप उसे अनेक सम्पद की प्राप्ति होती है”—प्राचीन मनीषिगण का यही कथन है। भक्ति से उत्पन्न या प्राप्त होने वाली लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि सब विभूतियाँ भक्ति कल्पलता की उपशाखाएँ हैं। इन उपशाखाओं को यहाँ भक्ति-महासागर की तरंगों के रूप में वर्णन किया गया है, भजन-क्रिया की इस अवस्था में साधक अनेक रंग-क्रीड़ा देखता है। इसलिए इस अवस्था को ‘तरंग-रंगिणी’ कहा गया है।

विश्वोत्लासिनी टीका—भक्तिरसामृतसिंधु (१।१।२८) में पद्मपुराण का एक वचन इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

येनाचितो हरिस्तेन तपितानि जगन्त्यपि।

रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि ॥

—जिस व्यक्ति ने श्रीभगवान् की पूजा-भक्ति की है, उसके द्वारा समस्त जगत्वासी तृप्त हो जाते हैं। स्थावर जङ्गम सब ही उस भक्त से अनुराग करने लगते हैं। अनुरागका फल यह होता है कि वे भक्तका सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा करने लगते हैं। उसे अनेक धनादि वस्तुएँ भी सेवा-पूजा के भाव में देने लगते हैं। इतना ही नहीं वैषयिक, ब्राह्म एवं ऐश्वर्य तीनों प्रकार के सुख-सम्पद अपने आप ही आकर प्राप्त होने लगते हैं। जैसा कि भक्तिरसामृतसिंधु १।१।२१ का कथन है—

—अणिमादि परमाश्चर्यमयी सिद्धियाँ, अथवा भुक्ति (विषयसुख), मुक्ति (ब्रह्मसुख) तथा नित्य परमानन्द श्रीगोविन्द में भक्ति करने वाले भक्त को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य यह है कि भगवान् के भक्त को सब प्रकार की सम्पदा, मान प्रतिष्ठा, सुख, सिद्धियाँ अपने आप ही आकर प्राप्त होने लगती हैं । यह भक्ति लता की उपमाखाएँ हैं जो वास्तव में भक्ति की विरोधी हैं । यहाँ तक कि भक्ति को नष्ट कर स्वयं ही पुष्ट हो जाती हैं । जैसे किसी लता के इर्द-गिर्द दूब आदि अन्य अतिच्छिन्न पत्र-पौधे अपने आप उग आते हैं और यदि उनको उखाड़ न फेंका जाये तो वे ही जलादि से पुष्ट होते जाते हैं और मूल-लता बढ़ने से रह जाती है, अन्ततः सूख भी जाती है । इसी प्रकार लाभ-मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि सर्व सम्पदाएँ अपने आप आने लगती हैं—इस अवस्था का नाम है—“तरङ्गरङ्गिणी” । अनेक तरंगें उठती हैं मानो भक्ति महासागर में । इसलिए इसका नाम तरंग-रङ्गिणी है ।

यह स्मरणीय है कि यदि भक्त इन लाभ-पूजा-प्रतिष्ठादि लहरों में बह जाता है तो वञ्चित रह जाता है वह भक्ति के परम फल श्री भगवद् प्राप्ति से । अतः पूजा-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा तो क्या, अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ यहाँ तक कि चारों प्रकार की मुक्तियाँ भी जो अपने आप आ उपस्थित होती हैं । भक्त उन्हें अति तुच्छ समझ कर ठुकरा ही देते हैं, तभी वे अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकते हैं ।

इति महामहोपाध्याय श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिविरचितायां
माधुर्यकादम्बिन्यां भक्तेः श्रद्धादि क्रमत्रयकथनपूर्वकं
भजनक्रियाभेदकथन नाम द्वितीयामृतवृष्टिः ॥२॥

इसप्रकार श्रीश्यामदासकृत विश्वोल्लासिनीटीका सहित माधुर्यकादम्बिनी
अन्तर्गत भक्तिके श्रद्धादि-त्रय क्रम कथनपूर्वक भजन-क्रिया की
भेद कथन नामक द्वितीयामृत-वृष्टि समाप्त हुई ॥२॥



श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ति-रचिता माधुर्य-कादम्बिनी



तृतीयामृतवृष्टिः

अथाऽनर्थानां-निवृत्तिः । ते चाऽनर्थाश्चतुर्विधाः— दुष्कृतोत्थाः सुकृतोत्था अपराधोत्था भक्त्युत्थाश्चेति । तत्र दुष्कृतोत्था दुरभिवेश-द्वेष रागाद्याः पूर्वोक्ताः क्लेशा एव । सुकृतोत्था भोगाभिवेशा विवधा एव । ते च क्लेशान्तः पातिन इति केचित् । अपराधोत्था इत्यत्र नामापराधा एव गृह्यन्ते । सेवाऽपराधानान्तु नामभिस्तत्तान्निवर्तकस्तोत्रपाठैः सेवासातत्येन च भव्यस्य विवेकिनः प्रायः प्रतिदिनमेवोपशमेनाऽङ्कुरीभावाऽनुपलब्धेः । किन्तु तत्तदुपशमसम्भववलेन तत्र सावधानता शैथिल्ये सेवापराधा अपि नामापराधा एव स्युः ।

तथा ह्युक्तम्—“नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि” इति । तत्र नाम इत्यु-
पलक्षणं भक्तिमात्रस्यैवोपशमकस्य । धर्मशास्त्रेऽपि प्रायश्चित्तबलेन पापाचरणे
न तस्य पापस्य क्षयः प्रत्युक्तं गाढतेव ।

अब अनर्थ-निवृत्ति का वर्णन करते हैं—वे अनर्थ चार प्रकार के हैं ।

१. दुष्कृतोत्थ, २. सुकृतोत्थ, ३. अपराधोत्थ एवं ४. भक्त्युत्थ

‘दुष्कृतोत्थ’ अनर्थ हैं— दुरभिवेश, द्वेष, राग (आसक्ति) आदिक जिनको पहले क्लेश ही कह कर वर्णन किया जा चुका है । नाना प्रकार के भोगों के अभिवेश को ‘सुकृतोत्थ’ कहा जाता है । कोई एक महर्षि इनकी गणना क्लेशों के अन्तर्गत ही करते हैं । नाम-अपराधों को ही यहाँ ‘अपराधोत्थ-अनर्थ’ समझना चाहिये । (सेवा-अपराधों को नहीं) क्योंकि विचारवान् सत्पुरुषों के सेवा-अपराध तो प्रायः नाम द्वारा, सेवा-अपराधों को दूर करने वाले स्तोत्रों के पाठ द्वारा एवं निरन्तर भगवत् सेवा करते रहने से प्रतिदिन निवृत्त होते रहते हैं । अतः सेवा-अपराधों का अङ्कुर भी उत्पन्न नहीं हो पाता । किन्तु ‘सेवा-अपराधों की निवृत्ति नाम, स्तोत्र-पाठादि से ही जाती है’—इस बल पर सेवा-अपराधों से सावधानता बर्तने में शिथिलता आ जाने पर वे सेवा-अपराध भी नामापराध बन जाते हैं ।

जैसा कि शास्त्रमें कहा गया है—नामके बल पर पाप करनेमें बुद्धि होना भी एक नामापराध है । यहाँ नाम तो उपलक्षण मात्र है, पाप या अपराध नाश करने वाले जितने भी भक्ति-अङ्ग हैं, वे नाम शब्दके अन्तर्भूत हैं । धर्म शास्त्रमें भी यही

नाश नहीं होता, बल्कि वह और भी गाढ़—अमिट रूप धारण कर लेता है।

विश्वोत्सासिनी टीका:—भजनशील साधकों में प्रेम के विकास का क्रम वर्णन करते हुए श्रीरूपगोस्वामिचरण ने भजन-क्रिया के बाद 'अनर्थ-निवृत्ति' का उल्लेख किया है। भजन-क्रिया के यथार्थ रूप में सम्पन्न होने पर अनर्थों की निवृत्ति होने लगती है। अनर्थ वह है जो अर्थ न हो। 'अर्थ' का साधारण अर्थ धन-सम्पत्ति समझा जाता है, परन्तु अर्थ का वास्तविक अर्थ है परमार्थ-वस्तु। अतः जो परमार्थ नहीं है वही 'अनर्थ' है। परमार्थ वस्तु है भगवान् श्रीकृष्ण। अतः श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण-कामना एवं कृष्णभक्ति की कामना को छोड़ कर जो भी कामना है, वह अनर्थ है। भोगों की कामना तो दुर्वासना है ही जो समस्त अनर्थों का मूल है, वहाँ तक कि भुक्ति की कामना भी अनर्थ है।

वे अनर्थ चार प्रकार के हैं—

१. **दुष्कृतोत्थ-अनर्थ**—दुरभिवेश अर्थात् पहले जन्म में किये हुए कर्मों के फल से दुःखजनक विषयों में अनुराग होना, द्वेष, राग, अविद्या तथा अस्मिता—ये जो पाँच प्रकार के क्लेश हैं, (जिनकी आलोचना द्वितीय-अमृतवृष्टि में की जा चुकी है) दुष्कृतोत्थ—दुष्कृतों से उत्पन्न होने वाले अनर्थ कहे गए हैं।

२. **सुकृतोत्थ-अनर्थ**—पूर्वजन्म में किए हुए सत्कर्म या सकाम पुण्यकर्मों के फलसे अनित्य स्वर्गादि लोकों के भोगसुखों की जो कामनाएँ हैं उन्हें सुकृतोत्थ-पुण्यकर्मों से उत्पन्न होने वाले अनर्थ कहे हैं। भुक्ति-भुक्ति की कामना को सुकृतोत्थ-अनर्थों में गिना जाता है। पतञ्जलि आदि महर्षियों ने इन्हें भी अविद्या-अस्मिता आदि पाँच प्रकार के क्लेशों में अन्तर्भुक्त किया है।

३. **अपराधोत्थ-अनर्थ**—अपराधों से उत्पन्न होने वाले अनर्थों को अपराधोत्थ-अनर्थ कहे हैं।

पाप—पाप और अपराध साधारणतः एक ही अर्थ वाले प्रतीत होते हैं, किन्तु भक्तिशास्त्र में पाप और अपराध में बहुत फर्क है। किसी प्राणी की हत्या, चोरी, परनारीगमन, व्यर्थ-वक्ताव, कठोर-भाषण, दुष्टाचरण, दूसरे के धनादि की तृष्णा, दूसरे को दुःख देना, दूसरे की बुराई सोचना, शराब पीना, माँस-अण्डादि अभक्ष्य पदार्थों का खाना—ये सब स्मृतिशास्त्र में 'पाप' कहे गए हैं। इनको भी फिर नौ श्रेणियों में बांटा गया है—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, सञ्चारीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर, मलावह तथा प्रकीर्ण।

इन सब पापों के स्वरूप का यदि विचार किया जाय तो पता लगता है कि अनात्म-वस्तु—शरीर के साथ जिन निषिद्ध कर्मों या आचरणों का सम्बन्ध है, उन्हें 'पाप' कहते हैं। क्योंकि शरीर में आत्मबुद्धि करने से अभिमान और अनेक प्रकार की भोगवासनाएँ पैदा होती हैं। उन भोग-वासनाओं के कारण इस प्रकार के असत् कर्मों को मनुष्य करता है। चाहे वे असत् कर्म शरीर द्वारा हों, वाणी या मन द्वारा किये गए हों—वे सब पाप कहलाते हैं।

लोक में पापी मनुष्य की निन्दा होती है, शासन द्वारा दण्ड भी भोग करता है तथा अनेक प्रकार के रोग-शाकादि को भी भोग करना पड़ता है। परलोक में जाकर नरक-यातनाओं को पापी व्यक्ति सूक्ष्म शरीर से भोग करता है। इसलिए पापों का सम्बन्ध केवल अनात्म-देह से ही है।

स्मृति-शास्त्र में पापों के अनेक प्रायश्चित्त भी वर्णन किए गए हैं, जिनका यदि यथाविधि अनुष्ठान किया जाए तो पापों का ग्लानिजनक फल नष्ट हो जाता है। यद्यपि पापों का मूलकारण—पापों की वासना या प्रवृत्ति उनसे दूर नहीं होती।

परन्तु स्मृति शास्त्र में अपराधों का प्रायश्चित्त कहीं भी वर्णित नहीं है। इसलिए अपराध पाप से भी बहुत भयानक वस्तु है।

अपराध—भक्तिशास्त्र में चार प्रकार के अपराधों का वर्णन मिलता है—
१. सेवापराध, २. नामापराध, ३. वैष्णवापराध एवं ४. भगवदपराध। श्री-भगवान् के श्रीविग्रह की सेवा में जो अपराध होते हैं—उन्हें सेवापराध कहते हैं। श्रीभगवान् के नाम के प्रति जो अपराध हैं, उन्हें नामापराध कहा जाता है। वैष्णव या भगवत्-भक्तों के प्रति जो अपराध होते हैं उन्हें वैष्णवापराध तथा जो श्रीभगवान् के प्रति अपराध होते हैं, उन्हें भगवदपराध कहा जाता है।

श्रीभगवान् के श्रीविग्रह की सेवा चाहे अनात्म-शरीर से होती है, किन्तु उसका लक्ष्य अनात्म-देह नहीं है और न ही अनात्म वस्तु से उसका सम्बन्ध है। श्रीविग्रह-सेवा का लक्ष्य है जीवात्मा के साथ परब्रह्म श्रीभगवान् का अभीष्ट-भावानुरूप मिलन। जीव अनात्म वस्तु नहीं है और न ही भगवान्। दोनों ही चिद्वस्तु—आत्मवस्तु हैं। अतः श्रीविग्रह-सेवा में जो गहित कर्म या अपराध होता है, वह आत्मवस्तु से सम्बन्धित है।

इसी प्रकार श्रीभगवान् के नाम का जो श्रवण-कीर्तनादि है, उसमें श्रवण-कीर्तनादि का लक्ष्य अनात्म-वस्तु नहीं है और नाम-नामो अभिन्न होने से भगवत् नाम भी सच्चिदानन्द वस्तु है। यहाँ भी जीवात्मा का श्रीभगवान् से अभीष्टानुरूप मिलन ही लक्ष्य है। अतः नाम के प्रति अपराध का होना भी आत्म-वस्तु के सम्बन्ध में अपराध होता है।

वैष्णव अर्थात् भगवद्-भक्त तो श्रीभगवान् का हृदय ही हैं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—

साधवो हृदयं मद्यं साधूनां हृदयन्त्वहम् ।

मदन्यस्ते जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागमि ॥

श्री मा० ६-४-६८ ॥

भक्तजन मेरे हृदय हैं और मैं भक्तों का हृदय। वे मुझ को छोड़ कर और कुछ नहीं जानते और मैं उनको छोड़कर और कुछ नहीं जानता हूँ।

इसलिए किसी भक्त के प्रति कोई अपराध या गहित कर्म करने से श्रीभगवान् ही असन्तुष्ट होते हैं। भक्तों के प्रति अपराध किया हुआ श्रीभगवान् के प्रति ही अपराध होता है। अतः वैष्णव-अपराध का सम्बन्ध भी आत्म-वस्तु से है अनात्म-वस्तु से नहीं।

श्रीभगवान् के प्रति जो अपराध है, वह आत्म-वस्तु से सम्बन्धित है—यह बात तो सहज में समझी जा सकती है।

तात्पर्य यह है कि अपराध है आत्म-वस्तु के सम्बन्ध में गहित कर्म और पाप है अनात्म-वस्तु के सम्बन्ध में गहित कर्म। पापों का फल अनात्म-वस्तु शरीर को स्पर्श करता है और अपराध का फल स्पर्श करता आत्म-वस्तु जीवात्मा को। अर्थात् अपराध जीवात्मा के भगवद्-सन्मुख होने में विघ्न पैदा करते हैं—भजन-साधन नहीं होने देते।

अपराध शब्द का अर्थ है (अप) अपगत हो (राध) सन्तोष जिससे। अर्थात् अपराध एक ऐसा कर्म है कि जिससे सन्तोष दूर होता है।—किसका? सेवापराध में सेवाका सन्तोष दूर होता है, नामापराध में नामका, वैष्णव-भक्तापराध में वैष्णव-भक्त का तथा भगवदपराध में श्रीभगवान् का सन्तोष दूर होता है। अर्थात् उनकी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। सेवा, नाम, वैष्णव तथा श्रीभगवान् की अप्रसन्नता में क्या कोई साधक अपनी अभीष्ट प्राप्ति कर सकता है? कभी नहीं। इन अपराधों के रहते हुए साधक का समस्त साधन-भजन व्यर्थ ही हो जाता है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद का कहना है कि अपराधोत्थ अनर्थों से केवल नामापराध-जनित अनर्थ ही ग्रहणीय हैं। सेवापराध-जनित नहीं। क्योंकि जितने भी भजनशील सेवापराधण साधक हैं, वे श्रीभगवन्नाम ग्रहण करते रहते हैं, कोई संख्यापूर्वक नाम करते हैं, कोई उच्चस्वर से नाम संकीर्तन करते हैं नियम से। अतः श्रीनाम से सेवा-अपराध दूर होते रहते हैं। फिर श्रीगीता तथा अन्य अनेक स्तोत्र पाठ करने से भी सेवा-अपराधों का खण्डन हो जाता है। विशेषतः प्रतिदिन नियम से श्रद्धा सहित श्रीभगवन्की मूर्ति-पूजा करते रहने से सेवा-अपराध निवृत्त होते रहते हैं। अतएव सेवा-अपराधों का अंकुर ही उदित नहीं हो पाता और न ही सेवा-अपराधों से अनर्थोंकी सम्भावना ही रहती है। अतः अपराधोत्थ-अनर्थ से नामापराध ही लक्षित होता है।

किन्तु श्रीचक्रवर्तिचरण ने इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि यदि कोई भजन-शील सेवापराधण साधक 'भगवन्नाम, स्तोत्र-पाठादि से सेवा-अपराध नष्ट हो जाते हैं'—इस सिद्धान्त के बल पर सेवा-अपराधों से बचने का प्रयत्न नहीं करता है या शिथिल हो जाता है तो उसके सेवापराध ही नामापराध रूप में बदल जाते हैं और वे अपराधोत्थ-अनर्थ बन जाते हैं। क्योंकि नाम के बल पर पाप या अपराध करना भी तो एक नामापराध है। 'मेरा सेवापराध नाम-ग्रहण करने से या स्तोत्रपाठ करने से दूर हो जाएगा'—ऐसा विचार कर

सेवापराध से न बचना, सावधानता में शिथिलता लाना वास्तव में एक नामा-पराध ही है। अतः साधक को सेवा-अपराधों से भी सदा सतर्क रहना है, यद्यपि यहाँ अपराधोत्थ-अनर्थ से सेवापराध लक्षित नहीं है।

आगम-शास्त्र में वर्णित बत्तीस सेवापराधों का एवं वैष्णव-अपराधों का प्रसंगमश यहाँ उल्लेख करते हैं, जिनसे साधक समाज को सदा बचने का पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

सेवापराध—

१. दर्शनों के लिए भगवत्-मन्दिर में सवारी पर चढ़कर एवं जूता पहन कर जाना। २. भगवत् उत्सवों को विशेष समारोह से न मनाना। ३. श्रीभगवान् की सवारी आती देखकर प्रणाम न करना। ४. झुंटे मुख से श्रीभगवान् के दर्शन करना। ५. सूतक-पातक में श्रीभगवद्दर्शन करना। ६. श्रीभगवान् को एक हाथ से प्रणाम करना। श्रीभगवान् के सामने—७. "खड़े-खड़े घूम कर परिक्रमा करना। ८. पाँव फैलाकर बैठना। ९. पाँव पर पाँव रखकर बैठना। १०. सोना ११. भोजन करना। १२. असत्य बोलना। १३. जोर से बोलना। १४. सांसारिक बात-चीत करना। १५. सांसारिक दुःखों से दुःखित होकर रोना। १६. लड़ाई भगवा करना। १७. किसी को दण्ड देना। १८. किसी पर कुपा करना। १९. दूसरों के प्रति कठोर वचन बोलना। २०. कम्बल ओढ़ कर सेवा में जाना। २१. किसी की निन्दा करना। २२. किसी की स्तुति करना। २३. किसी से हँसी दिल्लीगी करना। २४. अपान-वास छोड़ना। २५. निरस पदार्थ भोग लगाना। २६. नये फल तथा सागादि बिना भगवद्-अर्पण किये पहले आप ही खा लेना। २७. बिना भगवद्-अर्पण किये (अमानिया) भोजन करना। २८. भगवत्-उत्सव निमित्त आई हुई सामग्री में से भगवद्-अर्पण करने के पश्चात् बची हुई सामग्री (मसाले-दही आदि) को फिर दूसरे दिन भोग लगाना। २९. अपनी स्तुति करना तथा श्रीगुरुदेव की स्तुति में मौन रहना। ३०. पूजनीय पुरुषों के पीछे बैठना। ३१. भगवान् के सामने दूसरों को दण्डवत् प्रणाम करना। ३२. अन्याय्य देवताओं की निन्दा करना।

वैष्णवापराध—

१. किसी वैष्णव पर प्रहार करना, २. वैष्णव की निन्दा करना, ३. उससे द्वेष करना, ४. उसका अनादर करना, ५. वैष्णव पर क्रोध करना, ६. वैष्णव-दर्शन करके हर्ष प्रकाश न करना, ये छः वैष्णव अपराध कहे गये हैं।

ऊपर यह जो कहा गया है कि नाम के बल पर पाप करना एक नामा-पराध है। यहाँ नाम के बल पर का तात्पर्य है किसी भी भक्ति-अंग के बल पर पाप करना। यहाँ नाम उपलक्षण मात्र है।

उपलक्षण कहते हैं—स्व-प्रतिपादकत्वे सति स्वैतर-प्रतिपादकत्वम् अर्थात् जो स्वयं अपना प्रतिपादन करते हुए दूसरे का भी प्रतिपादन करे। जैसे कोई कहे

कि "कोए से दही की रक्षा करना" इस वाक्य में कोए से तो दही की रक्षा करनी ही है। परन्तु कोए उपलक्षणसे और भी सब पक्ष आदि से रक्षा करना है। उसी प्रकार नाम शब्द यहाँ उपलक्षण है। नाम के बल पर पाप करना जैसे नामापराध है, उसी प्रकार अन्याय्य जितने भी भक्ति-अंग या प्रायश्चित्त हैं, उनके बल पर भी पाप करने से अपराध होता है। विशेषतः श्रीभगवन्नाम के अन्तर्गत हैं। सब के सब भक्ति-अंग। धर्मशास्त्र का यह स्पष्ट कहना है कि यदि कोई इस बुद्धिबल पर पाप-अपराध करता है कि मैं फिर उसका प्रायश्चित्त करके इस पाप से छूट जाऊँगा—तो उसका वह पाप छूटना तो दूर रहा उल्टा हड़तम और वज्र के समान हो जाता है।

नन्वेव—“न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि” इति। “विशेषतो वशाणोऽयं जप-मात्रेण सिद्धिः” इत्यादि वाक्यबलेन तत्तदङ्गानामनुष्ठाने वैकल्या-दावपि वा जाते नामापराधः प्रसज्येत। मेवम्। नाम्नो बलाद् यस्येत्यत्र पापे बुद्धिश्चिकीर्षादि। तदेव हि पापं यत्र सति निन्दाप्रायश्चित्तादिश्रवणम्। न कर्ममार्गं इव भक्तिमार्गोऽपि अङ्गवैकल्यादौ क्वापि निन्दाश्रवणमिति न तत्रापराधशङ्का।

यदि यह कहा जाय कि “हे उद्धव ! मेरे इस भागवत-धर्म के आरम्भ कर देने के बाद इसका अनुमात्र भी ध्वंस नहीं होता” एवं विशेषतः—“यह दशाक्षर मन्त्र जप करने मात्र से ही सिद्धि प्रदान करता है”—ऐसे शास्त्र-वचनों के बल पर भक्ति के अंगों का अनुष्ठान न करने पर तथा उसकी अंगहानि हो जाने पर भी तो नामापराध होगा? —(तो इसके उत्तर में कहते हैं) यह बात नहीं है। क्योंकि “नाम के बल पर जिस की पापबुद्धि है, (वहाँ पाप है) —इस वचन में पापबुद्धि का अर्थ है जिसकी नाम के बल पर पाप करने की इच्छा है। पाप भी वही है, जिस कार्य के करने पर लोक में निन्दा हो और शास्त्र में जिसके प्रायश्चित्त का विधान सुना जाता है। कर्म-मार्ग की तरह भक्तिमार्ग में अंगहानि आदि कभी नहीं होती और न ही इस विषय में कभी निन्दा सनी जाती है। अतः इस विषय में अपराध की आशंका नहीं है।

विश्वोत्सासिनी-टीका—श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् ने भागवत-धर्मों का वर्णन करते हुए कहा है—

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।

मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशियः॥

श्री मा० ११-२६-२०॥

‘हे उद्धव !’ मेरे (भागवत) धर्म के आरम्भ कर देने पर, चाहे वह फिर पूरी तरह समाप्त न भी हो, उसका रस्ती भर भी नाश नहीं होता अर्थात् उस अनुष्ठान के आरम्भ हो जाने के बाद यदि कोई बाधा विघ्न आ भी जाए तो वह नष्ट नहीं होता, जितना भी उसका अनुष्ठान हो चुका हो उसके अनुरूप वह

अपना फल अवश्य प्रदान करता है। क्योंकि वह धर्म निष्काम है और मैंने उसे निर्गुण होने के कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है।”

श्रीभगवान् ने यह भी कहा है—

दशाक्षोऽयं जपमात्रेण सिद्धिः॥

यह दशाक्षर मन्त्र जप करने मात्र से ही सिद्धि प्रदान करता है—

श्रीचक्रवर्तिपाद का यह कहना है कि इस प्रकार के अनेक शास्त्र-वचन उपलब्ध होते हैं, जिनका यह तात्पर्य स्पष्ट है कि भागवत-धर्म या भक्तिका अनुष्ठान यदि अधूरा भी रह जाए, उसमें कोई विघ्न-बाधा भी आ जाये तो भी वह अपना फल प्रदान करता ही है। इससे यह भी समझा जा सकता है कि यदि कोई अपराध-पाप भी अनुष्ठानकारी से होता रहे तो भक्ति का अनुष्ठान, जितना भी हो रहा है या हो चुका है, वह उतना फल देगा ही।

इसी प्रकार दशाक्षर मन्त्र भी जपमात्र से सिद्धि प्रदान करता है—इस वचन से भी अपराध आदि द्वारा मन्त्र के फल प्रदान करने में कोई बाधा उत्पन्न होने की आशंका नहीं उठती। कौसा भी आचारण मन्त्रजप करने वाला करता रहे, उसे मन्त्र सिद्धि प्रदान करेगा ही।

ऐसे वचन देखकर शंका उठना स्वाभाविक है कि यह भी तो भक्ति-अंग अथवा मन्त्र के बल पर नाम अपराध घटित होना है। भक्ति-अंग अनुष्ठान का अधूरा छूट जाना, —उसकी अंग की हानि हो जाना, मन्त्र जप में किसी आचरण की अपेक्षा न रखने पर भी सिद्धि मिल जाना—इसके मूल में भी तो भक्ति-अंग या नाम का बल है, जिसके कारण अनुष्ठानकारी सब अपराधों, विधि निषेधों से छूट जाता है और फल भी प्राप्त करता है। इसे क्या नामापराध नहीं माना जाएगा?

इसके उत्तर में कहते हैं कि यह नामापराध नहीं है। नाम के बल पर जो पाप-अपराध करता है इस तरह सोच कर कि “मैं अब यह पाप कर लेता हूँ, इसके लिए मैं भक्ति का अमुक अनुष्ठान कर लूँगा, इतना दान-पुण्य कर लूँगा, इतना नाम-जप कर लूँगा”—इस प्रकार इच्छा को पुष्ट करते हुए जो पाप करता है, उसे नामापराध लगता है। पाप भी वही गहित कर्म है जिसके करने से लोक में निन्दा होती है और शास्त्र भी उसे पाप कहकर उल्लेख करता है तथा फिर उसके प्रायश्चित्त का भी वर्णन करता है।

उपर्युक्त शास्त्र वचनों में ऐसी कोई भी बात नहीं है। पाप की इच्छा लेकर भागवत-धर्म के आचरण का या मन्त्र जप करने का उपदेश नहीं है। भागवत-धर्म का या मन्त्र का अनुष्ठान भगवत्-प्राप्ति की इच्छा को लेकर किया जाता है। यदि वह साधक के रोग-ग्रस्त, या मर जाने पर, अथवा और किसी प्रकार के बाधा-विघ्न से पूरा नहीं हो पाता। अर्थात् साधक अपने चरम

लक्ष्य तक यदि नहीं पहुँच पाता तो यह कोई पाप नहीं है और न इसमें पाप-बुद्धि या पाप की इच्छा का अवकाश है।

विशेषतः कर्म-मार्ग में विधिविधान, मन्त्र, आचरण आदि में तनिक भी त्रुटि होने से कर्म की अंग-हानि मानी जाती है, जिससे वह अपना फल प्रदान नहीं कर सकता। परन्तु भक्तिपथ में ऐसी बात नहीं है भक्ति स्वयं प्रकाश-विभू वस्तु है, पूर्ण स्वरूप है। उसमें कोई अंग-हानि सम्भव नहीं है। किसी भी भक्ति-अंग का अनुष्ठान अपने आप में पूर्ण ही है। यदि अवूरा रह जाता है, तो भी तदनुरूप वह अपना फल निश्चित रूप से प्रदान करता है, कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। भक्ति-अंग के पूर्ण न होने पर लोक में भक्त की कोई निन्दा नहीं करता। शास्त्र में उसे न ही निन्दित कहा गया है और न ही उसका प्रायश्चित्त शास्त्र में वर्णित है। अतः ऊपर कहे हुए शास्त्र-वचनों में नामापराध की कोई भी आशंका नहीं उठती।

तात्पर्य यह है कि पाप की इच्छा को लेकर जो नाम या भक्ति के किसी अंग का अनुष्ठान करता है अथवा नाम या भक्ति के द्वारा जो अपने द्वारा जान बूझ कर किये पापों को धोने की सोचता है, वह नामापराध है। ऐसा पाप वज्र के समान टूट हो जाता है। उससे कभी भी छुटकारा नहीं मिल सकता।

यदुक्तम्-श्रीभागवते—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।

अञ्जः पुंसामविभुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमार्थत कहिचित्।

धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

इति अत्र निमील्येति कर्तृव्यापारलिङ्गेन विद्यमाने एव नेत्रे मुद्रयित्वा तत्रापि धावन् पाङ्ग्यासस्थलमतिक्रम्यापि शजन्न स्खलेदिति अक्षरार्थलब्धेर्भगवद्भ-ममाश्रित्य तदङ्गानि सर्वाणि ज्ञात्वापि अज्ञ इव कानिचिदुल्लङ्घ्यापि अनुतिष्ठन् न प्रत्यवायी स्यात्, नापि फलाद् अश्वेदित्येव व्याख्या उपपद्यते। निमीलनं नामाऽज्ञानं तस्यापि श्रुतिस्मृति विषयावित्येषा तु न संगच्छते मुद्रया-र्थबाधयोगात्। न च धावन्निमील्येत्येव द्वान्निशवपराधाभावमपि क्रोडीकरोत्विति वाच्यम् यान् भगवता प्रोक्तानुपायानाश्रित्येत्युक्तत्वात्। "याने वा पावुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे" इत्यादयस्तु तत्र निविद्धा एव। सेवाऽपराधे तु—'हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद् द्विपदप्राशनः' इत्यादिषु श्रूयन्त एव निन्दाः। किं च ते नामापराधाः प्राचीना अर्वाचीना वा यदि सम्पन्नभिज्ञातप्रकाराः स्युः किन्तु तत्काललिङ्गे-नाऽनुमीयमाना एव तद्। तेषां नामभिरेवाऽविश्रान्तिप्रयुक्तं भक्तिनिष्ठायामुत्पद्य-मानायां क्रमेणोपशमः। यदि ते ज्ञायन्त एव तदा त्वस्ति क्वचित् कश्चित् विशेषः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने भोले-भाले व्यक्तियों को सहज में अपनी प्राप्ति के लिए जो उपाय अपने श्रीमुख से बतलाये हैं, उन्हें ही 'भागवत-धर्म' समझना चाहिये।

उन भागवत-धर्मों का अवलम्बन लेकर मनुष्य कभी विष्णु से पीड़ित नहीं होता और नेत्र बन्द करके दोड़ते हुए भी न तो मार्ग से स्वलित होता है न पतित हो कर प्रमादग्रस्त ही होता है।

यहाँ 'निमील्य नेत्रे' शब्द का अर्थ कर्त्ता के व्यापाररूप लक्षण द्वारा नेत्र विद्यमान होते हुए भी नेत्रों को बन्द करके—ऐसा प्रतीत होता है। 'धावन्' (दोड़ते हुए)—शब्द से साधारण चाल में जहाँ पाँव पड़ना चाहिये उस स्थल का अतिक्रमण करते हुए—ऐसा उपलब्ध होता है। अतः कोई व्यक्ति भागवत-धर्म का आश्रय लेकर उस धर्म के समस्त अंगों को जानते हुए भी यदि अनजान की भाँति किसी-किसी आनुषंगिक अंग का उल्लङ्घन करता है, परन्तु मूलधर्म का अनुष्ठान करता रहता है, तो वह किसी प्रत्ययाय (घोप) को प्राप्त नहीं होता और न ही वह फल से वंचित होता है—यहाँ यही व्याख्या ही उपयुक्त है। यहाँ 'निमीलन' शब्द का अर्थ श्रुति व स्मृति विषय में अज्ञान होना संगत नहीं बैठता, क्योंकि उससे मुख्य अर्थ में बाधा आती है। इसीलिए 'धावन्' और 'निमील्य'—इन पदों से यहाँ बत्तीस प्रकार के सेवापराधों के अभाव को भी अंगीकार किया गया हो—यह बात नहीं कही गई है। क्योंकि पहले ही यह कहा जा चुका है कि "श्रीभगवान् ने जिन उपायों का या भागवत-धर्मों का वर्णन किया है, उन समस्त का आश्रय लेकर मनुष्य कभी पीड़ित नहीं होता। 'सवारी पर चढ़ कर या जुतादि पहन कर मन्दिर में दर्शन करने जाना' इत्यादि तो निषिद्ध हैं ही, सेवापराध विषय में भी 'जो पशुतुल्य मनुष्य श्रीहरि के प्रति भी अपराध करता है'—इत्यादि वचनों में से ऐसे आचरण की निन्दा ही सुनी जाती है। और फिर नामापराध चाहे बहुत काल पहले किए गये हों अथवा नये हों, यदि वे समस्त अज्ञानवश किए गए हों तथा उनके फल रूप चिह्न या लक्षणों से यह अनुमान हो जाए कि यह अपराध का फल है, तब यदि निरन्तर नाम ग्रहण करने से भक्ति में निष्ठा पैदा हो जाए तो वे समस्त अपराध क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वे अपराध यदि जान-बूझ कर किए गए हों, तब तो कहीं किसी रूप में विशेषता दीखती ही है ॥१॥

विश्वोत्तरसिनी-टीका—अज्ञानवश, इच्छा के बिना और जो पाप, अपराध अथवा भक्ति-अंगों की अपूर्ति होती रहती है, वह वास्तव में पाप-अपराध या भक्ति-अंग-हानि नहीं मानी गई है। क्योंकि यहाँ शर्त यह है कि साधक श्री-भगवान् द्वारा बतलाए हुए भागवत-धर्म का आश्रय लेकर भक्ति-पथ पर चल रहा हो।—इस बात को पुष्टि के लिए कथंकार ने श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त दो श्लोक उद्धृत किये हैं। ये दोनों श्लोक राजा निमि के प्रति योगेश्वर कवि की उक्ति हैं।

श्रीमनु आदि ऋषियों के द्वारा श्रीभगवान् ने वर्णाश्रम धर्मों का विस्तार पूर्वक वर्णन कराया है, किन्तु परम रहस्यमय भक्ति-धर्मों का स्वयं ही अपने मुख से विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वे धर्म स्वयं श्रीभगवान् से ही सम्बन्धित

हैं और उनके स्वयं मुख से ही वे कहे गये हैं, अतः उन्हें 'भागवत-धर्म' कहा गया है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के उनतीसवें अध्याय में इनका वर्णन किया गया है।

उपयुक्त श्लोकों में योगेश्वर-कवि ने कहा है कि श्रीभगवान् के बतलाए हुए भागवत-धर्मों का जो आचरण करते हैं, उन्हें कोई बाधा-विघ्न पीड़ित नहीं कर सकता अर्थात् वे अनायास ही श्रीभगवान् की प्राप्ति करते हैं। वे भागवत-धर्म अति सरल-सहज हैं। उनका आचरण सब व्यक्ति ही कर सकते हैं।

श्री कवि ने कहा है "निमील्य नेत्रे"—आँखें बन्द करके भागवत-धर्म या भक्ति पथ पर 'धावन'—दौड़ते हुए भी फिसलने और गिरने का डर नहीं है। यहाँ 'निमील्य नेत्रे' और 'धावन'—शब्दों की व्याख्या करते हुए चक्रवर्तिपाद कहते हैं कि नेत्र बन्द से यहाँ अपने लक्ष्य को छोड़कर दूसरी ओर न देखना ही संगत है। दौड़ने से तात्पर्य है तीव्र गति से अग्रसर होना। कोई भी व्यक्ति जब किसी अभिलषित वस्तु को पकड़ने के लिए दौड़ता है, तो उसके पाँव लम्बे कदम उठाते हैं और उसका ध्यान अपने लक्ष्य पर हो रहता है, आस-पास की वस्तुओं को वह नेत्र होते हुए भी नहीं देखता। इसी प्रकार श्रीभगवान् की प्राप्ति का लक्ष्य रख कर जो साधक भागवत-धर्मों का अवलम्बन कर भक्ति-मार्ग पर तीव्र गति से अग्रसर होता है, वह अन्यान्य गौण या आनुषङ्गिक धर्मों की तरफ से आँखें मीच लेता है। तीव्र गति से लक्ष्य की तरफ ही अग्रसर होने पर स्वाभाविक रूप से कई एक आनुषङ्गिक अंगों का या श्रुति-स्मृति वर्णित कर्मों का भी वह अतिक्रमण करता हुआ निकल जाता है। परन्तु मूल-धर्म भगवद्-भक्ति से जरा भी विचलित नहीं होता। इसलिए बीच के कुछ अंगों को छोड़े चले जाने पर भी न तो भक्ति-अनुष्ठान की अंगहानि मानी जाती है और न ही उसे उन कर्मों के त्याग का कोई अपराध या दोष ही लगता है। जितना वह भक्तिमार्ग पर अग्रसर होता है उतना ही फल भी उसे अवश्य मिलता है।

यहाँ नेत्र बन्द कर के भक्तिमार्ग पर चलने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि साधक को श्रुति-स्मृति वर्णित मार्ग का ज्ञान न हो। उन सब बातों को जानते हुए भी वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति की तरफ तीव्र गति से दौड़ने के कारण अर्थात् अनुराग की प्रचलतावश उनकी ओर ध्यान नहीं देता—त्यागता हुआ चला जाता है। इससे विहित अंगों की छोड़ने की मन-मानी या इच्छा लक्षित नहीं होती। अतः यहाँ सेवापराध आदि का कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि सब से पहली बात है कि भागवत-धर्म का अवलम्बन। सेवापराध करते हुए कोई भी भागवत-धर्म पर अग्रसर नहीं हो सकता। सेवापराध तो हर अवस्था में त्याज्य है एवं निन्दित है। अतः उनसे सदा बचते हुए एवं पूर्णतः भागवत-धर्म का अवलम्बन लेकर भक्ति-मार्ग पर तीव्र-गति से जाने वाले साधक से किसी अनावश्यक अंग का अतिक्रमण भी यदि हो जाता है तो वह उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक नहीं होता।

नामापराधों के विषय में भी यही कहा गया है। अनेक अपराध ऐसे हैं जिनको साधक जान नहीं पाता। कौन-सा अपराध हुआ, किस के प्रति हुआ, यह भी वह नहीं जानता। अनजाने में ही नामापराध हो जाता है किन्तु आत्म-निरीक्षण करने वाले साधक को उसका फल अनुभव हो जाता है अर्थात् एक साधक श्रीभगवान् का नित्य नाम ग्रहण करता है, यथेष्ट संख्यामें नाम नियम पूर्वक भी करता है परन्तु जब वह देखता है तो उसे भगवत्-प्रेम का कोई भी लक्षण अपने में नहीं दीखता, तो वह यह निश्चय करता है कि अवश्य मेरा कोई नाम-अपराध है। इस प्रकार नामापराध के फल और लक्षणों को वह देखकर नामापराध का अनुमान कर लेता है। इस अवस्था में यदि वह साधक नाम को निरन्तर ग्रहण करते हुए नाम से अपने अज्ञात अपराधों की क्षमा प्रार्थना करता है और पश्चात्ताप करते हुए पुनः नामापराधों से बचनेका पूरा यत्न भी करता है तो उसके अज्ञात नामापराध भी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। जैसा कि श्रीहरिभक्ति-विलास (११।२८७-२८८, में कहा गया है—

जाते नामापराधेऽपि प्रमादेन कथञ्चन ।
सदा संकीर्तनान्नम तदेकशरणो भवेत् ॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यधन ।
आविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवायं कराणि च ॥

भूल से, अनजाने में यदि नाम-अपराध हो जाये तो सदा श्रीनामसङ्कीर्तन करते हुए श्रीनाम की ही एकमात्र शरण ग्रहण करनी चाहिये। नामापराधियों के पाप-अपराध श्रीनाम ही दूर कर देता है। विशेषतः अखण्ड, निरन्तर श्रीनाम-संकीर्तन करने से वे नामापराध दूर हो जाते हैं,—जिनको साधक स्वयं भी नहीं जानता वे कब हुए, किस के प्रति हुए।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो अनजाने में नामापराध होते हैं, उनका फल इतना भयानक नहीं होता और फिर वे निरन्तर श्रीनामग्रहण करने से नष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु जो अपराध जान-बूझ कर किये जाते हैं, वे नाम से भी दूर नहीं होते। विशेषतः जब यह सोचकर श्रीनाम ग्रहण किया जाता है कि मैंने पाप किया तो क्या हुआ, श्रीनाम से सब पाप दूर हो जाएंगे। इसीप्रकार श्रीनाम के बल पर पाप करके नाम ग्रहण करने वाले की तो अति दुर्गति होती है। वह कभी भी भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता।



^१सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते,
यतः कर्पाति यातं कथमु सहते तद्विपरिहाम् ।
^२शिवस्य श्रीविष्णोर्ध्वं इह गुणनामादि सकलं,
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः ॥

^३गुरोरवशा ^४श्रुति-शास्त्र निन्दनं ^५तथार्थवादो हरिनामनि कल्पनम् ।
^६नामनोबलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यस्मैहि शुद्धिः ॥
^७धर्म-व्रत-त्यागहृतादि-सर्वं शुभक्रिया साम्बन्धि प्रमादः ।
^८अश्रद्धाघाते विमुखेऽप्यश्रुत्वति यश्चोपदेशः शिव-नामापराधः ॥

^९श्रुतेऽपि नाम-माहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽयमः ।

अहं ममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥

श्रीहरिभक्ति विलास ११।२८२-८३॥

यथा “सतां निन्देति” दशमु नाम्नः प्रथमोऽपराधः । तत्र निन्देत्यनेन द्वेष-द्रोहादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । ततश्च देवात् तस्मिन्नपराधे जाते “हन्त पामरेण मया साधुषु अपराधमिति” अनुत्पन्नो जनः “कृशानो शाम्यति तप्तः कृशानुना एवायम्” इति न्यायेन तत्पदाग्र एव निपत्य प्रसादयामिति विषण्णचेतसा प्रणतिस्तुतिसमाना-दिभिस्तस्योपशमः कार्यः । कदाचित् कस्यचन कैरपि दुष्प्रसादनीयत्वे बहुदिनमपि तन्मनोभिरोचित्यनुवृत्तिः कार्या । अपराधस्यातिमहत्वात् कथंचित् तयाऽप्यनिर्व-त्यकोपत्वे घिड्-मामक्षीणभक्तापराधं निरयकोटिषु पतंतम् ” इति निर्विद्य सर्वे परित्यज्य समाश्रणीया नामसङ्कीर्तनसन्ततिस्तया च महाशक्तिमत्याऽवश्यमेव काले ततः स्यादेवोद्धारः ।

सत् पुरुष या साधुजन की निन्दादि दस नामापराधों में प्रथम अपराध निन्दा है । निन्दा शब्द से द्वेष, द्रोह, आदि भी उपलक्षित हैं । देवयोग से निन्दा अपराध हो जाने पर ‘हाय, हाय ! मुझ नीच से साधु पुरुष के प्रति अपराध हो गया है’ ‘इस प्रकार पश्चाताप करते हुए—‘अग्नि से जला व्यक्ति अग्नि से शान्ति प्राप्त करता है’ इस न्याय के अनुसार ‘मैं उस साधु पुरुष के चरणों में गिर कर उसको प्रसन्न करूँगा’—इस प्रकार चित्त में दुःखी होकर उसे महत् पुरुष को नमस्कार स्तुति एवं सम्मानादि द्वारा अपराध को शान्त करना चाहिये । यदि कदाचित् किसी साधु-पुरुष को इन उपायों से प्रसन्न न किया जा सके तो अपराधी पुरुष को अनेक दिन तक उस साधु-पुरुष के मन की रुचि के अनुकूल उसकी सेवा करनी चाहिये । बहुत बड़ा अपराध होने के कारण यदि किसी प्रकार भी उस सत्-पुरुष का क्रोध शान्त नहीं होता है तो ‘हाय ! मुझ धिक्कार है, सत्-पुरुष के प्रति किया हुआ मेरा अपराध क्षीण नहीं हुआ । मुझको कोटि-कोटि नरकों में पतित होना पड़ेगा ।’—इस प्रकार दुःखित होकर उसे सब काम छोड़कर श्रीनामसंकीर्तन का ही निरन्तर सम्यक् प्रकार आश्रय ग्रहण करना चाहिये । इस महा शक्ति-शाली श्रीनामसङ्कीर्तन से कुछ काल में अपराधी व्यक्ति का उद्धार अवश्य ही हो जायेगा ।

१. साधु निन्दा, २. श्रीशिव तथा श्रीविष्णु के नाम-रूप-लीलादिक को भिन्न जानना अर्थात् श्रीशिव श्रीविष्णु का ही अवतार विशेष हैं, वे स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं । इस लिए उन्हें श्रीविष्णु से पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मान कर विष्णु-नामादि से उनके नामादि को पृथक् जानना अपराध है । (वस्तुतः श्री शिव विष्णुतत्त्व-श्रीकृष्ण का ही एक प्रकाश होने से श्रीशिव के नाम गुण-लीलादि भी वस्तुतः शिवरूप से श्रीकृष्ण के ही नाम गुण लीलादि हैं—भिन्न नहीं हैं ।) ३. श्रीगुरुदेव की अवज्ञा करना, ४. वेदादिशास्त्रों की निन्दा करना । ५. श्रीहरिनाम में अर्थ-वाद की कल्पना करना अर्थात् श्रीहरिनाम की जो महिमा या शक्ति शास्त्रों में वर्णन की गई है, वह सब वस्तुतः श्रीहरिनाम में है नहीं, परन्तु वे समस्त वाक्य प्रशंसा-सूचक हैं । अति रंजित—मन को बहलाने वाले वचन मात्र ही हैं, ऐसा जानना । ६. नाम के बल पर पापों में प्रवृत्ति होना अर्थात् नाम ग्रहण करके मैं कैसा भी पाप क्यों न हो, उसे दूर कर लूँगा—इस भरोसे पर पाप करना । अनेक समय तक यम-यातना भोग करने पर भी अथवा यम-नियमादि का अनुष्ठान करने पर भी नाम के भरोसे पाप करने वाले लोगों का उद्धार नहीं होता है । ७. धर्म, व्रत, त्याग, हवनदि सुभ कर्मों के फल के साथ श्रीहरिनाम के फल की समानता जानना । ८. प्रमाद अर्थात् श्रीहरिनाम श्रवण करने में या नाम-ग्रहण करने में अनवधानता व चेष्टा-शून्यता । अवधानता का अभिप्राय है श्रीहरिनाम की उपेक्षा या बेपरवाही करना । ९. श्रीहरिनाम का माहात्म्य सुनकर भी नाम-ग्रहण को प्रधानता न देना, बल्कि मैं-मेरे के अज्ञानवश विषय भोगों को प्रधानता देना । आठवें नामापराध और इस नवें अपराध में पार्थक्य यह है कि पहले में नाम के प्रति उपेक्षा है, सम्यक् रूप से चेष्टा-शून्यता है, किन्तु दूसरे में उपेक्षा वा सम्यक् चेष्टा-शून्यता नहीं है । नाम ग्रहण किया जाता है किन्तु नाम में प्रीति के अभाव-वश नाम ग्रहण को प्रधानता नहीं दी जाती । आठवें में नाम ग्रहण की प्रवृत्ति का मानों अभाव है और नवम में नाम ग्रहण विषय में प्रधानता देने का अभाव है ।

१०. जो लोग श्रद्धाहीन या भगवद् विमुख हैं और नाम के उपदेशादि को नहीं सुनते या ग्रहण नहीं करते, उनको उपदेश देना। (श्रद्धाहीन व्यक्ति को नामोपदेश करना अपराध हो यह तात्पर्य नहीं है। किन्तु अश्रद्धा (श्रद्धाहीन को) विमुख अपि (एवं विमुख होते हुए भी) अश्रुण्वति (जो उपदेश नहीं सुनता है—ग्रहण नहीं करता है) यश्च उपदेशः (जो उपदेश है)—वह अपराध जनक है। 'अपि' एवं 'अश्रुण्वति'—इन दोनों शब्दों के ऊपर सारा तात्पर्य निर्भर करता है। श्लोक में अपि-शब्द की सार्थकता यही है कि श्रद्धाहीन एवं विमुख व्यक्तिको तो उपदेश दिया ही जाता है, किन्तु कोई व्यक्ति श्रद्धाहीन एवं विमुख होते हुए भी उस उपदेश को नहीं सुनता या ग्रहण नहीं करता अर्थात् एकबार दो बार उपदेश देने पर भी यदि वह उस उपदेश को ग्रहण नहीं करता है तो उसको फिर उपदेश देना अपराध जनक है—उसे फिर उपदेश नहीं देना चाहिये। क्योंकि वह व्यक्ति नाम की जो अवज्ञा या अपमान करता है, उसका निमित्त है उपदेश-कर्ता। अतः नाम की उस अवज्ञा का अपराध उपदेशकर्ता को भी लगता है।

उपर्युक्त दशनामापराधों में जो पहला अपराध है—साधुनिन्दा उसके खण्डन के विषय में विवेचना करते हुए श्रीचक्रवर्त्तिपाद कहते हैं—निन्दा शब्द से दुर्नाम रटना (गालियाँ देना) किसी से द्वेष करना, द्रोह करना—किसी का अनिष्ट-बुराई सोचना, हिंसा, आदि सब अभिप्रेत हैं। साधक जो सदा आत्म-निरीक्षण करते रहते हैं, जो अभीष्ट साध्य को प्राप्त करना चाहते हैं, वे अपराधों से बचने का सदा प्रयत्न करते हैं, फिर भी संस्कार वश, परिस्थिति वश एवं प्रमाद वश यदि किसी साधक से किसी सत्-पुरुष की निन्दा हो जाती है तो उसे उसका पश्चात्ताप करना चाहिये—'हाय ! मैं अति नीच हूँ मैंने साधुपुरुष की निन्दा का अपराध किया है।' इस प्रकार पश्चात्ताप करने से एवं उसी महत्पुरुष को नमस्कार, उसकी स्तुति एवं उसका सच्चे दिल से सम्मान करते हुए उसके चरणों में पड़कर अपना अपराध क्षमा कराना चाहिये—यदि वह क्षमा कर देता है तो इस रीति से निन्दा—नामापराध का खण्डन हो जाता है। जैसे अग्नि से जलने पर यदि उस अङ्गको अग्नि से सँक दिया जाये तो शान्ति मिलती है, उसी प्रकार जिस महत् पुरुष की निन्दा आदि का अपराध बन कर महाताप प्राप्त होता है, उसी महत् पुरुष की शरण ग्रहण करने से अपराध की शान्ति प्राप्त होती है। कदाचित् उपर्युक्त उपायोंसे उस महत् पुरुष की प्रसन्नता प्राप्त न की जा सके, तो चिरकाल तक उसकी रुचि के अनुसार उसकी सेवा कर उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करनी चाहिये एवं हृदय में बार-बार अपने को धिक्कार करना चाहिये। इस पर भी घोर अपराध हो जाने के कारण यदि वे महत्-पुरुष प्रसन्न नहीं होते हैं, उनका क्रोध शान्त नहीं होता है, तब अत्यन्त दुःखी होकर सब उपायोंको त्यागकर श्रीभगवन्नाम सङ्कीर्तन की शरण ग्रहण करनी चाहिये। अति दीन होकर भी उस महत् पुरुष की प्रसन्नता किसी प्रकार प्राप्त न कर सकने पर श्रीनामसंकीर्तन का निरन्तर आश्रय ग्रहण करने पर अवश्य वह अपराध नष्ट हो जाता है।

किन्तु यह स्मरणीय है कि यदि कोई अपराधी पुरुष अहंकारवश, लज्जा वश उस महत्-पुरुष से तो क्षमा याचना नहीं करता और न ही उसको नमस्कार स्तुति-आदर प्रदान द्वारा तथा उसकी सेवा द्वारा उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, परन्तु उस अपराध खण्डन के लिए श्रीनामसङ्कीर्तन की शरण ग्रहण करता है, तो वह अपराध कभी भी खण्डित नहीं होगा। बल्कि वह एक कपट गिना जायेगा और नाम के बल पर अपराध करना छोटा अपराध और बनकर वञ्चवत् दृढ़ हो जाएगा। अतः कपट रहित होकर किसी प्रकार भी उस महत्-पुरुष की साक्षात् प्रसन्नता प्राप्त न करने पर ही श्रीनामसङ्कीर्तन का आश्रय ग्रहण करना विधेय है, तभी उस अपराध के खण्डन की भी सम्भावना है। श्रीनाम में महान् शक्ति है समस्त नामापराधों के खण्डन करने की, परन्तु जहाँ नाम के बल पर अपराध गठित नहीं है, जहाँ अपराध के लिए अनुताप है, और निष्कपटता है वहाँ उस शक्ति का विकास है। इसी बात को श्रीचक्रवर्त्तिपाद और भी स्पष्ट करते हैं।

किं मे मुहुर्मुहुरेव पादपतनादिभिः स्वापकृष्वस्वीकारेण "नामापराधयुक्तान नामान्येव, हरन्त्यघम्" इत्यस्यैव परमोपायः स एव समाश्रयणीया, इति भावनायां पूर्ववदेव पुनरपि नामापराधः।

न च "कृपालुः स्फुटद्रोहस्ति तिष्ठः सर्वदेहिनाम्" इत्यादिधर्मका एव संतस्तेषामेव निन्दा अपराध इति वाच्यम्—'सर्वाचारविर्वजिताः शठधियो ब्राह्म्या जगद्-ञ्चकाः' इति तत्प्रकरणवर्तिना वचनेन तादृशदुश्चरितानामपि भगवन्तं भजतां कमुतिकन्यायेन सच्छब्दवाच्यत्वेन सूचितत्वात्।

'नामापराधयुक्त व्यक्तियों के अपराधों को श्रीभगवान् का नाम दूर कर देता है'—जब शास्त्रके इन वचनोंके अनुसार श्रीनाम ग्रहण करना ही नामापराध-खण्डन का परम उपाय है तब मुझे इसी उपाय का ही आश्रय करना चाहिये, मुझे बार-बार अमुक महत्-पुरुष के चरणों में गिरने की एवं अपने अपकर्ष करने की क्या आवश्यकता है ? इस भावना से जो अपराधी व्यक्ति अपना साधु-निन्दा जनित अपराध नाम सङ्कीर्तन द्वारा खण्डन करना चाहता है वह फिर पहले की तरह एक दूसरा अपराध ही करता है।

कभी अपराध करने वाला व्यक्ति यह भी सोचता है कि 'सन्त या साधु पुरुषों के लक्षण हैं वे कृपालु होते हैं, किसी भी प्राणी के प्रति वे द्रोह नहीं करते और वे घोर-दुःख को भी सहन करने वाले होते हैं। ऐसे ही साधु-पुरुषों की निन्दा करना अपराध है। उन पुरुषों की निन्दा करना कोई अपराध नहीं है, जिनका क्रोध ही किसी तरह शान्त नहीं होता। इसके उत्तरमें यह वक्तव्य है कि 'सब प्रकार के आचारहीन, शठ बुद्धि, संस्कार हीन या नीच जाति तथा जगत् की वञ्चना करने वाले जिन व्यक्तियों को शास्त्र में दुश्चरित या दुराचारी कहा गया है, श्री भगवान् ने ऐसे दुराचारियों को भी, यदि वे अनन्यता पूर्वक भगवद्-भजन में लगे हुए हैं, साधु-शब्द से सूचित किया है, तब (सदाचारी) साधु पुरुषों के विषय में जो कहना ही क्या बनता है ?

अहंकार वश अथवा अपना अपकर्ष मानकर, जिसके प्रति अपराध किया है, उस महत् पुरुष के चरणों में नमस्कार नहीं करना चाहता या क्षमा याचना नहीं करता चाहता और इस भरोसे पर कि नाम समस्त अपराधों को खण्डन करने वाला है, नाम का आश्रय ग्रहण करता है, उसका निन्दा-जनित अपराध तो दूर होगा नहीं, अधिकस्तु उसे नाम के बल पर पाप करने का अपराध और लगे गा। वह कभी भी अपराध से मुक्त नहीं हो सकता।

श्रीमद्भगवत् (११-११-२६) में साधु-पुरुषों अर्थात् भगवद्-भक्तों के लक्षण बताते हुए श्रीभगवान् ने श्रीउद्धवजी से सर्व प्रथम कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वं बेहिनाम् ।

सत्पसारोऽनवज्ञात्मा सयः सर्वोपकारकः ॥

हे प्रिय उद्धव ! साधु—मेरा भक्त कृपालु होता है। समस्त प्राणियों में अकृत द्रोह होता है अर्थात् वह किसी की भी बुराई चिन्तन नहीं करता, किसी से द्रोह नहीं करता। वह दुःख-सुख, मान-अपमान आदि को भी सहन करने वाला होता है। सत्य (श्रीभगवान्) ही उसके जीवन का सार—परम लक्ष्य होता है। उसके मन में किसी भी पाप की वासना नहीं होती। वह समदर्शी तथा सबका भला करने वाला होता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् ने अनेक लक्षण साधु-पुरुषों के वर्णन किये हैं। साधु-निन्दा करने वाला व्यक्ति इस प्रकार के लक्षणों को सुन-बढ़कर मन में सोचने लगता है कि मैंने इनको नमस्कार किया है, इनकी स्तुति की है, इनको प्रसन्न करने का भरसक प्रयत्न किया है, परन्तु फिर भी यह प्रसन्न नहीं हो रहे हैं, तो ये साधु कैसे ? साधु तो कृपालु होते हैं, किसी से द्रोह नहीं करते, इत्यादि इनका तो कोप ही शान्त होने में नहीं आता, अतः ये साधु ही नहीं हैं। इनकी निन्दा से कोई अपराध मुझे नहीं लग सकता। अपराध तो उपर्युक्त लक्षणों वाले साधु-पुरुष की निन्दा से होता है—इस प्रकार सोचकर अपराधी-पुरुष अपने को निन्दा अपराध रहित मानकर निश्चित हो जाता है। परन्तु श्रीचक्रवर्तिपाद कहते हैं, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये। क्योंकि सता-निन्दा का अर्थ ही है साधु-निन्दा और साधु शब्द का एकमात्र अर्थ है भगवद् भक्त। बड़े स्पष्ट शब्दों में श्रीभगवान् ने निज श्रीमुख से साधुओं के लक्षण करते हुए कहा है—

“साधुनां समचित्तानां सुतरां मरुतस्मनाम्” ॥श्रीभा० १०-१०-४१॥ साधु वही हैं जो समचित्त हैं। समचित्त केवल वही हो सकता है जिसने अपना मन श्री भगवान् को पूर्णतया अर्पित कर रखा है। श्रीमद्भगवद् गीता में—“भजते मामनन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्यः ॥६।३०॥—जो अनन्य भाव से श्रीभगवान् के भजन में लगा हुआ है, उसे ही साधु मानना चाहिये। विरक्त, संन्यासी या रंगे कपड़े धारण करने वाला ही साधु नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ एवं जगत् में वर्णाश्रम के प्रकृत आचारों को पालन करने वाला व्यक्ति भी साधु है यदि वह

अनन्य भाव से भगवद्-भजन में लगा हुआ है। ऐसा जो भगवद्-भक्त है, उसकी निन्दाका नाम ही है सत-निन्दा। वह निन्दा नाम ग्रहणकारी द्वारा किसी संस्कार वश, प्रमाद वश अथवा अहंकार वश होती है। वरना जो साधक है, नाम के मुख्य-फल—कृष्ण प्रेम की प्राप्ति करना चाहता है, वे जान-बूझकर किसी सत्पुरुष की निन्दा करे—ग्रह सम्भव नहीं है। अब यदि अपराधकारी व्यक्ति उस साधु-पुरुष को प्रसन्न करने में विफल होने पर उसके कोप अथवा अप्रसन्नता को दूर नहीं कर पाता है तो उसकी साधुता पर संशय करना तथा अपने को अपराध रहित मान लेना और भी दृढ़तम अपराध है।

किसी प्रबल अपराध वश साधु-पुरुष का प्रसन्न न होना या अपराधी पुरुष को क्षमा न करना उनके साधुत्व में कोई आशंका पैदा नहीं करता। क्योंकि श्री भगवान् समस्त आचारों से हीन, शठबुद्धि, संस्कारहीन नीच व्यक्ति एवं जगत् की वञ्चना करने वाले दुराचारी ही नहीं, बल्कि इन दोषों से भी कहीं अधिक सुदुराचारी व्यक्ति को भी, यदि वह भगवद् भजन में लगा हुआ है तो उसे साधु ही मानने का आदेश दिया है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सयम् व्यवसिता हि तः ॥

॥श्रीमद्गीता ६।३०॥

हे अर्जुन ! जो अनन्य भजनपरायण होकर अर्थात् मुझे छोड़कर और किसी देवी-देवता का भजन नहीं करता, मेरी भक्ति को छोड़ कर कर्म, योग-ज्ञानादि किसी अन्य साधन में निष्ठा नहीं रखता और मेरी एवं मेरी भक्ति की कामनाको छोड़कर स्त्री-पुत्र-धन राज्यादि किसी की भी कामना नहीं करता, वह यदि निरतिशय दुराचार युक्त अर्थात् परहिंसा, परदार एवं पर-द्रव्यादि ग्रहण परायण ही क्यों न हो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह मेरी भक्ति में सम्यक् प्रकार से निश्चित बुद्धि वाला है।

अपि एवं चेत् दो प्रत्यय देकर श्रीभगवान् चाहें अनन्य भजनकारी में ऐसे दुराचारकी नितान्त असम्भावना ही सूचित कर दी है। दुराचारो भजन कर नहीं सकता और भजन करने वाला दुराचारो हो नहीं सकता, फिर भी यदि ऐसी कल्पना कर ली जाये तो भी ऐसा व्यक्ति साधु ही मानने योग्य है। परवर्ती श्लोक—‘क्षिप्रं भवति’—में श्रीभगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि वह पुरुष अति शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण-भक्त के प्रति यदि किसी द्वारा निन्दा जनित के अपराध बन जाता है और वह प्रसन्न नहीं हो पाता है, तो साधक को उस साधुत्व में कभी भी शंका नहीं करनी चाहिये और न ही अपने को अपराध रहित ही मान लेना चाहिये। नमस्कार, स्तुति, अनुकूल सेवा करने पर भी यदि उनकी प्रसन्नता विधान नहीं हो पाती तो अतिशय पश्चाताप करते हुए श्रीनामसंकीर्तन की शरण ग्रहण करनी चाहिये, जिससे निश्चित ही उस अपराध की निवृत्ति हो जाती है।

किं च कश्चिन्महाभागवतत्वात्-महापराधिन्यपि यद्यपि न कुप्यति तदपि तत्राऽपराधवता स्वशुद्धयर्थं प्रणत्यादिभिरनुवर्तनीय एव सः । 'सिष्यं महापुरुषं पांशुभिर्निरस्ततेजःसुतवेव शोभनम् ।' इति सतां वाक्येन तच्चरणरेणूनामसहिष्णु-तया तत्फलप्रदत्वाच्चगमात् ।

यदि कोई महा-भागवत या साधु-पुरुष अपराधकारी के प्रति महा-अपराध हो जाने पर भी क्रोधित नहीं होते हैं, तो भी अपराध करने वाले व्यक्ति को अपने शोधनके लिए उन्हें प्रणामादि कर उनसे क्षमा याचना करती ही चाहिये । क्योंकि 'महापुरुषोंके चरणों की रज निन्दक-अपराधी पुरुषके तेजको निरस्त कर देती है, जो दुष्ट के लिए ही शोभनीय है—इत्यादि सत्पुरुषों के वचनानुसार उन महापुरुषों की चरण-रज अपराध को न सहन कर उस अपराध का फल प्रदान करती है ।

विश्वोत्तासिनी टीका—महाभागवत साधुपुरुष वे हैं जिनके देह-मन इन्द्रिय भक्ति की तादात्मता को प्राप्त कर अप्राकृत हो जाते हैं । उनमें देह का अन्धास, अहं-मम भाव कदाचित् नहीं रहता, समान बुद्धि होकर सर्वत्र उन्हें दृष्ट स्फूर्ति होती है, उनके प्रति यदि किसी प्रकार कभी अपराध हो जाये तो वह कभी क्रोधित नहीं होते हैं, उनका चित्त कभी भी विक्षुब्ध नहीं होता । यह नहीं कि भीतर मन में वे अपराधकारी व्यक्ति के प्रति तो क्षुब्ध हों और बाहर प्रसन्नता अथवा अपने को निन्दा-स्तुति में तुल्य प्रदर्शित करें । ऐसे महाभागवत वस्तुतः निन्दा-स्तुति, अपराध की ओर ध्यान ही नहीं देते ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है तो क्या ऐसे महाभागवत के प्रति किया हुआ अपराध अपराध नहीं माना जायगा ? और वह अपना कुछ भी दुष्फल प्रदान नहीं करेगा ?—इसके उत्तर में चक्रवर्त्तिराव का कहना है कि ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए । उनके प्रति किया हुआ अपराध भी साधक का अतिष्ठ करता है और अपना फल अवश्य प्रदान करता है । दक्ष यज्ञ में देवी सती के अग्नि-प्रवेश प्रसंग में श्रीमद्भागवत का कथन है—

नारचर्ममेतद्यवत्सु सर्वदा महद्भिनिन्वा कुणपात्मवाविषु ।

सेष्यं महापुरुषपादपांशुभिर्निरस्ततेजःसुत देव शोभनम् ॥

॥ श्रीभा० ४-४-१३ ॥

देवी सती ने अपने पिता दक्ष के प्रति कहा—जो दुष्ट मनुष्य इस शव-रूप जड़ शरीर की ही आत्मा मानते हैं, वे यदि ईर्ष्या वश सदा महापुरुषों—महाभागवतों की निन्दा करें तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । महाभागवतगण तो उनकी इस चेष्टा पर ध्यान नहीं देते, परन्तु उनके रणोंकी धूलि उनके इस अपराध को सहन नहीं करती है, और उनके तेज को गुण-यश, स्वार्थ-परमार्थ को नष्ट कर देती है । अतः महाभागवतों की निन्दा करना दुष्ट पुरुषों को ही शोभा देता है ।

इससे स्पष्ट है कि महा-भागवत यद्यपि निन्दादि अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते, परन्तु उनकी चरण-रज उस अपराध को कभी सहन नहीं करती । वह

अपराध का फल प्रदान करती है । अतः महाभागवतों के प्रति अपराध बन जाने पर अतीव अनुताप करते हुए प्रणामादि द्वारा उनसे क्षमा याचना करना परम-आवश्यक है । उससे अपराधी व्यक्ति अपराध रहित हो जाता है ।

किं च दुरवगमतिष्कारणके वचनित् कृपादृष्टौ प्रमविष्णौ स्वच्छन्दचरिते क्वचिन्महाभागवतमौलौ तु न कापि मर्यादा पर्याप्नोति । यथा शिविकां वाहयति कट्टकविषवधिष्यपि रूहगणे श्रीजङ्गमरतस्य कृपा । यथा च पाखण्डधर्मावलम्बिनि स्वाहिसार्थमुपसेदुषि दैत्यसमूहे उपरिचरस्य वसोश्वेदिराजस्य । यथा वा महापापनि स्वललाटे रुधिरपातिन्यपि माधवे प्रभुवरस्य नित्यानन्दस्येति । एवमेव गुरोरवज्ञा इत्यत्रापि ज्ञेयम् । शिवस्य श्रीविष्णोरित्यत्रैव विवेचनीयम् ॥२॥

कभी-कभी दुर्जय कारण वश अथवा बिना कारण ही कृपा दृष्टि करने में सर्व समर्थ स्वच्छन्द चरित्र वाले महाभागवत शिरोमणि साधुपुरुषों में इस विषय में कभी कोई भी मर्यादा स्थिर नहीं होती । जैसे अपनी पालकी को होने में नियुक्त करने वाले तथा कट्ट वचन रूपी विष की वर्षा करने वाले रूहगण राजा पर भी श्रीजङ्गमरत को कृपा प्रसिद्ध है और जैसे चेदिराज उपरिचर वसु ने अपने मारनेके लिए उद्यत पाखण्ड धर्मावलम्बी असुरों पर भी कृपा की थी तथा जैसे श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुपाद ने उनके ही माथे पर प्रहार कर रक्त धारा प्रवाहित करने वाले महापापी माधव (मधार्ई) पर भी कृपा की थी । इसी प्रकार गुरु-अवज्ञा रूप नामापराध के विषय में भी जान लेना चाहिये । श्रीशिव तथा श्री विष्णु के नाम-रूप-लोला में नेद-चिन्तन अपराध के विषय में अब आगे विवेचन करते हैं ॥२॥

विश्वोत्तासिनी टीका—ऊपर कह आये हैं कि जो महाभागवत हैं, वे तो अपराधों की ओर ध्यान ही नहीं देते, परन्तु उनकी चरण-रज उनके प्रति अपराध को सहन नहीं करती और अपराध का फल देती है । श्रीचक्रवर्त्तिपाद कहते हैं—यह बात भी कोई आवश्यक और निर्धारित नहीं है । कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जिनके प्रति अपराध किया जाता है वे कोई महाभागवत उस अपराधी व्यक्ति पर भी अपनी अतिशय कृपा दृष्टिकर उसका परम कल्याण विधान कर देते हैं । वहाँ महाभागवतों की कृपालुता ही मुख्य रूप से प्रकाशित हो उठती है । वे किसी पर भी कृपा कर उसका उद्धार करने में पूरे समर्थ होते हैं । फिर वे होते भी स्वच्छन्द चरित्र वाले हैं । सच पूछिये तो ऐसे ही महा-भागवत साधु-शिरोमणि नाम से शास्त्रों में कहे गए हैं, उनके लिए कोई मर्यादा, विधि-निषेध का बन्धन नहीं है । वे निज-अपराधी का भी अपनी कृपा दृष्टि से परम मंगल सम्पादन कर देते हैं । उदाहरण में राजा रूहगण पर श्रीजङ्गमरत की कृपा का उल्लेख किया गया है ।

स्वच्छन्द महत् पुरुषों की अपराधी व्यक्ति के प्रति कृपा-प्रसङ्ग में श्री जड़भरतजी एवं राजा रूहण का प्रसङ्ग संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है— सिन्धु-सौवीर देश का राजा रूहण एक बार पालकी पर चढ़ कर जा रहा था तो उसके व्यवस्थापकको एक पालकी उठाने वाले कहार की जरूरत पड़ गई। उसकी दृष्टि आङ्गिरस गोत्रीय ब्राह्मणकुमार परम भागवत श्रीजड़भरत पर पड़ी, जो देहाभिमान-शून्य, समस्त प्राणियों के प्रति सुहृद और बैरहीन थे। उसने उन्हें खूब, हृष्ट-पुष्ट एवं गठीले अङ्गों वाला जवान समझकर राजा की पालकी उठाने में जोड़ दिया। श्रीजड़भरत जी भी कुछ नहीं बोले और चुपचाप पालकी उठा कर अन्य कहारों के साथ-साथ चलने लगे। किसी चींटी-कीट आदि पर पैर न पड़ जाए श्रीजड़भरत जी पृथ्वी पर देख-देख कर पाँव रख रहे थे, जिस से उनकी चाल अन्य कहारों की चाल से भेल न खाती थी और राजा रूहण को भटका सा लगता था। राजा ने दो चार बार सबको डाँटा डपटा। फिर दण्ड के डर के मारे सबने कहा—‘राजन् ! यह एक नया कहार आ गया है जो टेढ़ा-मेढ़ा चल रहा है। इसी के दोष से पालकी ठीक नहीं चल पा रही है।’ इस बात पर राजा क्रोधित हो उठा, बोला—‘अरे ! क्यों रे ! तू बहुत थक गया दीखता है, अकेला उठा रहा है न पालकी को ? तू बहुत दुर्बल है और बुढ़ापे ने तुम्हें दबा रखा है। ठीक से चल, जानता है मैं कौन हूँ ?’

श्रीजड़भरतजी पर इन ताने-तवरों का क्या असर होता था। वे उसी प्रकार अपनी चाल से चलते रहे। अब तो राजा आग बगोला हो उठा और कहने लगा—‘क्या तू जोता ही मर गया है ? मेरी आज्ञा को तू उल्लंघन करते जरा भी नहीं डरता। याद रख, अभी तुम्हें यमराज के घर पहुँचा दूँगा।’ इस प्रकार अनेक बटु वचन राजा ने परमहंस श्रीजड़भरत जी के प्रति कहे। परन्तु कृपालु भरतजी के मुख पर, मन में कुछ भी क्षोभ नहीं आया वरन् कृपा ही उदित हो उठी। उन्होंने तब राजा को आत्मज्ञान का सद् उपदेश किया। देह की स्थूलता-कृशता, जीवन-मरण तथा परमार्थ का तत्त्व बतलाया। राजा रूहण उस यथार्थ, तत्त्व-उपदेश को सुन लज्जित हुआ और भट पालकी से उतर पड़ा और उनके चरणों में सिर रखकर अपने अपराधकी क्षमा याचना की। अन्त में अनेक जिज्ञासाओं का समाधान पाकर राजा रूहण कृतार्थ हो गया और देहात्म बुद्धि को त्यागकर भगवद् भजन में लीन होकर परमगति को प्राप्त हुआ। उसे अपराध करने पर भी महा भागवत श्रीजड़भरत की अतिशय कृपा प्राप्त हुई और उसका परम मंगल हुआ।

दूसरे उदाहरण में चेदिराज उपरिचर वसु का यहाँ उल्लेख किया गया है। राजा चेदिराज उपरिचर का चरित्र महाभारत, आदि पर्व के ६३ वें अध्याय में तथा, शान्ति पर्व के ३३७ वें अध्याय में विस्तार पूर्वक मिलता है। वे पीरव राजा के पुत्र थे। नित्य-निरन्तर धर्म में लगे रहते थे, उन्होंने एक बार बड़ी भारी तपस्या की। समस्त देवता एवं इन्द्र यह समझने लगे कि वे इन्द्रपद के लिए

इतनी तपस्या कर रहे हैं। इन्द्र देवताओं के साथ उनके पास आये और शान्ति पूर्वक उन्हें तपस्या से निवृत्त किया और चेदि देश का राज्य प्रदान किया। इन्द्र ने उन्हें एक स्फटिक मणिमय विशाल दिव्य विमान भी भेंट किया जो उनकी सेवा में आकाश में सदा उपस्थित रहता था। एक वैजयन्ती माला भी इन्द्र ने उन्हें प्रदान की जिसके धारण कर लेने पर संग्राम में उन्हें हर प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के आघात से बह बचाती थी। समय पर राजा ने अपने पुत्रों को विभिन्न राज्यों पर अभिषिक्त किया और स्वयं आकाशचारी उस विमान में ही सदा निवास करते, विचरते रहते थे।

एक बार ब्रह्मर्षियों एवं देवताओं में विवाद चल पड़ा। कर्म काण्ड के प्रधान शास्त्रों में जहाँ अज के द्वारा यज्ञ करने का विधान है, वह अज क्या है ? ब्रह्मर्षि कहने लगे यहाँ ‘अज’ शब्द का अर्थ है अन्न-बीज अर्थात् अन्न बीज के द्वारा यज्ञ करना चाहिये। परन्तु देवता कहने लगे ‘अज’—शब्द का अर्थ ‘बकरा’ है अर्थात् बकरे की बलि देकर यज्ञ करना चाहिये। ब्रह्मर्षियों ने कहा—‘यह सत्ययुग है, जिस यज्ञ में किसी पशु की हिंसा होगी वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं होगा, किन्तु अधर्म ही माना जाएगा।’ दोनों पक्ष अपनी-अपनी युक्ति देकर वाद-विवाद कर रहे थे कि उस समय उधर से श्रीउपरिचर वसु विमान में होकर निकले। ब्रह्मर्षियों ने कहा—‘देवताओं ! राजा वसु परम धर्मात्मा हैं, ये श्रेष्ठ यज्ञकर्ता हैं, दानपति एवं सत्यवादी हैं, इनसे अपने वादविवाद का फैसला लेना चाहिये।’ देवताओं ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जब उन्होंने अपना वृत्तान्त सुनाया तो राजा उपरिचर बोले—‘आप मुझे पहले सत्य-सत्य बताइये आप में से कौन अज का अर्थ ‘बकरा’ कहता है और कौन अन्न-बीज ? उन दोनों के बताने पर राजा वसु ने देवताओं का अनुमोदन कर दिया। यह सुनकर ब्रह्मर्षि क्रुपित हो उठे और बोले—‘तुमने यह जानकर भी कि अज का अर्थ अन्न-बीज है, देवताओं का पक्ष लिया है, इसलिए तुम स्वर्ग से नीचे गिर जाओ और हमारे शाप से पृथ्वी भेद कर पाताल में प्रवेश करो ! तुमने यदि वेद और सूत्रों के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो। यदि हम शास्त्र विरुद्ध वचन कहते हैं तो हमारा पतन हो जाए।’

इतना कहते ही उसी क्षण उपरिचर राजा वसु का पतन हो गया और वह पृथ्वी भेदकर पाताल में जा गिरा। राजा पाताल में रहकर भी श्रीभगवन्नाम कानिरन्तर जप करते रहे। श्रीनारायण अति शीघ्र प्रसन्न हुए और गरुड़ को भेजकर राजा उपरिचर वसु को अपने पास बैकुण्ठ में बुला लिया।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मपियों—सत् पुरुषों के प्रति अपराध होने पर भी श्रीभगवान् की उन्हें कृपा प्राप्त हुई और वे बैकुण्ठ में सशरीर आकर निवास करने लगे। ग्रन्थ के मूलानुसार ऐसा संकेत मिलता है कि पाण्डवी देवों ने किसी समय राजा को मारने का प्रयत्न किया परन्तु राजा ने उन पर भी कृपा कर दी, उनका उद्धार कर दिया, परन्तु महाभारत में ऐसा उल्लेख उनके चरित्र में कहीं न मिल पाया। अनुसन्धनीय है।

सारांश यह है कि स्वच्छन्द चरित्र सत् पुरुषों के प्रति अपराध होने पर भी अपराधी का उद्धार हो जाता है। अतः कोई मर्यादा स्थिर नहीं की जा सकती।

तीसरे उदाहरण में श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने अक्रोध परमानन्द श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुकी माघाई पर कृपाका उल्लेख किया है। जगाई-माघाई उद्धार लीला सुप्रसिद्ध है। जगाई-माघाई अतिशय दुराचारी, गो-ब्राह्मण हिंसक तथा मद्यपान करने वाले थे। श्रीमन्महाप्रभु के आदेशानुसार श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु एवं ठाकुर श्रीहरिदास जी नवद्वीप में घर-घर पर जाकर हरिनाम की भिक्षा कर रहे थे। श्रीनिताईचाँद ने उन दोनों पर कृपा करने का निश्चय कर लिया। अकेले ही उन दोनों के पास पहुँचे और उन से 'हरिनाम' बोलने की भिक्षा माँगने लगे। माघाई ने मद्य की भरी सुराही प्रभुपाद के माथे पर दे मारी। माथा फट गया। रक्तधारा बहने लगी। परन्तु श्रीनिताईचाँद फिर भी वहाँ जमे रहे। उनसे हरिनाम बोलने का आग्रह ही करते रहे। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव यह घटना सुनकर वहाँ आये और सुदर्शन का आह्वान कर माघाई का संहार करना चाहते थे कि श्री निताईचाँद ने प्रभु के चरण पकड़ लिए। उनके क्रोधावेश को शान्त कर उन दोनों के उद्धार करने की ही प्रार्थना की। हुआ यही कि दोनोंको प्रभुने आत्मसात कर लिया और दोनों परम वैष्णव सदाचारी बन कृत्य-कृत्य हो गये। यह है महत् पुरुषोंके प्रति अपराध होने पर भी उनकी असीम कृपाका स्वच्छन्द विकास। अतः इस विषय में कुछ नियम-मर्यादा स्थिति नहीं की जा सकती।

श्रीगुरुदेव की अवज्ञा के अपराध के विषय में भी ऐसा जान लेना चाहिए, अर्थात् श्रीगुरुदेव की अवज्ञा का फल अति भयानक होता है। स्वार्थ-परमार्थ से व्यक्ति को भ्रष्ट कर देता है, भगवत्-प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है, परन्तु श्री गुरुदेव की कृपा की भी कोई मर्यादा स्थिर नहीं की जा सकती। अवज्ञा-अपराध हो जाने पर भी वे कृपालु गुरुदेव अपराधी शिष्य पर सदैव अपनी कृपा बनाए रखते हैं और उसका पतन नहीं होने देते।

अब आये श्रीविष्णु एवं श्रीशिव के नाम-रूप लीला में भेद-बुद्धि विषयक अपराध के सम्बन्ध में विवेचना करते हैं।

चैतन्यं हि द्विविधं भवति—स्वतन्त्रमस्वतन्त्रञ्च। तत्र प्रथमं सर्वव्यापकमो-
श्वराख्यं द्वितीयं देहमात्रव्यापिशक्तिकं जीवाख्यमीशितव्यम्। ईश्वरचैतन्यं द्विविधं
मायास्पर्शरहितं लीलया स्वीकृतमायास्पर्शञ्च तत्र प्रथमं नारायणाद्यभिधम्।
यदुक्तम्—“हरि हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः” इति। द्वितीयं शिवाद्यभि-
धम्। यदुक्तम् “शिवः शक्तियुतः शशवत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः” इति। अत्र गुण-
संवृतलिङ्गेनापि तस्य जीवत्व नाशङ्कनीयम्।

‘क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।

यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

इति ब्रह्मसंहितोक्तं।

चैतन्य दो प्रकार का है, एक स्वतन्त्र चैतन्य एवं दूसरा अस्वतन्त्र-चैतन्य। इनमें सर्वव्यापक ईश्वर नामक जो चैतन्य है वह स्वतन्त्र-चैतन्य है। और केवल देह में व्याप्त, शक्ति विशिष्ट जीव-नामक जो ईश्वराधीन चैतन्य है, वह अस्वतन्त्र-चैतन्य है। ईश्वर-चैतन्य फिर दो प्रकार का है। एक माया के स्पर्श से रहित है, दूसरा लीला से माया के स्पर्शको स्वीकार किए हुए है, पहला चैतन्य श्रीनारायण आदि नामों से अभिहित है, जैसे कि कहा गया है—‘श्रीहरि ही माया से परे साक्षात् निर्गुण पुरुष हैं।’ दूसरा चैतन्य श्री शिवआदि नामों से पुकारा जाता है, जैसा कि शास्त्र में कहा गया है—‘श्रीशिव नित्य शक्तियुक्त हैं, त्रिलिङ्ग और गुणों से संयुक्त हैं।’ किन्तु यहाँ गुणों से संयुक्त लक्षण से उनमें जीवत्व की आशंका करना युक्त नहीं है।

श्रीब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि विशेष विकार के कारण जैसे दूध के दहि में परिणित हो जाने पर भी दहि का दूध से पृथक् और कोई उत्पन्न होने का कारण नहीं है उसी प्रकार जो श्रीगोविन्द आदि-पुरुष कार्य-प्रयोजन से शिव रूपता को प्राप्त करते हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूँ।

विश्वोत्तासिनी टीका—चैतन्य अर्थात् चित् तत्त्व दो प्रकार से अभिव्यक्त होता है। एक तो परमात्मा ईश्वर स्वरूप से, जो सर्व व्यापक, विभु तत्त्व है, परम स्वतन्त्र है, उसे स्वतन्त्र-चैतन्य कहा गया है। दूसरा जीवात्मा स्वरूप से जो मनुष्य, पशु पक्षी आदि किसी भी शरीर में रहकर उसकी चेतनता सम्पादन करता है और परमात्मा की ही तटस्थ-शक्ति स्वरूप जीव नाम से विख्यात है। वह अणु-चैतन्य है, अस्वतन्त्र है अर्थात् परमात्मा के आधीन है, क्योंकि उसका समस्त कर्तृत्व परमात्मा के आधीन है। उसे ‘अस्वतन्त्र-चैतन्य’ कहा गया है।

चित्-स्वरूप परमात्मा अनेक रूपों से आत्मप्रकट करते हुए भी माया स्पर्श-रहित एवं लीलावश माया स्पर्श सहित—इस भेद से दो प्रकार विलास करते हैं। माया का कोई पृथक् अस्तित्व या सत्ता नहीं है। परमात्मा ही एक अद्वयज्ञान

तत्त्व है, माया उसी चित् स्वरूप परमात्मा की ही बहिरङ्गा शक्ति है। स्वयं रूप परमात्मा श्रीकृष्ण की विलास मूर्ति श्रीनारायण मायातीत हैं। उनकी स्थिति परव्योम धाम में है, जहाँ कोटि-कोटि भगवत्-स्वरूपों के वैकुण्ठ धाम हैं, उनके लीलापरिकर हैं, लीला-धाम के समस्त उपकरण हैं। वह परव्योम दिव्य—अप्राकृत चिन्मयधाम है। उक्त चिन्मय धाम परव्योम के बाहर चिन्मय कारण-समुद्र या विरजा नदी है। उसके बाहर ही माया राज्य है या माया की अभिव्यक्ति है। अतः परव्योम धाम में माया का प्रवेश नहीं है, कर्तृत्व नहीं है। परव्योमाधिपति श्रीनारायण सर्वथा माया के स्पर्श से रहित हैं। माया का दूर से अवलोकन, या अन्य कोई भी संसर्ग उनका उसके साथ नहीं है। वहाँ मायाके सत्-रजः तम गुणोंका भी कोई कार्य नहीं है। श्रीमद्भागवत (१०-८८-५) में श्रीशुकदेव मुनि ने कहा है—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।

स सर्ववृत्तुपव्रष्टा तं भवन् निर्गुणो भवेत् ॥

राजा परीक्षित् ! भगवान् श्रीहरि प्रकृति से परे स्वयं पुरुषोत्तम एवं प्राकृत-गुणों से रहित हैं। वे सर्वज्ञ हैं, सबके साक्षी हैं, जो उनका भजन करता है, वह भी गुणातीत—प्राकृत-गुणों से रहित हो जाता है। अर्थात् श्रीहरि साक्षात् ईश्वर हैं, ज्ञानेन्द्रियों के या अन्तःकरण के अन्तर्यामी हैं। ऐसे गुणातीत श्रीहरि का भजन करने वाला, चाहे सकाम ही क्यों न हो, क्रमशः कामना-रहित गुणातीत पद को ही प्राप्त कर लेता है।

दूसरा ईश्वर-चैतन्य वह है, जिसका सृष्टि लीला में माया के साथ संसर्ग है, जो माया के गुणों से युक्त है। उसको 'शिव' नाम से अभिहित किया गया है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०-८८-३) में वर्णित है—

शिवः शक्तियुतः शशवत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।

वैकारिकस्तजसश्च तामसश्चेत्पहं त्रिधा ॥

श्रीशिव सदा अपनी शक्ति से एवं सत्व आदि गुणों से युक्त रहते हैं। वैकारिक, तेजस, तथा तामस—इन तीन प्रकार के अहंकार के वे अधिष्ठाता हैं। अर्थात् श्रीशिव श्रीहरि के गुणावतार होने से सदा सर्व सामर्थ्य युक्त हैं। सत्-रजः तम प्राकृत गुणोंसे संव्याप्त रहते हैं। तीनों प्रकार के अहंकार के वे अधिष्ठाता हैं अतः वे त्रिलिङ्ग हैं। श्रीसनातनपादने कहा है वे श्रीहरि ही भक्तोंकी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए माया को स्वीकार करते हैं, इसलिए प्राकृत गुणों से व्याप्त रहते हैं। अथवा भक्तवात्सल्यगुण के वशीभूत होकर ही वे त्रिगुणों को स्वीकार करते हैं। इसलिए त्रिलिङ्ग हैं। उनका भजन करने वाले गुणातीत पद को प्राप्त नहीं करते। मायिक भागों को ही प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०-८८) में राजा परीक्षित् जी के प्रश्न करने पर कि हे मुनिवर ! भगवान् शिव ने समस्त भोगों को त्याग कर रखा है, परन्तु देखा यह जाता है कि जो उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और समस्त भोग सम्पन्न

होते हैं और भगवान् श्रीहरि लक्ष्मीपति हैं, निखिल ऐश्वर्य-भोग में विलास करते हैं, परन्तु उनके उपासक निर्वन् एवं भोगों से रहित होते हैं। श्रीशिव एवं श्रीहरि के उपासकों को उनके उपास्य-स्वरूप के विपरीत ही फल मिलता है। त्यागी के उपासक को भोग और लक्ष्मीपति—भोगी के उपासक को त्याग, इसमें क्या रहस्य है ?

इसके उत्तर में श्रीशुकदेव जी ने दोनों के स्वरूपों का, उनकी उपासना के फल का तथा माया से श्रीशिव का सम्पर्क तथा श्रीहरि का मायातीत होना—यह सब विषय वर्णन किया है। उनमें उक्त विषयगत पार्थक्य रहते हुए भी वे तत्त्वतः अभिन्न हैं। चैतन्य-ईश्वर के ही ये दोनों प्रकार भेद हैं। मायिक गुणों से संयुक्त हैं, परन्तु फिर भी श्रीशिव जीवतत्त्व नहीं हैं। जीव माया गुणों से आवद्ध है, उनके द्वारा नियंत्रित है, परन्तु श्रीशिव उन गुणों के अधिष्ठाता हैं, नियामक हैं, उनसे आवद्ध नहीं हैं।

श्रीशिव एवं श्रीहरि की अभिन्न स्वरूपता का वर्णन करते हुए श्रीब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि जैसे दहि दूध का ही एक विकार-प्राप्त स्वरूप है। दूध से दहि कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, उसी प्रकार श्रीशिव की ईश्वरता भी श्री गोविन्द की ईश्वरता के अधीन है। वे श्रीगोविन्द से दूसरे कोई पृथक् ईश्वर नहीं हैं। वे स्वयं ईश्वर ही विशेष लीला के लिए पृथक् स्वरूप प्राप्त कर परतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। माया का तमोगुण, तटस्थ-शक्ति का स्वल्पता-गुण एवं चिच्छक्ति का किञ्चित् ह्लादिनीमिथित सविद् गुण—इह तीनों मिलकर एक विकार-विशेष उदित होता है। वही विकार विशेष युक्त स्वांश-भावभास स्वरूप ही त्रिलिङ्गरूप श्रीशिव हैं। वे श्रीगोविन्द के गुणावतार कहे गये हैं। अतः श्री शिव श्रीहरि से सर्वथा अभिन्न ही हैं। ऋग्वेद में भी स्पष्ट उल्लेख है—'अथ नित्यो देव एको नारायणः, ब्रह्मा च नारायणः, शिवश्च नारायणः इत्यादि। श्रीनारायण ही एकमात्र नित्य देव हैं, ब्रह्मा एवं शिव भी श्रीनारायण स्वरूप हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं। अतः श्रीशिवजी को मायिक गुण संयुक्त जान कर कभी उन्हें जीव-तत्त्व नहीं मानना चाहिये। वे ईश्वर तत्त्व ही हैं।

अन्यत्र च पुराणागमादिषु बहुत्र ईश्वरत्वेन प्रसिद्धे च । यत् 'सत्त्वं रजः-स्तम इति प्रकृतेर्गुणा' इत्यत्र 'स्थित्यादये हरिर्विरिञ्चिह्वरा' इत्यनेन तत्साधार-ण्यात् ब्रह्मण्यपीश्वरत्वमवगम्यते त्वीश्वरावेशादेवेति ज्ञेयम् ।

'मास्त्वान् यथाश्मशकलेषु निजेषु तेजः स्वीयं कियत् ।

प्रकटयत्यपि तद्वद्वन्न ब्रह्मा य एव जगदण्डविधानकर्ता ॥

(इति ब्रह्मसंहितोक्तैः ४६)

अन्यत्र भी पुराण आगमादि शास्त्रों में श्रीशिवजी की ईश्वरता प्रसिद्ध है। जैसा कि श्रीमद्भागवत 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा'—सत्त्व, रज एवं तम प्रकृति के गुण हैं—लोक में 'स्थित्यादये हरिर्विरिञ्चिह्वरा' संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के लिए श्रीविष्णु, श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव इत्यादि कहा गया है। इस

श्लोक से साधारणतः ब्रह्माजी की भी ईश्वरता जानी जाती है। वह ईश्वरता ईश्वरावेश से ही है—ऐसा समझना चाहिये। ब्रह्मसंहिता (४६) में भी यही कहा गया है कि सूर्य जैसे सूर्यकान्त मणि समूह में अपना तेज कुछ परिमाणमें प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विभिन्नांश स्वरूप श्रीब्रह्मा जिनसे शक्ति प्राप्त कर ब्रह्मांड का सृष्टि कार्य विधान करते हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।

विश्वोत्सासिनी टीका—पुराण आगम आदि शास्त्रों में श्रीशिवजी की ईश्वरता प्रसिद्ध है। किन्तु वे स्वतन्त्र स्वयं-सिद्ध ईश्वर श्रीहरि से कोई दूसरा पृथक् ईश्वर-तत्त्व नहीं हैं। यही बात श्रीमद्भागवत (१-२-२३) में भी स्पष्ट कही गई है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्भुक्तः परः पुरुष एक इहास्थ भवति ।

स्थित्याद्ये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयोसि तत्र खलु सत्त्वतोर्गुणां स्पृ ॥

प्रकृति के तीन गुण हैं, सत्त्व, रज, और तम। इनको स्वीकार करके इस संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के लिए एक अद्वय परमात्मा (श्रीकृष्ण) ही विष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र ये तीन नाम-रूप ग्रहण करते हैं। किन्तु मनुष्य का परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करने वाले श्रीहरि से ही होता है।

एक ही परब्रह्म तत्त्व सृष्टि के पालन, उत्पत्ति एवं संहार के लिए विष्णु, ब्रह्मा, एवं शिवरूप से आत्मप्रकट करता है। ये तीनों गुणावतार हैं, श्रीब्रह्मा एवं श्रीशिव रज्जु तम गुणों की उपाधियुक्त हैं। श्राविष्णु की तरह इनमें परब्रह्मत्व का अभाव है। ये धर्म-अर्थ-काम पर्यन्त प्रधान कर सकते हैं, श्रीविष्णु सत्त्वगुण सम्पन्न हैं, वे मोक्ष तक प्रदान करते हैं। इसलिये श्रीचक्रवर्तिपाद ने कहा है—साधारण दृष्टि से इस श्लोक में श्रीशिवजी की तरह श्रीब्रह्माजी की भी ईश्वरता सिद्ध होती है, परन्तु इनमें ईश्वरावेश है। ईश्वरता का कुछ एक अंश है इनमें।

श्रीब्रह्मसंहिता के उक्त श्लोक का तात्पर्य भी यही है कि जैसे सूर्य अनेक सूर्यकान्तमणियों में अपने तेज या शक्ति का कुछ अंश प्रकट करता है और वे मणियाँ भी कपड़ा आदि को जला देती हैं, उसी प्रकार श्रीशिव एवं ब्रह्माजी में भी परमेश्वर अपनी आंशिक शक्ति तज्ज्वार करते हैं, सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय आदि के लिए। ये दोनों परमेश्वर श्रीनारायणके स्वांश नहीं, विभिन्नांश हैं तात्पर्य यह है कि अद्वय ज्ञान तत्त्व परमेश्वर श्रीनारायण ही गुणावतारों के रूप में आत्म-प्रकट करते हैं, अतः इन्हें जो पृथक् ईश्वर मानता है, पृथक् ईश्वर तत्त्व जान कर श्रीनारायण से इन्हें अलग जानता है, वह नामापराध करता है।

किन्तु उपासना एवं उपास्य की दृष्टि से साधकोंकी अपनी-अपनी भावना-नुसार प्रवृत्ति है। श्रीशिव-ब्रह्मा यहाँ तक श्रीविष्णु भी सत्त्व-गुण से संश्लिष्ट हैं। इन सब की उपासना भी गुणमयी है, निर्गुणा नहीं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष

तक को देने वाली है। परन्तु स्वयं भगवान् श्रीहरि ही निर्गुण-मायातीत हैं, उनकी उपासना या भक्ति निर्गुणा है और वे पंचम पुरुषार्थ प्रेमा-भक्ति को प्रदान करने वाले हैं।

जैसा कि लघुभागवतामृत (५।३७) में कहा गया है—

सन्तवतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः ।

कृष्णावन्मः को वा सतास्वपि प्रेमयो भवति ॥

भगवान् श्रीपुष्करनाभ के अनन्त अवतार हैं, और वे समस्त सर्वभाव से मंगलकारी हैं, किन्तु चैतन्य जीवों की तो क्या बात, जड़-लतादिक को भी प्रेमदान श्रीकृष्णके बिना और कौन कर सकता है? प्रेम प्रदाता केवल श्रीकृष्ण ही हैं? इस विषय की आगे श्रीग्रन्थकार और भी स्पष्ट करते हैं—

तथा—पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयमयः ।

तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद् ब्रह्मवर्शनम् ॥

इत्यत्र तमसःसकाशात् रजसः श्रेष्ठोऽपि वस्तुतो रजसि धूमस्थानीये शुद्धतेजःस्थानीयस्येश्वरस्यानुलब्धेश्च सत्त्वे सज्ज्वलनात्तो शुद्धतेजसः साक्षाद्विध पार्थिवे दारुस्थानीये तमस्यपि तस्यान्तर्हिततथोपलब्धिरस्त्येव। तत्कार्यमुपुप्तौ निर्भेदज्ञानसुखानुभव इवेत्यादिविचार्यतत्त्वमवसेयम् ।

श्रीमद्भागवत (१-२-२४) में कहा गया है कि जैसे पृथ्वी के विकार लकड़ी की अपेक्षा धुँआं श्रेष्ठ है और धुँएँ से अग्नि श्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञ-यागादि के द्वारा अग्नि सद्गति (स्वर्ग आदि के भोग) प्रदान करता है, उसी प्रकार तमोगुण से रजोगुण श्रेष्ठ है और रजोगुण से भी श्रेष्ठ है सत्त्वगुण क्योंकि वह ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाला है।

इस श्लोक में तमोगुण से रजोगुण को श्रेष्ठ बताया गया है, फिर भी प्रकृत पक्ष धुँआं स्थानीय जो रजोगुण है, उसमें शुद्ध तेज स्थानीय ईश्वर की उपलब्धि नहीं है। और प्रज्ज्वलित अग्नि स्थानीय सत्त्वगुण में शुद्धतेज स्वरूप ईश्वर की साक्षात् उपलब्धि है। लकड़ी स्थानीय जो तमोगुण है, उसमें अन्तर्हित रूप से ईश्वर की उपलब्धि है ही। लकड़ी में जैसे अग्नि अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है, घर्षणादि से उसका बाहर भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार तमोगुण में भी अव्यक्त रूप से ईश्वर विद्यमान है। तमोगुण का जो कार्य है, सुपुत्ति, उसमें जैसे निर्भेद ज्ञान सुख का अनुभव है एवं जैसे ईश्वरका अनुभव भी होता है। उसी प्रकार विचार कर तत्त्व का निर्णय कर लेना चाहिये।

विश्वोत्सासिनी टीका—श्रीशोक्तिकादि ऋषियों के द्वारा श्रीकृष्ण के अवतारों के विषय में जिज्ञासा करने पर श्रीसूतजी ने कहा है कि सजातीय-विजातीय एवं स्वगत भेद रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द ज्ञान स्वरूप को ही तत्त्ववेत्तागण तत्त्व कहते हैं। कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई परमात्मा और कोई उसे भगवान् कहता है। वह ज्ञान स्वरूप परतत्त्व है एक मात्र स्वयं भगवान्

श्रीकृष्ण ! जो सर्वत्र, जड़-चेतन में व्याप रहे हैं अपने भक्तों को सुख प्रदान करने के लिए वे ही कृपावश अनेक लीला करते हैं और उसी सन्दर्भ में प्राकृत जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय भी करते हैं। वे सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मायातीत हैं, उनके साथ माया का कोई भी संश्रव नहीं है। अतः प्राकृत ब्रह्माण्डों की सृष्टि, स्थिति पालन के लिए वे प्राकृत गुणों सत्त्व, रजः, तमः के अधिष्ठाता रूप में गुणावतार धारण करते हैं। श्रीविष्णु (प्रथम पुरुष—कारण समुद्रापी) सत्त्वगुण के अधिष्ठाता हैं, जो सृष्टि का पालन करते हैं, रजोगुण के अधिष्ठाता श्रीब्रह्मा हैं जो सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं और श्रीशिव तमोगुण के अधिष्ठाता हैं जो सृष्टि को लय करते हैं।

कार्य-भेद के कारण तमोगुण से रजोगुण की और रजोगुण से सत्त्वगुण की श्रेष्ठता वर्णन की गई है। सत्त्वगुण युक्त होते हुए भी श्री विष्णु सत्त्व गुण से सर्वथा अछूते ही रहते हैं। जैसे किसी चित्र पर शीशा चढ़ा रहता है। शीशा उस चित्र पट को आवृत नहीं करता, उसी प्रकार सत्त्वगुण से युक्त रहने पर भी श्री हरि उससे अलिप्त—अनावृत रहते हैं। किन्तु श्रीब्रह्मा रजोगुण से तथा श्रीशिव तमोगुण से ऐसे आवृत या लिप्त रहते हैं जैसे कोई वस्त्र लाल या काले रङ्ग से रङ्ग जाता है। सत्त्वगुण को इसलिए भी श्रेष्ठ कहा गया है कि सत्त्वगुण से ब्रह्म साक्षात् होता है—श्रीमद्भागवत (११।२४।१४) में श्रीभगवान् ने कहा है—

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत् ।

प्राकृतं तामसं ज्ञानं मग्निर्यत् निर्गुणं स्मृतम् ॥

केवल्य सात्त्विक ज्ञान है, वैकल्पिक अर्थात् देहादि विषयक ज्ञान राजस है और प्राकृत (बालक-मूकादि के ज्ञान समान) ज्ञान है तामस और मेरा ज्ञान निर्गुण है।

श्रीजीवगोस्वामिपाद ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—“केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्धजीवाभेदेन ज्ञानं कैवल्यम् । केवल-शब्द निर्विशेष ब्रह्म को बताता है। अतः सत्त्वगुण से निर्विशेष ब्रह्म के साथ शुद्धजीव के अभेद ज्ञान को उदित करता है।

श्रीचक्रवर्त्तिपाद का कथन है कि तमोगुण तो लकड़ी स्थानीय है, धुआँ रजोगुण स्थानीय है और प्रज्ज्वलित अग्नि सत्त्वगुण स्थानीय है। सत्त्वगुण में निर्विशेष ब्रह्म का प्रकाश है, रजोगुण रूप धुआँ में ब्रह्म का प्रकाश नहीं है, परन्तु अग्नि प्रकाशित होने से पहली अवस्था-तापादि की अनुभूति है। तमोगुण रूप लकड़ी में अग्नि व्याप्त है, जो घर्षण आदि से व्यक्त हो आता है। इसी तरह तमोगुण के अधिष्ठाता श्रीशिव में वह सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व विद्यमान है। सुषुप्ति जो तमोगुण का कार्य है, उसमें भी अनुभूति रहती है। सारांश यह है कि श्रीशिव में वही अद्वय-तत्त्व व्याप्त है। वही परतत्त्व ही गुणावतार रूप में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन व लय कार्य के लिये ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव रूप में आत्म प्रकट करता है। तत्त्व विचार से यही निर्णय होता है।

अधेशितव्यं चैतन्यञ्च स्वदशाभेदेन द्विविधम् । अविद्याया वृतमनावृतञ्च । तत्रावृतं द्विविधम् ईश्वरेणैश्वर्यशक्त्यानावृष्टमाविष्टञ्च । अनावृष्टं स्थूलतो द्विविधम्—ज्ञान-भक्ति-साधनवशात् ईश्वरे लीनमलीनञ्च । प्रथमं शोच्यम्, द्वितीयं तन्माधुर्यस्वाद्यशोच्यम् । आविष्टञ्च द्विविधम्, चिदंशभूतज्ञानादिभिर्मायांशभूतसु-ष्ट्यादिभिश्चेति । प्रथमं चतुःसनादि, द्वितीयं ब्रह्मादीति । एवं च विष्णुशिवयोरभेद एव प्रसक्तश्चैतन्यैकरूप्यात् ।

ईशितव्य-चैतन्य अर्थात् जो ईश्वर के आधीन चैतन्य है, वह अपनी-अपनी अवस्था के भेद से दो प्रकार का है—एक अविद्या से आवृत और दूसरा अविद्या से अनावृत। इनमें अविद्या से आवृत चैतन्य है—देवता, मनुष्य, तिर्यग—पशु-पक्षी आदि। अनावृत-चैतन्य फिर दो प्रकार का है—एक ईश्वर की ऐश्वर्यशक्ति द्वारा अनावृष्ट और दूसरा उससे आविष्ट। अनावृष्ट-चैतन्य फिर स्थूल रूप से दो प्रकार का है—एक ज्ञान-भक्ति साधनवश ईश्वर में लीन-अवस्था-प्राप्त है और दूसरा अलीन-अवस्था-प्राप्त। जो लीन-अवस्था प्राप्त है वह शोचनीय है और दूसरी जो अलीन-अवस्था है, उसमें श्रीईश्वर का माधुर्य आस्वादन प्राप्त होता है, अतः वह शोचनीय नहीं है। ऐश्वर्य शक्ति से आविष्ट चैतन्य भी फिर दो प्रकार का है। एक है चिदंशभूत-ज्ञानादि ऐश्वर्य-शक्ति द्वारा आविष्ट और दूसरा मायांशभूत-सृष्टि आदि ऐश्वर्य-शक्ति द्वारा आविष्ट। इनमें जो प्रथम प्रकार के हैं, वे हैं चतुः सनादिक और दूसरे प्रकार में हैं ब्रह्मादिक। इस प्रकार चैतन्य के एकरूपत्व के कारण श्रीविष्णु एवं श्रीशिव में अभेद ही सिद्ध होता है।

विश्वोत्सासिनी टीका—चैतन्य के दो भेद पहले कह आए हैं, स्वतन्त्र-चैतन्य तथा अस्वतन्त्र-चैतन्य। अस्वतन्त्र-चैतन्य से ईश्वराधीन जो जीवात्मा है, वही अभिप्रेत है। इस जीवात्मा की भी दो अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं के भेद से जीवात्मा या अस्वतन्त्र-चैतन्यको दो प्रकार का माना गया है। एक तो अविद्या अर्थात् अहं-मम, रागद्वेष, अभिनिवेश आदि से आवृत या कवलित है। जितने भी देवता हैं, मनुष्य पशु-पक्षी हैं—वे सब अनादिकाल से अविद्या से घिरे हुए हैं यद्यपि वे भी हैं चैतन्य ही। अतः उन सबको अविद्या-आवृत-चैतन्य कहा गया है।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें चैतन्य अविद्या से कवलित नहीं, अविद्या उसे कभी भी आवृत नहीं कर सकती। उसे यहाँ अविद्या-अनावृत चैतन्य कहा गया है। इसे भी अवस्था-भेद से दो प्रकार का कहा गया है। एक वह है जिसमें ईश्वर की ऐश्वर्य शक्ति का आवेश नहीं है। उसमें कुछ ऐश्वर्यमयी क्रिया नहीं है। दूसरा वह है जिसमें ईश्वर की ऐश्वर्य शक्ति का आवेश है, वह ऐश्वर्यमय कार्य कर सकता है। जो अनावृष्ट चैतन्य है वह फिर दो श्रेणियों में बाँटा गया है।

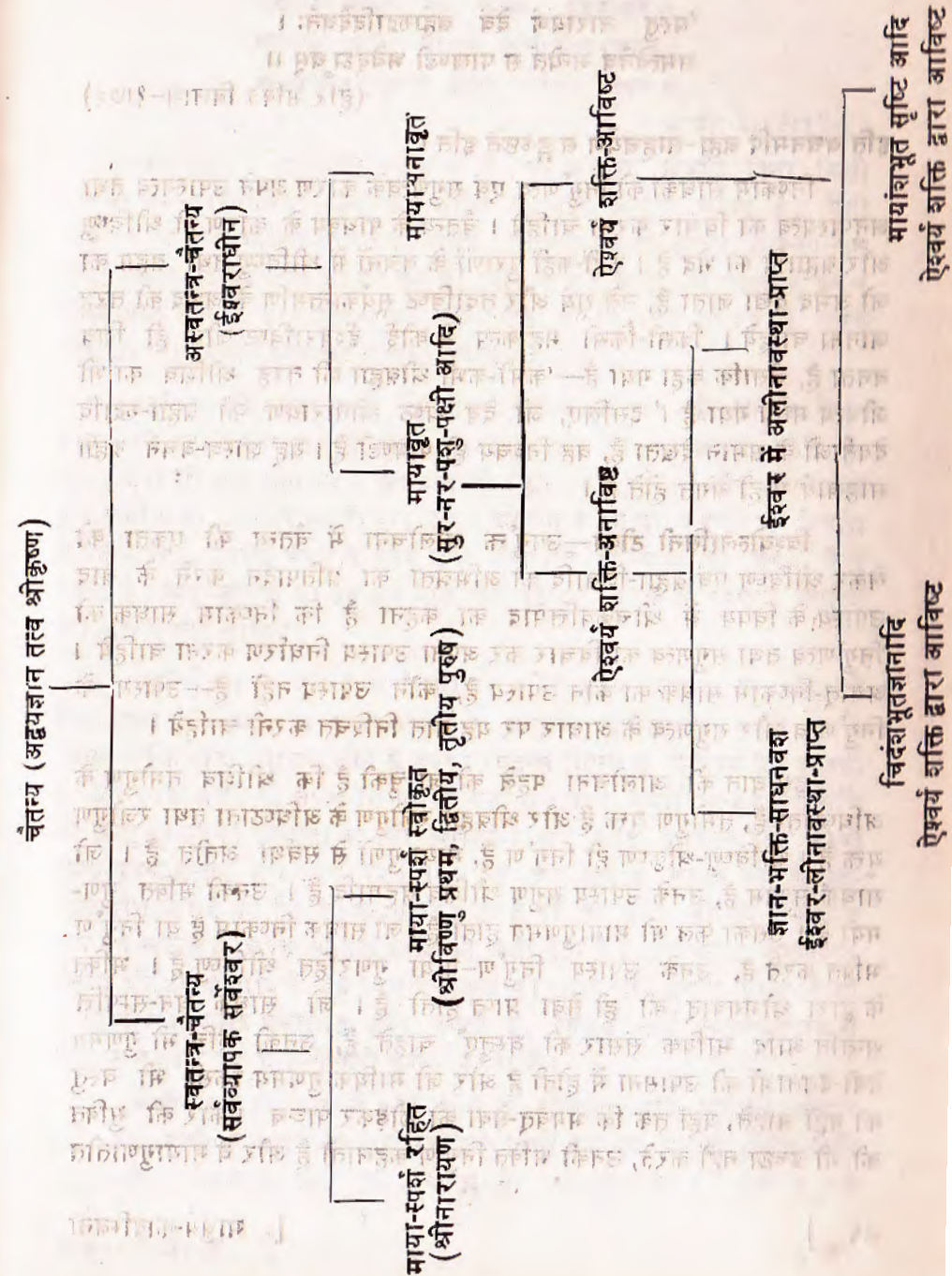
एक धर्म का तो वे आते हैं जो ज्ञान का साधन करते हुए, जीव-ब्रह्म को एकता का चिन्तन करते हुए निर्विशेष ब्रह्म में लीन हो जाते हैं अर्थात् अग्नि में लोहे के कील की भाँति ब्रह्म की तादात्म्यता प्राप्त कर लेते हैं अथवा ज्ञान-भक्ति का साधन करते हुए ईश्वर-सायुज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् सविशेष ईश्वर में लीन हो जाते हैं। चाहे ज्ञान द्वारा ब्रह्म-लीन अवस्था को प्राप्त करें या भक्ति द्वारा सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर ईश्वर में लीन अवस्था प्राप्त करें—उन दोनों का पृथक् अस्तित्व रहता है। क्योंकि स्वरूपतः वे अस्वतन्त्र ईश्वराधीन चैतन्य के अन्तर्भूत हैं। लीन-अवस्था प्राप्त चैतन्य (जीवों) को शोचनीय कहा गया है। ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त जीव स्वरूपानुबन्धि धर्म ईश्वर-सेवा से वञ्चित रहते हैं। समुद्र में पानी की बूँद की तरह मिलकर समुद्र की वैचित्री का आनन्द आस्वादन नहीं कर पाते। उन्हें अपने अस्तित्व का अनुसन्धान ही नहीं रहता। वे श्रीभगवान् के—सविशेष ब्रह्म के अनन्त करुणागुण संकलित माधुर्य के आस्वादन का सोभाग्य नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिए उन्हें दुर्भाग्यवान या शोचनीय कहा गया है। ब्रह्म सायुज्य-प्राप्त जीवों से ईश्वर-सायुज्य-प्राप्त जीवों को तो और भी अधिक दुर्भागी माना गया है। ब्रह्म निर्विशेष है ही, उसमें तो माधुर्य-वैचित्री है ही नहीं। किन्तु ईश्वर सविशेष ईश्वर को प्राप्त कर—अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यमूर्ति को प्राप्त करके भी वे आस्वादन से वञ्चित रहते हैं। मानो गङ्गा को प्राप्त कर भी शीतलजल के पान करने का उन्हें सोभाग्य नहीं प्राप्त होता। इससे अधिक दुर्भाग्य क्या हो सकता है?

दूसरे हैं अलीन-अवस्था-प्राप्त अर्थात् वे सदा ईश्वर से अपने को पृथक् जानते हैं, मानते हैं। ईश्वर से स्वामी-सेवक भाव रखते हैं। उन्हें अपना प्रभु, सखा, पति यहाँ तक की पुत्र मानते हैं। अभीष्ट भाव से उनको रूप-लीला-गुण-माधुरी का अशेष-विशेष रूप से नित्य नवीन आस्वादन करते हैं। स्वरूपानुबन्धि धर्म में स्थित होकर उनकी सरस सेवा प्राप्त कर धन्य होते हैं। अतः उन्हें अशोचनीय कहा गया है।

ऐश्वर्य-शक्ति से आविष्ट-चैतन्य भी दो तरह के हैं। एक तो ईश्वर की चित्-शक्ति अर्थात् अन्तरङ्गा स्वरूप शक्ति से उत्पन्न होने वाले चिद् ज्ञान की ऐश्वर्य-शक्ति से आविष्ट रहते हैं। जैसे सनक-सनन्दन-सनातन सनतकुमार। ये सदा चिद्-ज्ञान में जाग्रत हैं, उसके द्वारा सदा आनन्दस्वरूप होकर विचरते हैं। मायिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि-रचना आदि में इनका कुछ भी सम्पर्क नहीं है।

दूसरे हैं ईश्वर की बहिरंगा-शक्ति माया की अंशभूत जो सृष्टि है, उसकी रचना संहार, एवं पालनादि की ऐश्वर्य-शक्ति से आविष्ट। वे हैं श्रीविष्णु (का समुद्रशायी आदि पुरुष) श्रीब्रह्मा तथा श्रीशिव। इनमें सृष्टि की पालन उत्पत्ति एवं संहार करने की ऐश्वर्य शक्ति का आवेश है, जो वास्तविक इनकी शक्ति नहीं है। है स्वतन्त्र-चैतन्य की ही ऐश्वर्य-शक्ति।

रूपत्व है। उनसे पृथक् कोई भी दूसरा तत्त्व नहीं है। सब रूपों में वही ही विराजमान होकर लीला करते हैं। उपर्युक्त तत्वालोकना निम्नलिखित तत्त्व-वृक्ष (चित्र) से और भी सहज में हृदयंगम की जा सकती है—



निष्कामोपास्यत्वानुपास्यत्वे तु निर्गुणत्वसगुणत्वाभ्यामेवेत्यवगन्तव्यम् । विष्णु-ब्रह्माद्योस्तु भेद एव चैतन्यपार्थक्यादेव क्वचित्तु सूर्यस्य तदाविष्टसूर्यकान्त-मणेरभेद इव विष्णुब्रह्माणोरभेदश्च पुराणवचनेषु दृष्टः । किं च क्वचिन्महाकल्पे शिवोऽपि ब्रह्मेव ईश्वराविष्टो जीव एव भवेत् । यदुक्तम्—“क्वचिज्जीवविशेषत्वं हरस्योक्तं विधेरिवेति” अत एव ।

‘यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदेवतैः ।

समत्वेनैव मन्येत स पाखण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥

(हरि भक्ति विलास-१।७३)

इति वचनमपि ब्रह्म-साहचर्येण सङ्गच्छते इति ।

निष्काम साधकों को निर्गुणत्व एवं सगुणत्वके कारण अपने उपास्यत्व तथा अनुपास्यत्व का विचार करना चाहिये । चैतन्य के पार्थक्य के कारण ही श्रीविष्णु और ब्रह्मादि का भेद है । कहीं-कहीं पुराणों के वचनों में श्रीविष्णु तथा ब्रह्मा का जो अभेद देखा जाता है, उसे सूर्य और तदाविष्ट सूर्यकान्तमणि के अभेद की तरह जानना चाहिये । किसी-किसी महाकल्प में कोई ईश्वराविष्ट जीव ही शिव बनता है, जैसा कि कहा गया है—‘कभी-कभी श्रीब्रह्मा की तरह श्रीशिव का भी जीवत्व माना गया है ।’ इसलिए, जो देव श्रेष्ठ श्रीनारायण को ब्रह्मा-रुद्रादि देवताओं के समान देखता है, वह निश्चय ही पाखण्डी है । यह शास्त्र-वचन ब्रह्मा साहचार्य में ही संगत होते हैं ।

विश्वोत्तासिनी टीका—उपर्युक्त आलोचना में चैतन्य की एकता को लेकर श्रीविष्णु एवं ब्रह्मा-शिवादि की अभिन्नता का प्रतिपादन करने के बाद उपास्य के विषय में श्रीचक्रवर्त्तिपाद का कहना है कि निष्काम साधक को निर्गुणत्व तथा सगुणत्व का विचार कर अपना उपास्य निर्धारण करना चाहिये । अर्थात्-निष्काम साधक का कौन उपास्य है, कौन उपास्य नहीं है—उपास्य के निर्गुणत्व और सगुणत्व के आधार पर यह बात निश्चित करनी चाहिये ।

इस बात की आलोचना पहले की जा चुकी है कि श्रीशिव तमोगुण के अधिष्ठाता हैं, तमोगुण युक्त हैं और श्रीब्रह्मा रजोगुण के अधिष्ठाता तथा रजोगुण युक्त हैं । श्रीविष्णु-श्रीकृष्ण ही निर्गुण हैं, माया गुणों से सर्वथा अतीत हैं । जो साधक सकाम हैं, उनके उपास्य सगुण श्रीशिव ब्रह्मादि हैं । उनकी भक्ति गुण-भयी है । उसका फल भी मायागुणमय होता है । जो साधक निष्काम हैं या निर्गुण भक्ति करते हैं, उनके उपास्य निर्गुण-माया गुणरहित श्रीविष्णु हैं । भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् की ही सेवा प्राप्त होती है । जो साधक धन-सम्पत्ति सन्तति आदि मायिक संसार की वस्तुएँ चाहते हैं, उनकी रुचि भी गुणमय देवी-देवताओं की उपासना में होती है और जो मायिक गुणमय किसी भी वस्तु को नहीं चाहते, यहाँ तक कि भगवत्-सेवा को छोड़कर पाञ्च प्रकार की मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते, उनकी भक्ति निर्गुण कहलाती है और वे मायागुणातीत

निखिलेश्वर्य-माधुर्य विमण्डित असंख्य दिव्यातिदिव्य कण्ठा-वात्सल्य गुणगणा-लंकृत श्रीभगवान् की ही उपासना में तत्पर होते हैं । जैसे कि भगवान् श्री कपिलदेव ने कहा है—

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।

अहेतुव्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य सामीप्यकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

श्रीभाः ३।२६।१२-१३

श्रीपुरुषोत्तम—भगवान् श्रीकृष्ण में जो अहेतुकी अर्थात् विना किसी कामना के—स्वाभाविकी अविच्छिन्न भक्ति है, वही निर्गुण भक्ति है । ऐसी भक्ति करने वाले व्यक्ति सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य—इन पाँचों प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी स्वीकार नहीं करते, वे चाहते हैं केवल श्रीभगवान् के चारु चरणारविन्द की सेवा । अतः जो निष्काम साधक हैं उनके लिए तो निर्गुण श्रीपुरुषोत्तम ही सदा उपासनीय हैं ।

यहाँ यह भी स्मरणयोग्य है कि सगुण देवी-देवता जब तक उनकी सेवा-पूजा करते रहो प्रसन्न रहते हैं, शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं । वर प्रदान करते हैं, परन्तु जरा सी त्रुटि होने पर वे अप्रसन्न भी बहुत शीघ्र होते हैं और शाप दे देते हैं । कभी-कभी पूर्वापर का विचार न कर वरदान दे देने पर वे स्वयं भी विपत्ति में पड़ जाते हैं, जिससे बचने के लिए उन्हें गुणातीत श्रीविष्णु की शरण लेनी पड़ती है । अतः साधक को इन सब बातों पर विचार करके ही अपना उपास्य निश्चित करना चाहिये ।

जहाँ चैतन्य का भेद है, वहाँ श्रीविष्णु और ब्रह्मा-शिवादि का भेद भी सिद्ध होता है । अर्थात् अस्वतन्त्र-चैतन्य के अन्तर्गत मायांशभूत सृष्टि आदि ऐश्वर्य शक्ति द्वारा आविष्ट होने से इनका स्वतन्त्र चैतन्य से पार्थक्य है । शास्त्रों में जहाँ इनके अभेद का वर्णन मिलता है, वहाँ सूर्य तथा सूर्याविष्ट-सूर्यकान्तमणि की तरह ही इनकी अभेदता जाननी चाहिये । सूर्य और सूर्यकान्तमणि दोनों पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं । इनमें भेद है । परन्तु जब सूर्य के सामने आने से सूर्य-कान्तमणि में सूर्य की किरणों का प्रवेश होता है तो वह मणि भी सूर्य की तरह ताप देने लगती है, कपड़ा-कागज आदि को जला देती है । इसी तरह अस्वतन्त्र-चैतन्य श्रीशिव-ब्रह्मादि में जब स्वतन्त्र-चैतन्य की शक्ति का संचार होता है तो उनमें भी वही शक्ति प्रकाशित होने लगती है, जिससे उन्हें स्वतन्त्रचैतन्य से अभिन्न कहकर शास्त्र कहीं-कहीं वर्णन करता है ।

किसी-किसी महाकल्प में कोई जीव ही श्रीब्रह्मा और श्रीशिव बनकर सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय का कार्य सम्पादन करते हैं । तब उनको ‘जीव-कोटि ब्रह्मा’ और ‘जीव-कोटि-शिव’ कहा जाता है । श्रीमद्भागवत (४-२४-२६) में

वर्णित है—‘स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरञ्चतामेति’ इत्यादि, अर्थात् जो जीव सौ जन्मों तक निष्ठा पूर्वक अपने वर्णाश्रम धर्मों का आचरण करता है, वह ब्रह्मा-पदवी को प्राप्त करता है। अतः जिस कल्प में उस प्रकार का कोई योग्य जीव मिल जाता है तो वही गर्भोद्देशायी भगवान् विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न होता है और उसमें श्रीभगवान् सृष्टि की उत्पत्ति-शक्तिका संचार करते हैं—उसे ‘जीव-कोटि’ ब्रह्मा कहा जाता है। जिस कल्प में ऐसा कोई जीव उपलब्ध नहीं होता है। तब श्रीविष्णु ही ब्रह्मारूप से सृष्टि करते हैं उसे “ईश्वर-कोटि ब्रह्मा” कहा जाता है। इसी प्रकार श्रीशिव भी जीव-कोटि तथा ईश्वर-कोटि दो प्रकार के हैं। इस अवस्था में जीव-कोटि ब्रह्मा-शिवादि का श्रीविष्णु से भेद स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जीव एवं ईश्वर में चिदंश को छोड़ कर सर्वथा भेद ही शास्त्र प्रतिपादन करते हैं। इसलिए शास्त्र के ये भी वचन हैं कि श्रीनारायण तथा श्रीब्रह्मा-रुद्रादि को समान समझने वाला व्यक्ति पाषण्डी है।

तात्पर्य यह है कि चैतन्य अंश में श्रीशिव-ब्रह्मादि का स्वतन्त्र-चैतन्य परमेश्वर श्रीविष्णु से अभेद है, किन्तु जहाँ जीवकोटि श्रीशिव-ब्रह्मादि सृष्टि कार्य निर्वाह करते हैं, वहाँ सूर्य एवं तदाविष्ट सूर्यकान्तमणि की तरह उनका परस्पर भेद भी है। उपर्युक्त वचनों की सङ्गति विशेष कल्प में साधारण जीव-कोटि श्रीशिव-ब्रह्मादिक के विषय में ही समझनी चाहिये।

एवमपर्यालोचयतां विष्णुरेवेश्वरो न शिवः, शिव एवेश्वरो न विष्णुर्ध्वम-
नयन्या नैवपश्यामः शिवं, वयं च न विष्णुमित्यादिविवादग्रस्तमतानामपराधे
जाते कालेन कदाचित् ततात्पर्यालोचनविज्ञसाधुजनप्रबोधितत्वे तेषामेव शिवस्य
भगवत्स्वरूपादभिन्नत्वेन लब्धप्रतितीनां नामकीर्त्तनेनैवानराधक्षयः।

जो व्यक्ति इन समस्त तत्वों की पर्यालोचना नहीं करते हैं, वे ही ‘श्री विष्णु ईश्वर हैं, श्रीशिव ईश्वर नहीं हैं, श्रीशिव ईश्वर हैं, श्रीविष्णु ईश्वर नहीं हैं, हम विष्णु के अनन्य भक्त हैं श्रीशिव को देखेंगे भी नहीं। हम श्रीशिव के अनन्य भक्त हैं, श्रीविष्णु के दर्शन हम नहीं करेंगे’—इस प्रकार विवादग्रस्त बुद्धि युक्त होकर ऐसा नाम-अपराध करते हैं। ऐसा अपराध होने पर काल क्रम से यदि अपराधी-व्यक्ति को किसी ऐसे साधु पुरुष का संग प्राप्त हो जाए, जो इन समस्त तत्वों की पर्यालोचनाओं का जानकार हो और उसके द्वारा इस विषय में प्रबोधित होने पर यदि उस अपराधी व्यक्ति को श्रीशिव के श्रीविष्णु से अभिन्न स्वरूप की प्रतीति होने लगे, तब नाम सङ्कीर्त्तन द्वारा उस अपराधी-व्यक्ति का वह नाम अपराध क्षय हो जाता है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—श्रीविष्णु से श्रीशिव के नामरूपादि की स्वतन्त्रता या उनमें परस्पर भेद चिन्तन का अपराध करने वाले व्यक्तियों की धारणा का उल्लेख करते हुए श्रीचक्रवर्त्तिपाद कहते हैं कि उस अपराध का कारण है भगवद्-तत्व का ज्ञान न होना। विष्णु-तत्व क्या है, शिव-तत्व क्या है—इस विषय का जो लोग अनुसन्धान नहीं करते, उनके तत्वों के जानने की, समझने की जो व्यक्ति

कोशिश नहीं करते, उनसे यह द्वितीय नाम-अपराध बनता है। उनमें भी कोई तो अपने को श्रीविष्णु का अनन्य भक्त मानकर श्रीशिव को ईश्वर ही नहीं मानते और उनका दर्शन भी नहीं करते तथा दूसरे अपने को श्रीशिव का अनन्य भक्त मानते हैं और श्रीविष्णु को ईश्वर न मानकर उनके दर्शनादि नहीं करते।

इस अपराध का खण्डन तभी सम्भव है यदि अपराधकारी व्यक्ति को समस्त तत्वों का ज्ञान हो और फिर उस ज्ञान द्वारा उसे इन दोनों स्वरूपों की एकता का विश्वास तथा अनुभव होने लगे। तत्व का ज्ञान केवल मात्र तत्वज्ञ महत् पुरुषों के संग से प्राप्त होता है। उनकी वन्दना पूर्वक सेवा से, उनसे अकपट पूर्वक जिज्ञासा करने से एवं उनके वचनों में पूर्ण श्रद्धा रखने से ही साधक को तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है। (श्रीगीता ४।३४)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शभाभिः॥

अतः तत्ववेत्ता के संग—उपदेशादि के द्वारा जब भगवद्-तत्व का ज्ञान हो जाए और श्रीविष्णु एवं श्रीशिव के स्वरूप की अभिन्नता की अनुभूति होने लगे, तब श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही इस अपराध की निवृत्ति होती है।

ध्यान देने की बात है कि केवल स्वरूप की एकता अनुभव हो जाने पर अपराध की निवृत्ति नहीं होती, अपराध की निवृत्ति होगी एकता अनुभव करने के बाद श्रीनाम सङ्कीर्त्तन के द्वारा। जैसे किसी महत् पुरुष के स्वरूप को न जान कर उनकी निन्दा का अपराध केवल उनके महत्-स्वरूप को जान लेने पर दूर नहीं होता, बल्कि उनसे क्षमा याचना, उनकी वन्दना-स्तुति करने से दूर होता है, उसी प्रकार श्रीविष्णु एवं श्रीशिव में भेद-जनित अपराध केवल उनकी स्वरूप-एकता जान लेने पर दूर नहीं होता, बल्कि उनसे अभिन्न उनके नामों का सङ्कीर्त्तन करने पर—उनके नामों की शरण ग्रहण करने पर ही दूर होता है।

एवं च नैता भगवद्भक्ति स्पृशन्ति बहिर्मुख्यो विगीता इति ज्ञानकमं-
प्रतिपादिकाः श्रुतो यैर्नैव मुखेनानिन्दंस्तेनैव मुखेन तांस्तदनुष्ठातृश्च जनान् मुहुर-
भिनन्द्य नामभिरुच्चैः संकीर्त्तितैः श्रुतिशास्त्रनिन्दनरूपाच्चतुर्थापराधान्निस्तरेयुः।
यतस्ताःश्रुतयो भक्तिमार्गैर्बन्धनधिकारिणः स्वच्छन्दवर्त्तिनः परमरागान्धानपि
वर्त्तमानात्रमध्यारोहयितुमुद्यताः परमकारुणिका एवेति ततात्पर्यविज्ञजनप्रबोधिता
यद्वि भाग्यवशाद्भवैयुस्तदैवेति। एवमेवान्येषामपि षण्णामपराधनामुद्भवनिवृत्ति-
निदानानि अवगन्तव्यानि॥३॥

इसी प्रकार—‘ये श्रुतियां भगवद्भक्ति को स्पर्श ही नहीं करती है, ये तो बहिर्मुखिनी हैं—ऐसे कह कर ज्ञान-कर्म को प्रतिपादन करने वाली समस्त, श्रुतियों की जिस मुख से निन्दा की जाती है, उसी मुख से यदि उन समस्त श्रुतियों का तथा उन श्रुतियों के अनुष्ठाता—व्यक्तियों का बार-बार अभिनन्दन किया जाए और उच्चस्वर से नाम सङ्कीर्त्तन का अनुष्ठान किया जाए, जो श्रुति-शास्त्र-निन्दा रूप जो चतुर्थ नामापराध है, उससे रक्षा हो सकती है : श्रुतिनिन्दा-कारी

अपराधी व्यक्तियों को भाग्यवश यदि श्रुतियों के तत्त्ववेत्ता महत् पुरुषों के द्वारा यह ज्ञान हो जाए कि ये परम करुणापरायण श्रुतियां भक्तिमार्ग के अनधिकारी एवं स्वेच्छाचार-परायण तथा विषयों में परम-आसक्त लोगों को शास्त्र पथ पर चलाने के लिए प्रयत्नशील हैं, तभी उन अपराधी व्यक्तियों के (श्रुति-शास्त्र-निन्दा-जनित) अपराध नष्ट हो सकते हैं। इसी तरह अन्यान्य नामापराधों की उत्पत्ति तथा निवृत्ति के विषय में भी जान लेना चाहिये।

विश्वोल्लासिनी टीका—अब नामापराधों में चौथे अपराध—‘श्रुति-शास्त्रों की निन्दा’ के विषय में आलोचना करते हैं। अनेक श्रुतियां हैं, कोई तो भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करती हैं, ओर कोई ज्ञान-मार्ग—अद्वैतवाद का तथा कोई कर्ममार्ग अर्थात् यज्ञादि कर्मों का निरूपण कर अनेक प्रकार के स्वर्ग लोकों के भोगों का अनुमोदन करती हैं। जिन व्यक्तियों को इहलोक तथा परलोक के भोगों का प्रलोभन लुब्ध नहीं करता और न ही जो सायुज्य-मुक्ति चाहते हैं, केवल चाहते हैं भगवद्-भक्ति और उसके द्वारा श्रीभगवान् के चरणों की अहैतुकी-सेवा उनमें से कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग की श्रुतियों को देख-सुनकर तथा उनके अनुगत शास्त्रों में उन मार्गों के अनुमोदन करने वाले वचनों को सुनकर क्षुब्ध हो उठते हैं और वे समझने लगते हैं कि ये श्रुतियां तो भक्ति का स्पर्श भी नहीं करतीं, भक्ति का विरोध करती हैं, ये जीवों को श्रीभगवान् से बहिर्मुख करने वाली हैं। इस तरह की श्रुति एवं शास्त्र निन्दा करना चौथा नामापराध है।

इस अपराध का खण्डन-उपाय है कि उन श्रुति-शास्त्र वचनों का बार-बार अभिनन्दन किया जाए। उनकी नमस्कारपूर्वक स्तुति की जाए और उन श्रुतियों के अनुकूल अनुष्ठान करने वाले व्यक्तियों का भी सम्मान-आदर किया जाये। ऐसा करते हुए उच्चस्वर से श्रीनामसंकीर्तन करने से इस अपराध का खण्डन हो जाता है। किन्तु श्रुति-शास्त्र की निन्दा करने वाले व्यक्तियों में इस प्रकार का परिवर्तन तभी सम्भव हो सकता है जब पूर्वजन्मकृत पुण्यों के प्रभाव से यदि कोई श्रुति-शास्त्रों के तत्त्वों के जानने वाले महत् पुरुष का संग उन्हें प्राप्त हो। वे ही इस रहस्य को बताते हैं कि जो श्रुतियां आपाततः भक्ति का प्रतिपादन न कर ज्ञान-कर्म का निरूपण कर रही हैं, वस्तुतः वे भी परम करुणामय हैं। वे भी जीवों को श्रीभगवान् के सम्मुख ले जाने में यत्न करने वाली हैं। क्योंकि जो भक्ति के अधिकारी हैं, जिन पर श्रीभगवान् की स्वरूप शक्तिरूपा भक्ति की कृपा नहीं है और वे श्रीभगवान् के अखिलैश्वर्य-माधुर्यमय रूप-गुण-लीला-माधुर्य को आस्वादन करने के योग्य नहीं हैं, उनको वे श्रुतियां एवं शास्त्र वचन निर्विशेष ब्रह्म चिन्तन में प्रयुक्त करते हैं, जिससे वे ज्ञानमार्ग का अनुसरण कर वे ब्रह्म-चित्तन के वैचित्रीहीन चिन्मय सुख का अनुभव करते हैं, ओर संसार के त्रितापों में मुक्त हो जाते हैं। उनका माया-बन्धन निवृत्त हो जाता है।

और कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो भक्ति के तो अधिकारी हैं ही नहीं, वे ज्ञान-मार्ग के ब्रह्म-चित्तन में भी समर्थ नहीं हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं, मन-माना आचरण करते हैं, अथवा विषय-मुख भोग के लिए ही अन्धे हो रहे हैं, वे अपने जीवन का लक्ष्य एक मात्र विषय-भोग ही जानते हैं। ऐसे लोगों को वे श्रुतियां एवं शास्त्र वचन स्वर्गादि भोगों के उत्कृष्ट सुखों का प्रलोभन दिखाकर कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। उन्हें मन-माने मार्ग एवं उच्छृङ्खलतापूर्वक विषय-सुख भोगों से निवृत्त करते हैं। इससे चित्त की शुद्धि की सम्भावना एवं साधु संग का सुअवसर मिलने की भी सम्भावना रहती है, जिससे कभी भक्तिकी कृपा प्राप्त कर वे कृतकृत्य हो सकते हैं।

अतः समस्त श्रुतियों को, शास्त्र वचनों को जीव पर करुणा करने वाले जानकर कभी भी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसा अपराध बन जाता है तो श्रुति-शास्त्र तत्त्ववेत्ताओं के मुख से इस रहस्य को जानकर उनकी स्तुति, उनको प्रणाम करते हुए श्रीनाम-संकीर्तन द्वारा इस अपराध का मार्जन करना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य भी जितने नामापराध हैं, उनकी रूप-रेखा को समझना साधक के लिए परमावश्यक है। वे कैसे बनते हैं, वे क्या हैं और क्या उपद्रव सृजन करते हैं—इस विषय को जानना चाहिए और फिर उनके खण्डन के उपाय को भी समझना परमावश्यक है। साधक से दैवयोग से अथवा पूर्व संस्कारवश कोई भी अपराध बन जाय तो उसकी निवृत्ति के लिए भरसक चेष्टा करनी चाहिए।

अथ भक्त्युत्थास्तेव मूलशाखा उपशाखा इव भक्त्यैव धनादिलाभपूजा-प्रतिष्ठाद्याः स्ववृत्तिभिः साधकचित्तमप्युपरज्य स्ववृद्ध्या मूलशाखामिव भक्तिमपि कुण्ठयितुं प्रभवन्तीति। तेषां चतुर्णाम् अनर्थानां निवृत्तिरपि पञ्चविधा। एकदेशवर्तिनी, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा, आत्यन्तिकी चेति। तत्र “ग्रामोदग्धः पटो भग्नः” इति न्यायेनापराधोत्थानामनर्थानां निवृत्तिभजनक्रियानन्तरमेकदेशवर्तिनी, निष्ठायामुत्पन्नायां बहुदेशवर्तिनी, रतावुत्पद्यमानायां प्रायिकी, प्रेम्णि पूर्णा, श्री-भगवत्पदप्राप्तावात्यन्तिकी।

भक्तिपथ में आने वाले समस्त अनर्थ भी मूलशाखा से उपशाखा की तरह उत्पन्न होकर भक्तिके द्वारा ही धनादिकी तथा पूजा-प्रतिष्ठादिकी वासना उत्पादन कर अपनी समस्त वृत्तियों से साधकके चित्तको उपरंजित करके अपनी अपनी वृद्धि से भक्तिरूपा मूल-शाखा को भी कुण्ठित करने में समर्थ हो जाते हैं। उन चार प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति भी पाञ्च प्रकार की है। एक देशवर्तिनी, बहुदेशवर्तिनी, प्रायिकी, पूर्णा तथा आत्यन्तिकी। उनमें ‘ग्राम जल गया’ ‘कपड़ा फट गया’ आदि न्याय के अनुसार अपराध-जात अनर्थों की जो निवृत्ति भजन-क्रिया के बाद होती है, उसे ‘एक देशवर्तिनी’ कहते हैं। निष्ठा के उत्पन्न हो जाने पर उन

अनर्थों की निवृत्ति 'बहुदेशवर्त्तिनी' कहलाती है। रति के उदित होने पर जो अनर्थ-निवृत्ति होती है उसे 'प्रायिकी' कहते हैं और प्रेम के उदित होने पर 'पूर्ण' तथा श्रीभगवत्-चरणकमलों की प्राप्ति पर अनर्थों की 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति हुआ करती है।

विश्वोल्लासिनी टीका—माधुर्य कादम्बिनी की तृतीयामृत वृष्टि के आरम्भ में ही अनर्थों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। वे चार प्रकार के हैं—दुष्टकृत-जात, सुकृत-जात, अपराध-जात तथा भक्ति-जात। भगवत्-प्रेम के विकास-क्रम में साधक जब भजन क्रिया के स्तरपर पहुँचता है, तब उसकी अनर्थ-निवृत्ति हुआ करती है। जब तक अनर्थ रहते हैं तब तक साधक प्रेम—साध्य वस्तु तक नहीं पहुँच सकता। अपराध-जात अनर्थों का तथा उनके खण्डन उपायों का विस्तृत वर्णन करने के बाद अब भक्ति-जात अनर्थों की तथा उनकी निवृत्ति के विषय में यहाँ विवेचना की जाती है।

भक्ति-जात अनर्थ—भक्ति की ओट में अर्थात् भक्ति अनुष्ठान द्वारा धन-प्राप्ति की तथा पूजा-प्रतिष्ठादि प्राप्ति की जो आशा है, वह भक्ति-जात अनर्थ है। यह अनर्थ ऐसा प्रबल है कि भक्तिरूप मूल शाखा से ही उपशाखा के रूप में उत्पन्न होता है और बढ़कर मूलशाखा भक्ति को ही विनष्ट कर देता है। धन-पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की वृत्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि साधक भक्ति पथ से भ्रष्ट हो जाता है और भक्ति के परम लक्ष्य प्रेम तथा भगवत्-प्राप्ति को भूल जाता है।

भक्ति-कल्पलता का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी के प्रति उपशाखाओं का वर्णन करते हुए कहा है कि—

किन्तु यदि लतार अङ्गे उठे उपशाखा ।

भुक्ति-मुक्ति वाञ्छा जत असंख्य तार लेखा॥

निषिद्धाचार कुटिनाटी जीव-हिंसन ।

लाभ-प्रतिष्ठादि जत उपशाखागण ॥

सेकजल पात्रा उपशाखा बढ़ि जाय ।

स्तब्ध हञ्चा मूलशाखा बाढ़िते न पाय ॥

प्रथमेइ उपशाखार करिये छेदन ।

तबे मूलशाखा बाढ़ि जाय वृन्दावन ॥

श्रीचै० चरितामृत २।१६।१४० से १४३

यदि भक्ति-कल्पलता के अङ्गों पर उपशाखाएँ चढ़ जाती हैं, तो जलादि को प्राप्त कर उन शाखाओं की ही वृद्धि होती जाती है। उपशाखाओं का तात्पर्य यहाँ आकाश बेल आदि ऐसी लताओं से है जो वृक्ष-लताओं पर फैल जाती हैं और उनको ही मुखा डालती हैं। इनका आधार या जड़ कुछ भी नहीं होती, जिस

लता को वे आवृत करती हैं उसका आधार-मूल, उसका रूप आदि उनसे विल्कुल भिन्न होता है। साधारणतः उपशाखा तो कहते हैं उनको, जो वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं से निकलती हैं, परन्तु यहाँ वे अभिप्रेत नहीं हैं, क्योंकि वे तो मूलवृक्ष-लता का अङ्ग होती हैं और उनको पुष्ट ही करती हैं। यह बात उपशाखाओं की नाम गणना से ही स्पष्ट हो रही है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—भुक्ति की तथा मुक्ति की वाञ्छा अर्थात् स्वर्गादि सुख-भोगों की वासना और सालोक्यादि मुक्तियों की वासना, शास्त्र जिन आचरणों का निषेध करता है, उनका आचरण अर्थात् दुराचार, कुटिनाटि अर्थात् सब विषयों में कुतर्कबुद्धि करना अथवा कुटिलता, जोव हिंसा—अपने पेट भरने के लिए जीवों की हत्या करना या मांसादि भक्षण के लिए जीव-हिंसा का कारण बनना, धन-सम्पत्ति की वासना और चेष्टाएँ तथा अपनी मान-प्रतिष्ठा-सुख्याति को कामना—ये सब उपशाखाएँ हैं—इनका आधार एवं स्वरूप भक्ति-लता से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इनका तात्पर्य है केवल मात्र स्वसुख।

जब ये स्वसुख तात्पर्यमयी दुर्वासनारूप उपशाखाएँ भक्ति-लता को आवृत करती हैं तो श्रवण-कीर्तन आदि जल को पाकर यही ही दिन-रात बढ़ती चली जाती हैं और मूल-भक्तिलता को स्तब्ध कर उसे बढ़ने से रोक लेती हैं। अतः सर्व प्रथम इन सब दुर्वासनाओं को काट देना चाहिए तभी भक्तिकल्प-लता क्रमशः वृद्धि को पाकर श्रीवृन्दावन धाम में पहुँचती है और प्रेमफल को प्राप्त कर श्रीश्री-प्रिया-प्रीतम की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कराती है।

श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण-भक्ति कामना को छोड़कर अत्यन्त सब कामनाएँ अनर्थ हैं, भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करते समय भुक्ति-मुक्ति, पूजा-प्रतिष्ठा आदि वासनाओं को उदय होकर भक्ति-जात अनर्थों के रूप में भक्ति को ही नष्ट कर देता है।

इन चारों प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति भी पांच प्रकार की है अर्थात् किस अवस्था तक किस मात्रा में ये अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं—इसका विवेचन करते हुए उस निवृत्ति के पांच भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

एक देशवर्त्तिनी—अल्प परिणाम में अनर्थों की जो निवृत्ति होना है, जैसे एक रुपये में दो-चार आना भर की कमी होना—'एक देशवर्त्तिनी-निवृत्ति' कहलाती है।

बहुदेशवर्त्तिनी—बहुत परिणाम में अनर्थों की जो आंशिक निवृत्ति है, जैसे रुपये में बारह आने भर की कमी हो जाना—'बहुदेशवर्त्तिनी-निवृत्ति' कही गई है।

प्रायिकी—जब प्रायः सब अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं, थोड़ी सी मात्रा में बाकी रहते हैं, जैसे रुपये में एक-दो आना भर, तब उसे 'प्रायिकी-अनर्थ निवृत्ति' कहा जाता है।

माधुर्य-कादम्बिनी

[१०३]

पूर्णा—जब सम्पूर्ण रूप से अर्थात् रुपये में रुपया या शत-प्रतिशत अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं, कुछ भी अंश उनका बाकी नहीं रहता तब 'पूर्णा-अनर्थ निवृत्ति' कहलाती है।

आत्यन्तिकी—पूर्णा-निवृत्तिमें सम्पूर्ण रूप अनर्थ दूर हो जाने पर भी अनर्थों के उद्गम की फिर सम्भावना रहती है अर्थात् वे फिर भी उदित हो सकते हैं। इस विषय में, भक्तिरसामृत सिंधु में कहा गया है—

भावोऽप्यभावमायाति कृष्ण प्रेष्ठापराधतः ।
साभासताञ्च शनकंन्यूनजातीयतामपि ॥
गाढासङ्गात् समायाति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते ।
आभासतामसौ किम्बा भजनीयेश भावताम ॥

पूर्व विभाग—३। ३४-३५

श्रीकृष्ण प्रिय भक्त के प्रति अपराध बन जाने से, जातरति भक्तकी रति लुप्त हो जाती है अथवा हीनता को प्राप्त करती है एवं सुप्रतिष्ठित मुमुक्षु अर्थात् मोक्षविषयक ज्ञान शास्त्र में युक्तिकर्तादि द्वारा प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति में मुक्ति में गाढ़ आसक्ति के कारण रति क्रमशः रति आभासता में बदल जाता है अथवा भजनीय ईश्वरतत्त्व के साथ अभेद-अभिमानमूलक अहंग्रहोपासना में परिणत हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि साधक के प्रेम विकाश क्रम में—श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजन-क्रिया, आसक्ति आदि स्तरों को प्राप्त करते हुए अनर्थों की निवृत्ति विभिन्न परिमाण या अंशों में होती जाती है (उसका विवरण आगे दिया जायगा) यहां तक कि पूर्णा-अनर्थ निवृत्ति हो जाने के बाद भी यदि किसी कृष्ण-भक्त के प्रति अपराध बन जाता है तो साधकों का प्राप्त स्तर से पतन हो जाता है और उसकी कृष्णप्रीति या भक्तिमें कमी आ जाती है। अतः पुनः अनर्थ उदित होनेकी सम्भावना हो जाती है। जैसे द्विविद् वानर भगवान् श्रीरामजी का पार्षद था। श्री-लक्ष्मणजी के प्रति अपराध हो जाने पर उसका पतन हो गया।

अतः जिस अवस्था में अनर्थ-निवृत्ति में फिर कभी अनर्थों के उद्गम की सम्भावना नहीं रहती, उसे 'आत्यन्तिकी-निवृत्ति' कहते हैं।

चारों प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति प्रेम के विकाश में क्रम किस स्तर में कितने परिणाम में होती है, उसका विवेचन करते हुए श्रीचक्रवर्तिपाद कहते हैं कि जैसे कोई कहे ग्राम में आग लग गई या कपड़ा फट गया, तो इन वाक्यों से कुछ अंश के जल जाने का परिचय मिलता है। कपड़े के फटने से भी दो भागों में या अनेक टुकड़ों में हो जाना ही समझा जाता है, ग्राम या कपड़े का यहां पूर्ण अभाव अभिप्रेत नहीं है, उसी प्रकार अपराध-जात अनर्थों की निवृत्ति भजन-

क्रिया (जिसका पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है) के बाद होने लगती है, परन्तु वह एक देशवर्त्तिनी-निवृत्ति होती है, पूर्णतः नहीं। इसी तरह जब साधकों में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है तब उसके अनर्थों की बहुदेशवर्त्तिनी निवृत्ति हो जाती है। रति या भाव के उत्पन्न होने पर अनर्थों की प्रायिकी-अनर्थ-निवृत्ति हो जाती है। जब रति या भाव गाढ़ अवस्था को प्राप्त कर प्रेम नाम को धारण करता है उस प्रेम-प्राप्त भक्त की पूर्णा अनर्थ-निवृत्ति हो जाती है। जब प्रेमपूर्वक भक्ति करते-करते कृपा लाभकर साधक श्रीभगवान् के चरण कमलों की सेवा प्राप्त कर लेता है तब फिर उसमें अनर्थों के उद्गम की सम्भावना तक भी नहीं रहती, तब उस अवस्था में उसके अनर्थों की आत्यन्तिकी-निवृत्ति हो जाती है।

यस्तु तत्रापि चित्रकेतौ कादाचित्को महदपराधः स प्रातीतिक एवं न वास्तवः। सत्याम् प्रेमसम्पत्तौ पार्षदत्ववृत्तत्वयोर्वैशिष्ट्याभावसिद्धान्तात्। जयविजययोस्त्वपराधकारणं प्रेमविजृम्भिता स्वेच्छैव। सा च 'हे प्रभुवर! देवादिदेव! नारायण! अन्यत्राल्पबलत्वात् अस्मासु तु प्रातिकूल्याभावात् यदि तत्रभवतो युयुत्सा न सम्पद्यते तदा आबामेव केनापि प्रकारेण प्रतिकूलीकृत्य तद् युद्धसुखमनुभूयताभित्यावयो स्वतः परिपूर्णतायां अणुमात्रमपि न्यूनत्वमसहमानयोः किकरयोः प्रार्थनाहठः स्वभक्तवात्सल्यगुणमपि लघूकृत्य निष्पाद्यतामित्याकारा कादाचित्कप्रसङ्गभवा मानसा मनसैव जेया।

भगवत्प्राप्ति के बाद भी चित्रकेतु के विषय में जो महापराध की बात सुनी जाती है, वह वास्तविक नहीं है, प्रातीतिक मात्र है। क्योंकि उस महदपराध के कारण वृत्तत्व प्राप्त करने के बाद भी उस में प्रेम-सम्पत्ति विद्यमान रहने से उस के पार्षदत्व तथा वृत्तत्व के वैशिष्ट्य का अभाव ही सिद्ध होता है। जय-विजय के अपराध का कारण भी तो उनकी प्रेम से परिवर्धित निज इच्छा ही थी। वह यह थी 'हे प्रभो! हे देवादिदेव नारायण! आप की युद्ध की इच्छा को पूरा कर सके ऐसा कोई बलवान् व्यक्ति अन्यत्र नहीं दीखता और हम में यद्यपि ऐसा बल है, परन्तु हम आप के प्रतिकूल नहीं हैं, अतः किसी प्रकार हमें ही अपने प्रतिकूल विराधी—बनाकर आप युद्ध के सुख का अनुभव कीजिए आप की स्वतः पूर्णता में विन्दुमात्र का ह्रास हो—यह बात हम सहन नहीं कर सकते। अतएव आप अपने भक्तवात्सल्यगुण को हलका कर के हमारी प्रार्थना को पूरा कीजिए, क्योंकि हम आप के दास हैं।' यदि किसी समय प्रसंगवश इस प्रकार का मानसिक वासनामय अपराध मन में जाग उठे, तो विचार-परायण बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ऐसे मानसिक भाव को जीतमा चाहिये—दबा देना चाहिये।

विश्वोल्लासिनी टीका—राजा चित्रकेतुका चरित्र श्रीमद्भागवत छठे स्कन्ध के चौदहवें से लेकर सतरहवें अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। शूरसेन देश के चक्रवर्ती सम्राट् महाराजा थे चित्रकेतु। अनेक रानियाँ होते हुए भी इनकी कोई सन्तान न थी। एकबार देवर्षि श्री नारद एवं अंगिरा ऋषि इन के महलों में पहुँचे। राजा की प्रार्थना पर अंगिरा ऋषि के चरु प्रदान

करने पर उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ। पुत्रवती-रानी पर राजा का स्नेह बढ़ना स्वाभाविक था। अन्योन्य रानियों ने डाहवश उस शिशु को विष देकर सदा के लिए मुला दिया। ऋषि ने भी पहले कहा था—सुख एवं दुख देने वाला एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा। अत्यन्त व्याकुल हो उठे राजा चित्रकेतु इस असह्य दुर्घटना से। दिन-रात विलाप करते उन्हें बीतने लगा। श्रीनारदजी एवं अंगिरा ऋषि ने पुनः आकर बहुत उपदेश एवं सान्त्वना दी, परन्तु उसे धारण करना कठिन हो गया। अन्त में ऋषियों ने जीवात्मा को बुलाकर राजा को इस संसार की असारता एवं पति-पुत्र, माता-पिता के सम्बन्धों की असत्यता का उपदेश कराकर शान्त किया। राजा परम वैराग्यवान् होकर श्रीनारदजी के उपदेशानुसार भजन में प्रवृत्त हुए और भगवान् श्रीसंकर्षण का साक्षात्कार प्राप्त किया। उनकी अनेक स्तुति-वन्दना की। श्रीभगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें धर्म एवं ज्ञान के तत्त्व का उपदेश किया। विद्याधरों के अधिपति के रूप में ये दिव्य विमान पर चढ़कर स्वच्छन्दरूप से सुमेरु पर्वत की घाटियों में विचरने लगे।

एक दिन इन्होंने देखा कि भगवान् श्रीशङ्कर भगवती पार्वती को अपनी गोद में बिठाकर एक हाथ से उनका आलिंगन करते हुए बड़े-बड़े मुनियों, सिद्ध-चारणों की सभा में विराजमान हैं। राजा चित्रकेतु निकट पहुँचे और भगवती पार्वती को सुना-सुनाकर जोर से हँसने लगे और कहने लगे—“समस्त जगत् के धर्म-शिक्षक एवं गुरु श्रीमहादेव, और इनकी यह दशा! सभा में अपनी नारी को गोद में बिठाये हुए हैं? इतनी निर्लज्जता!

भगवान् श्रीशङ्कर तो जानते थे कि चित्रकेतु श्रीभगवान् के परम प्रिय भक्त हैं। उनके अनन्यदास हैं, परन्तु श्रीपार्वतीजी से राजा द्वारा वह उपहास एवं निरादर सहन न हो सका। भट इन्हें शाप दिया कि जाकर पापमय असुर-योनि को प्राप्त होवो, ताकि फिर कभी तुम महापुरुषों के प्रति अपराध न करो।

राजा चित्रकेतु जरा भी दुखित न हुए, प्रसन्न होकर श्रीपार्वतीजी की स्तुति की। शाप को सिर पर धारण किया और प्रणाम कर वहाँ से चले आये। उनमें उसकी कुछ भी प्रतिक्रिया न हुई। यदि चाहते तो ये भी शाप दे सकते थे, क्योंकि इनमें ऐसी सामर्थ्य थी, परन्तु जरा भी क्षुब्ध न हुए।

यही चित्रकेतु राजा त्वष्टा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए जो वृत्तासुर नाम से प्रसिद्ध हुए। अति विशाल एवं भयानक-काया इनकी, कि समस्त लोकों को घेर लिया। समस्त देवता इनसे त्रस्त हो उठे। देवताओं से महान् युद्ध हुआ, दधीचि ऋषि की अस्थियों से वज्र बनाकर इन्द्र मारने को सामने आया। एरावत हाथी सहित इन्द्र को ये निगल गये। युद्ध में वह वज्र जिससे वृत्तासुर का वध होना श्रीभगवान् ने बताया था, इन्द्र के हाथ से गिर गया और वृत्तासुर ने उठा लिया परन्तु धर्मपरायणता इतनी कि अपने हाथों से उठाकर इन्द्रको फिर पकड़ा दिया, बोले—इससे मुझे मार; क्योंकि मुझे काल से भय नहीं है। वे श्रीश्यामसुन्दर

भगवान् मेरे सामने हैं। उनके दर्शन करते-करते मैं इस असुर शरीर को छोड़ देने में अपना सौभाग्य ही समझता हूँ। श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए इन्होंने प्रार्थना की—

अहं हरे तव पादकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥

श्रीभा० ६।११।२४

हे प्रभो! आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि अनन्यभाव से आपके चरणारविन्द के आश्रित-दासों का दास बनकर उनकी सेवा का सौभाग्य मुझे अगले जन्म में प्राप्त हो। प्राणवल्लभ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणों का स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उनका गान करती रहे और शरीर आपकी सेवा में लगा रहे॥

इस प्रकार उस असुर योनि में भी चित्रकेतु (वृत्तासुर) को केवल श्रीभगवान् की अधुण स्मृति ही नहीं बनी रहे, उसे श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन भी प्राप्त होता रहा। उसे श्रीभगवान् की पूर्ण प्राप्ति असुर-अवस्था में भी बनी रही।

तात्पर्य यह है कि पूर्व प्रसङ्गमें यह कहा गया था कि भगवत्-प्राप्तिके बाद अनर्थों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है और पुनः अनर्थों के उद्गम की सम्भावना भी नहीं रहती। श्रीचक्रवर्तिपाद राजा चित्रकेतु के उपर्युक्त चरित्र को देखकर साधारण लोगों में उठने वाली इस शंका का कि जब चित्रकेतु को साक्षात् भगवान् संकर्षण की प्राप्ति हो चुकी थी, तब उसमें श्रीमहादेवजी के उपहास एवं निरादरका महत्-अपराध अर्थात् अनर्थ कैसे उदित हो उठा? समाधान करते हुए कहते हैं कि चित्रकेतु के महत् अपराध की जो बात है, वह केवल प्रातीतिक मात्र है, वास्तविक उससे कोई अपराध नहीं हुआ, कारण कि उसमें अपराधकारिणी वृत्ति का पूर्णतः अभाव था। पार्वती के माध्यम से समस्त जगत् के सामने एक परम भक्त—श्रीभगवान् के अनन्य उपासक की इस समान अवस्था का आदर्श स्थापन करना ही इस लीलाका अभिप्राय था कि भगवत्-भक्त वरदान का आदर्श स्थापन करना ही इस लीलाका अभिप्राय था कि भगवत्-भक्त वरदान एवं शाप, स्वर्ग, नरक यहां तक कि मोक्ष को भी समान भाव से देखते हैं। हर अवस्थामें क्षोभरहित रहकर वे श्रीभगवान् की रूपमाधुरीका आस्वादन करते रहते हैं। यही बात श्रीभगवान् शङ्कर ने भगवती पार्वतीजी को उनके चित्रकेतु को शाप दे चुकने के बाद कही थी—

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां तिःस्पृहाणां महात्मनाम्॥
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विश्व्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

श्रीभा० ६।१७।२७-२८

भगवान् शङ्कर ने कहा—देखली सुन्दरि ! तुमने अपनी आंखों से दिव्य-लीलाविहारी भगवान् के निःस्पृह एवं उदारहृदय दासानुदासों की महिमा ? जिन्होंने भगवान् नारायण की शरण पकड़ रखी है, वे किसी से भी नहीं डरते, क्योंकि उनको स्वर्ग, मुक्ति और नरक में भी केवल श्रीभगवान् के ही समान भाव से दर्शन होते हैं ।

अतः इन वचनों से स्पष्ट है कि चित्रकेतु में भगवत्-प्राप्ति के बाद गन्धर्वाधिपति या पार्षदत्व का अभिमान नहीं रहा, यदि ऐसा होता तो वह भी पार्वतीजी को उलट कर शाप दे देता, वह समर्थ था । परन्तु उसने शाप के लिए प्रायश्चित्त या अनुग्रह तक की भी प्रार्थना नहीं की । घोर तामसी आसुरी योनि को प्राप्त कर उसमें असुरत्व का पूर्ण अभाव ही रहा । उसमें भगवत्-स्मृति अक्षुण्ण रही और युद्ध में भी श्रीभगवत्-दर्शन का—माधुर्य का आस्वादन करता रहा । अतः इस चरित्र से भगवत्-प्राप्ति के बाद अनर्थ उद्गम की कोई भी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती । हर अवस्था में ही उसमें भगवत्-प्रेम का वैशिष्ट्य झलकता रहा था ।

इसी प्रकार जय और विजय जो वैकुण्ठ के द्वार पर भगवान् श्रीनारायण के नित्य पार्षद थे और जिन्हें पूर्णरूपेण भगवत्प्राप्ति थी, उन्होंने श्रीसनकादिक के प्रति निरादरसूचक वचन कहे और उसके कारण मुनियों के शापवश उन्हें तीन योनियों तक आसुरी वृत्ति में रहना पड़ा । यह भी महद् अपराध प्रतीत होता है—भगवत्-प्राप्ति होनेपर भी यहां अनर्थका उद्गम दीखता है, परन्तु उनका यह महद् अपराध भी उनके अतिशय बढ़े हुए भगवत्-प्रेम की भूमि पर आधारित था । भगवत्-विरोध या द्वेष अथवा अपराध की भूमि पर प्रतिष्ठित न था ।

श्रीभगवान् असीम बल-पौरुषशाली हैं । निखिल रसास्वादक श्रीभगवान् में वीररस के आस्वादन की अभिलाषा होना भी स्वाभाविक है । उनके असीम, अतुलनीय बल-वीर्य का प्रकाश कैसे हो ? वीर-रस आस्वादन की इच्छा प्रभु की कैसे पूर्ण हो ? यह विचार कर नित्यसिद्ध पार्षद जय-विजय श्रीभगवान् से मन ही मन नित्य यह प्रार्थना करते थे कि प्रभो ! आपके साथ युद्ध करने में और कोई भी समर्थ नहीं है । आपकी कृपा शक्ति से हममें ऐसी सामर्थ्य है । किन्तु हम आपके नित्य दास हैं । हममें आपके विरोध की कभी सम्भावना नहीं है फिर भी प्रभो ! आप हममें अपना प्रतिकूल भाव उत्पन्न करें जिससे हम आपके अतुलनीय बल-वीर्य को प्रकाशित करें और आपको वीररस का आस्वादन करावें । इन दोनों बातों के अभाव में आपकी पूर्णता में जो कमी प्रतीत हो रही है, वह हमें खटकती रहती है और हमसे वह सहन नहीं होती । अपने दासों की इस प्रकार की प्रार्थना को पूरा करने के लिए ही श्रीभगवान् ने लीला रची और उनके द्वारा एक महत्-अपराध का आचरण कराकर उन दोनों बातों की पूर्तिके साथ-साथ अनेक लीलाएँ कर असंख्य प्रयोजन सिद्ध कर लिए ।

अतः भगवत्-प्राप्ति के बाद जहां ऐसे अनर्थों या महदपराधों की कथाएँ दीखती हैं, वह वास्तविक महद्-अपराध विषयक नहीं हैं, केवल प्रातीतिक-मात्र हैं । श्रीभगवान् की अनेक लीलाओं की पूर्ति के लिए वैसा एक नाटक सा रचते हैं । अपने भक्तों को छोड़कर तो उनकी कोई लीला सिद्ध ही नहीं होती ।

श्रीचक्रवर्त्तिपाद साधक समाज को सतर्क करते हुए कहते हैं कि यदि मन में कभी ऐसी अपराधजनक वृत्ति या भावना जाग उठे कि भगवत्-प्राप्ति के बाद भी तो अनर्थ उठ खड़े होते हैं, तो उसे विचारपूर्वक बुद्धि द्वारा, शास्त्रतत्त्ववेत्ता भगवदनुभवी महत् पुरुष के उपदेश द्वारा नष्ट कर देना चाहिए । अपना ही दोष जानकर उस वृत्ति को तत्काल निर्मूल कर देना ही श्रेयस्कर है ।

तथा दुष्कृतोत्थानां भजनक्रियानन्तरमेव प्रायिकी निष्ठायां जातायां पूर्णा आसक्तावेवात्यन्तिकी । तथा भक्त्युत्थानां भजनक्रियानन्तरमेकदेशवर्त्तिनी निष्ठायां पूर्णा रुचावात्यन्तिकीति अनुभविना बहुदृश्वना सम्यग् विविचयानुमन्तव्यम् ॥४॥

इस प्रकार दुष्कृतोत्थ अनर्थों की जो निवृत्ति भजन-क्रिया के बाद होती है, वह 'प्रायिकी' होती है और निष्ठा उत्पन्न होने पर जो निवृत्ति होती है वह 'पूर्णा' होती है । आसक्ति होने पर उनकी आत्यन्तिकी-निवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार भक्ति-जात अनर्थों की भजन-क्रिया के बाद जो निवृत्ति होती है एकदेश-वर्त्तिनी है, निष्ठाके उत्पन्न होने पर 'पूर्णा' तथा रुचि उदित होने पर आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है । यह निर्णय बहुदर्शी अनुभव-परायण साधकों ने अच्छी प्रकार विवेचना करके स्थिर किया है ।

विश्वोल्लासिनी-टीका—उपर्युक्त प्रसङ्ग में श्रीचक्रवर्त्तिपाद साधकों को हर प्रकार की शास्त्रविरुद्ध-भावनाओं से सतर्क करते हुए अनर्थ-निवृत्ति के स्तरों का परिस्फुट वर्णन करते हैं । प्रेमविकाश के क्रम में श्रद्धा, साधुसङ्ग के बाद जब साधक भजन-क्रिया के स्तर पर पहुँचता है, तब उसके दुष्कृत-जात अनर्थों की प्रायिकी-निवृत्ति हो जाती है अर्थात् वे प्रायः दूर हो जाते हैं । जब साधक में निष्ठा उत्पन्न होती है तब सम्पूर्ण अनर्थ नष्ट हो जाते हैं । परन्तु इस अवस्था में अनर्थों के पुनः उदित होने की अभी सम्भावना रहती है । किन्तु श्रीभगवान् में आसक्ति हो जाने पर अनर्थों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है—पुनः कभी दुष्कृत-जात अपराध उदित होने की सम्भावना नहीं रहती ।

भक्ति-जात अनर्थों की निवृत्ति भी उतनी कठिन है जितने कि भक्ति-जात अनर्थ दुष्कृत-जात अनर्थों से प्रबल हैं । दुष्कृत-जात अनर्थ जल्दी निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु भक्ति के बलपर अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करना, धन-सम्पत्ति पैदा करना आदि ऐसे प्रबल अनर्थ उत्पन्न होते हैं कि उनकी निवृत्ति भी सहज नहीं हो पाती । भक्तिजात अनर्थों की भजनक्रिया स्तर पर पहुँचने पर केवल एकदेशवर्त्तिनी निवृत्ति होती है अर्थात् बहुत थोड़े अंश में वे नष्ट होते हैं, जबकि दुष्कृतजात

अनर्थ इस स्तर पर प्रायः सब निवृत्त हो जाते हैं। निष्ठा के स्तर पर पहुँचने पर भक्तिजात-अनर्थों की पूर्णा-निवृत्ति हो जाती है और रुचिका स्तर जो आसक्ति से नीचे का स्तर है, वहाँ पहुँचने पर भक्तिजात-अनर्थों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है।

सारांश यह है कि भजन-क्रिया से पहले किसी प्रकार के भी अनर्थों की निवृत्ति नहीं होती। भजन-क्रिया के आरम्भ होने पर उसमें दृढ़ता आने से क्रमशः सब प्रकारके अनर्थों की निवृत्ति आरम्भ हो जाती है। भजन में शिथिलता आने पर अनर्थ प्रबल होते जाते हैं यहाँ तक कि भजन करने की इच्छा का भी लोप हो जाता है। अतः भजन-क्रिया जो श्रद्धा एवं साधुसङ्ग के सेवन के बाद प्राप्त होती है उसमें प्रवृत्त होना अति आवश्यक है। उसके बिना अनर्थों की निवृत्ति असम्भव है और जब तक अनर्थों की निवृत्ति नहीं होती तब तक भगवत्-प्राप्ति की बात सोचना भी व्यर्थ है।

ननु “अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेवेति, यन्नामसकृच्छवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्” इत्यादि प्रमाणशतादजामिलाद्युपाख्यानेष्वेकस्यैव नामाभासस्याविद्यापर्यन्तसर्वानर्थनिवृत्तिपूर्वकभगवत्प्रापकत्वानुभवाद्भगवद्भक्तानां दुरितादिनिवृत्तावुक्त क्रमो न सङ्गच्छते। सत्यम्। नाम्नः एतावत्येव शक्तिः, नात्र सन्देहः। परन्तु स्वापराधिष्वप्रसन्नेन तेन यत् स्वशक्तिः सम्यक् न प्रकाश्यते तदेव दुष्टतादोनां जीवातुरित्यवगन्तव्यम्। किन्तु यमदूतानां तदाक्रमणे न शक्तिः “न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः” इत्यादेः। न विद्यते तस्य यमोहिशुद्धिरित्यत्र यमैर्योगाङ्गै रिति व्याख्येयम्।

यह कहा जा सकता है कि ‘नाम रूप सूर्य के एक बार उदित होने पर समस्त पाप अन्धकार नष्ट हो जाते हैं’ तथा ‘श्रीभगवान् के नाम का एक बार ही श्रवण करने से दुराचारी चाण्डाल भी संसार से मुक्त हो जाता है’—इत्यादि सैकड़ों प्रमाण शास्त्र में विद्यमान हैं और अजामिल के उपाख्यान से तो यह स्पष्ट है कि एक नामाभास से ही अविद्या पर्यन्त सर्व अनर्थों की निवृत्ति के साथ-साथ श्रीभगवान् की प्राप्ति हो जाती है, तब भगवद्भक्तों के अनर्थों की निवृत्ति के बारे में जो ऊपर क्रम कहा गया है, वह संगत नहीं दीखता।—श्रीचक्रवर्त्तिपाद कहते हैं, यह कहना सत्य है, नाम में ऐसी ही शक्ति है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। परन्तु अपने अपराधियों के प्रति अप्रसन्नता के कारण नाम अपनी शक्ति को सम्यक् प्रकाशित नहीं करते हैं। बस यही अनर्थों की निवृत्ति न होने का कारण जानना चाहिये। किन्तु नामापराधियों पर आक्रमण करने की शक्ति यमदूतों में नहीं है, जैसा कि कहा गया है—‘कि ऐसे व्यक्ति यम का तथा उसके पाशधारी दूतों का स्वप्ने में भी दर्शन नहीं करते हैं।’ नामापराधी व्यक्ति की शुद्धि यम से भी नहीं हो सकती—शास्त्र के इस वचन में यम-शब्द से योग-शास्त्र का यम-नियमादि समझना चाहिए।

विश्वोत्तासिनी-टीका—श्री श्रीधरस्वामिपाद ने कहा है—

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजर्लाधि जयति जगन्मंगलं हरेर्नाम ॥

जैसे सूर्य उदय होते ही सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार श्रीहरिनाम एक बार उच्चारण मात्र से ही जीव मात्र के सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर देता है, ऐसे जगन्मङ्गल श्रीहरिनाम की जय हो।

श्रीमद्भागवत में श्रीचित्रकेतु ने श्रीभगवान् अनन्तकी स्तुति करते हुए कहा है—(श्रीभा० ६-१६-४४)

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्तराणामखिल पापक्षयः ।
यन्नामसकृच्छवणात् पुक्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥

हे भगवन् ! आपके दर्शन मात्र से मनुष्यों के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, यह बात असम्भव नहीं है, क्योंकि आपका नाम एक बार सुनने मात्र से ही नीच चाण्डाल भी संसार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीनाम की महिमा वर्णन करने वाले सैकड़ों प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं और अजामिलके चरित्रसे यह स्पष्ट रूपसे पता लगता है कि पुत्रके नाम नारायण का उच्चारण करने से अर्थात् नामाभास से उसके समस्त पाप नष्ट हो गए। पापों का मूल अविद्या नष्ट हो गई। समस्त अनर्थों की भी निवृत्ति हो गई और भगवत्-धाम को भी वह प्राप्त हो गया।

श्रीचक्रवर्त्तिपाद उपर्युक्त शास्त्र-वचनों को उद्धृत कर यहाँ एक शङ्का को उठाते हैं। वह यह कि जब श्रीनाम की, नामाभास की इतनी महिमा शास्त्रों में वर्णित है तब भजन-क्रिया के बाद अनर्थों की कहीं एकदेशवर्त्तिनी या आंशिक और कहीं प्रायिकी और निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि प्रेम-विकाश के स्तरों में अनर्थ-निवृत्ति के क्रम को कैसे संगत मान लिया जावे ? किसी क्रम और किसी प्रेम-विकाशानुसार अवस्था की अपेक्षा तो नहीं दीखती अनर्थ निवृत्ति में।

श्रीचक्रवर्त्तिपाद स्वयं ही इस प्रकार का पूर्वपक्ष उठाकर साधकों के संशय की निवृत्ति करते हुए कहते हैं कि श्रीनाम के विषय में जो महिमा वर्णन की गई है, वह बिल्कुल सत्य है, कुछ भी उसमें सन्देह नहीं है। परन्तु जहाँ नामापराध रहते हैं वहाँ श्रीनाम अपनी इस प्रकार की शक्ति का प्रकाश नहीं करता। अतः नामापराधी मानवकी अनर्थ-निवृत्ति नहीं होती। उसके लिए ही अनर्थ निवृत्तिका क्रम और अवस्था का वर्णन किया गया है। नामापराध रहित होने पर श्रीनाम की उसी प्रकार की शक्ति तत्काल अपना प्रभाव प्रकट कर नाम-ग्रहणकारी को कृतार्थ कर देती है।

एक विशेष बात चक्रवर्त्ती यहाँ कहते हैं कि नामापराध रहते हुए भी नाम-ग्रहण करने वाले व्यक्ति पर यम या यमदूतोंका कोई भी शासन-दण्ड नहीं रहता।

नामापराधी के अनर्थ निवृत्त नहीं होते, नाम का मुख्यफल प्रेम-प्राप्ति नहीं होती, न ही भगवत्-प्राप्ति होती है, परन्तु वह यम-यातना से मुक्त हो जाता है। श्रीमद्-भागवत (६।१।१६) में कहा गया है—

सकृन् मनः कृष्णपदारविन्दयो निर्वेशितं तद्गुणरागि येरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिकृताः ॥

जिन्होंने श्रीकृष्ण के नाम-गुणों का गान करते हुए अपने मन मधुकर को उनके चरणारविन्द का मकरन्द एक बार आस्वादन कराया है, उन्होंने सब प्रायश्चित्त कर लिए हैं। वे स्वप्ने में भी यमराज और उसके पाशधारी दुतों को नहीं देखते, फिर नरक की तो बात ही क्या है ?

श्रीहरिभक्तिविलास (१।१२८४) में पद्मपुराण वर्णित दस नामापराधों का जहाँ वर्णन आया है, वहाँ नाम के बल पर पापबुद्धि होना भी एक नामापराध माना गया है। वहाँ उल्लेख मिलता है—

नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ।

अर्थात् जो व्यक्ति नाम के भरोसे पर पाप का आचरण करता है, उसकी अनेक काल तक यम से भी शुद्धि नहीं होती। कोई-कोई लोग यहां यम का अर्थ यम-यातना समझ लेते हैं, परन्तु ऊपर कह आये हैं कि नामापराधी को यम और यमदूतों का स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता। अतः श्रीचक्रवर्त्तिपाद का कहना है कि यहां यम शब्द का अर्थ यमराज या यम-यातना नहीं है, किन्तु यम से यहां योग-शास्त्रोक्त यम-नियमादि अनुष्ठान ही अभिप्रेत हैं। अर्थात् नाम के भरोसे पाप में प्रवृत्त होने वाले का नामापराध यम-नियमादि अन्य किसी भी प्रायश्चित्त से दूर नहीं होता।

तात्पर्य यह है जब तक नामापराध साधक में रहते हैं, उनके क्रमशः नाश होने पर्यन्त अनर्थों की निवृत्ति नहीं होती। नामापराधों के विनाश क्रम को लक्ष्य कर ही अनर्थों की निवृत्ति का परिमाण एवं प्रेमविकाशानुवृत्ति अवस्थाओं का वर्णन है।

यथा समर्थेन परमाढ्येनापि स्वामिना कृतापराधः स्वजनो यदि न पाल्यते किन्तु तत्रोदास्यते तदैव दुःखदारिद्र्यमालिन्यशोकादयः क्रमेण लब्धावसरा भवन्ति न त्वन्यदीया जनाः केऽपि कदापीति ज्ञेयम्। तथा च पुनः स्वस्वामिनो मनोऽभिरोचिन्यामनुवृत्तौ सत्यां शनैस्तत्प्रसादाद्दुःखदारिद्र्यादयः शनैरपयान्ति। तथा भगवद्भक्त-शास्त्रगुरुप्रभृतिभिरमायया मुहुः सेवितैः शनैरेव तस्य नाम्नः प्रसादे दुरितादीनामपि शनैरेव नाशः इति नास्ति विवादः। न च मम कोऽपि नास्ति नामापराधः इति वक्तव्यम्—फलेनैव फलकारणस्यापराधस्य प्राचीनस्यार्वाचीनस्य वा अनुमानात्। फलञ्च बहुनामकीर्त्तनेऽपि प्रेमलिङ्गानुदय इति। यदुक्तम्। (भा. २।१।२४)

“तदश्मसारं हृदयं वतेदं, यद्गृह्यमाणं हरिनामधेयैः।

न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥”

जैसे कोई समर्थ परम धनवान् स्वामी यदि अपने प्रति किसी अपराधी को पालना नहीं करता और उसके प्रति उदासीनता—बेपरवाही करता है, तो उस बेपरवाही के कारण उस अपराधी को दुःख, दग्धता, मलिनता एवं शोकादि क्रमशः घेर लेते हैं। इसी प्रकार किसी भी स्वामी द्वारा कोई अनात्मीय या अप्रिय व्यक्ति पालित नहीं होता है। यदि फिर वही अपराधी-व्यक्ति अपने स्वामी के मन की अभिरुचि जानकर आचरण करता है—उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करता है, तब स्वामी के संतुष्ट होने पर उसके दुःख-दग्धतादि क्रमशः दूर हो जाते हैं। इस प्रकार नामापराधी व्यक्ति जब भगवद्भक्त, शास्त्र एवं गुरु आदि का कपटरहित होकर सेवन करता है तब क्रमशः नाम ही की कृपा से उसके अपराध-अनर्थों का क्रमशः विनाश होने लगता है। इस विषय में कोई भी विवाद नहीं है। यदि कोई यह कहे कि मेरा किसी प्रकार का भी नामापराध नहीं है, तो यह कहना पड़ता है कि फल को देखकर उसके कारण का अनुभव होता है। वह आधुनिक हो या प्राचीन, नामापराध का अनुमान हो जाता है। उसका पल यह है कि अनेक नाम सङ्कीर्त्तन करने पर भी प्रेम के लक्षण उदित नहीं होते। जैसे कि कहा गया है—

श्रीहरिनाम के ग्रहण करने पर भी जिस व्यक्ति के नेत्रों से अश्रु तथा शरीर में रोमाञ्चादि सात्विक-विकार उत्पन्न नहीं होते—उसका हृदय वज्र के समान कठोर है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—परम समर्थ श्रीनाम की नामापराधी के प्रति क्यों और कैसे कृपा नहीं होती, उसके अनर्थ क्यों नहीं निवृत्त होते—इस विषय को श्रीग्रन्थकार और भी स्पष्ट करते हैं। अपराधी सेवक के प्रति जैसे उसका स्वामी परम समर्थ होते हुए भी अपना सहयोग हटा लेता है और वह सेवक दुखी हो जाता है, उसी प्रकार नामापराधी व्यक्ति के प्रति श्रीनाम उदासीन हो जाता है—अपनी कृपा या महान शक्ति का प्रकाश नहीं करता और उसीके फलस्वरूप नामापराधी को अनेक अनर्थ घेरे रहते हैं। अपराधी सेवक के पुनः अपने स्वामी को सन्तुष्ट कर लेने पर जैसे उसके सब दुःख—दारिद्र्य मिट जाते हैं, उसी प्रकार नामापराधी व्यक्ति जब भगवद्भक्त-शास्त्रादि, जिनके प्रति अवज्ञा करने से उसे

अपराध लगते हैं, की कपट रहित सेवा करता है तो उसके समस्त अनर्थ क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। अनेक नाम-जप, नाम-संकीर्तन करने पर भी जब अश्रु, कम्प, पुलकादि प्रेम के लक्षण किसी में नहीं दीखते तो यह निश्चित है कि उसमें नामापराध मौजूद हैं, चाहे वह इस जन्म के हों अथवा पिछले जन्म के हों। यह अटल सिद्धान्त है कि जिस में इस प्रकार के प्रेमलक्षण नाम ग्रहण करने पर भी नहीं उदित होते, उसका हृदय नाम-अपराधों के कारण मलिन एवं कठोर है और इसीलिए द्रवीभूत नहीं होता। अतः कोई भी नाम ग्रहणकारी जिसमें प्रेम के लक्षण नहीं दीखते, वह यह नहीं कह सकता कि वह नामापराध रहित है।

प्रेम जिसमें उदित होता है उसके लक्षणों का वर्णन करते हुए श्रीरूप-गोस्वामिपाद ने इस प्रकार कहा है (भक्तिरसामृतसिन्धुः—१-३-११)—

क्षान्तिरव्यर्थ कालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचि ॥

आसक्तिस्तदगुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।

इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातिभावांकुरे जने ॥

जिस व्यक्ति में प्रेम का अंकुर मात्र भी उत्पन्न होता है, उसके चित्त में क्षोभ नहीं रहता, भगवद्-विषय को छोड़कर एक क्षणकाल भी वह व्यर्थ नहीं खोता, मोह-रहित होता है, मान-प्रतिष्ठा नहीं चाहता वह। सदैव भगवत्-कृपा की आशायुक्त एवं उत्कण्ठित रहता है। नाम—संकीर्तन में उसकी सदा रुचि रहती है, भगवत्-कथा-गुण कहने में उसकी आसक्ति रहती है और भगवत्-लीला स्थलियों में—श्रीवृन्दावन-अयोध्यादि धामों में उसकी प्रीति रहती है।

अतः इस प्रकार के प्रमुख लक्षण जिस व्यक्ति में नहीं दीखते हैं और नाम भी वह ग्रहण करता है, तो समझना चाहिए कि उस में प्रबल नामापराध विद्यमान हैं।

तथाहि नामापराध प्रसङ्गे एव-भक्तिरसामृतसिन्धौ—

‘‘के तेऽपराधा विप्रेन्द्र नाम्नो भगवतः कृताः ।

विनिघ्नन्ति नृणां कृत्यां प्राकृतं ह्यानयन्ति हि ॥’’ ‘‘इति’’

तदोय गुणनामादीनि सद्यःप्रेमप्रदान्यपि श्रुतानि कीर्तितानि च तत्तीर्थादिकं सद्यः सिद्धिदमपि चिरात् सेवितं सन्निवेदितानि घृतदुग्धताम्बूलादीनि सद्यः सर्वेन्द्रियतरङ्गनिवर्त्तकानि मुहुरास्वाद्य उपयुक्तान्येव स्वतः परम चिन्मया-न्यप्येतानि यस्मात् प्राकृतानीव भवन्ति तेऽपराधा के भगवन्नाम्न इति सोत्कम्प-

सविस्मयः प्रश्नः नन्वेवं सति नामापराधावतो जनस्य भगवद्बहुमुख्यस्यैवोचित्यात् तदुक्तं गुरुपादाश्रयभजनक्रियादिकमपि न सम्भवेत् । सत्यम् प्रवर्त्तमाने महाज्वर इव ओदनादेररोचकत्वादेवानुपादानमिव नामापराधस्य गाढत्वे सति तत्र पुंसि श्रवण-कीर्त्तनादिभजनक्रियाया अवकाश एव न स्यादित्यत्र कः सन्देहः । किन्तु ज्वरस्य मृदुत्वे चिरन्तनत्वे ओदनादेरपि किञ्चिदरोचकत्वमिव । बहुदिनतो भोगेनापराधस्य क्षीणवेगत्वे मृदुत्वे च भगवद्भक्तौ किञ्चिन्मात्ररुचिः स्यादिति पुंस प्रसज्जति भक्तावधिकारः । ततश्च यथा पौष्टिकान्यपि दुग्धोदनादीनि जीर्णज्वरवन्तं पुमांसं न पुष्यन्ति किञ्चित् पुष्यन्ति च किन्तु ग्लानिकाश्ये न निवर्त्तयितुं शक्नुवन्ति कालेनौषधपथ्ययोः सेवितयोः शक्नुवन्ति च । तत्रैव तादृशस्य भक्त्यधिकारिणः श्रवणकीर्त्तनादीनि कालेनैव क्रमेणैव सकलं प्रकाशयन्तीति साधूक्तम्—‘‘आदौ श्रद्धा ततःसाधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया, ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः’’ इत्यादि

नामापराध के प्रसङ्ग में श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! श्रीभगवन्नाम के प्रति कौन से अपराध हैं, जिनके आचरण के कारण मनुष्यों के सब पुण्य नष्ट हो जाते हैं और अप्राकृत में भी प्राकृतत्व ला देते हैं ? और श्रीभगवान् के गुण-नामादि तत्काल प्रेम-प्रदाता होकर भी अनेक काल पर्यन्त सुनने एवं कीर्त्तन करने से जिन अपराधों के कारण अपना फल प्रदान नहीं करते, वे कौन से हैं ? और भगवद्-सम्बन्धो तीर्थादि सदा सिद्धि-प्रद होकर भी अनेक काल तक सेवन करने से क्यों सिद्धि प्रदान नहीं करते ? एवं श्रीभगवान् को निवेदन किए जाने पर घी, दूध ताम्बूलादि तत्काल सब इन्द्रियों की विषय-वासनारूप तरंगों के नष्ट करने वाले होकर भी बार-बार आस्वादन करने पर क्यों अपने चिन्मय स्वरूप की बजाय प्राकृत प्रतीत होते हैं ? श्रीभगवन्नाम के प्रति जिन गुरुतर अपराधों के कारण ये सब अपना फल प्रदान नहीं करते वे अपराध कौन से हैं ?—इन विषयों में उत्कम्प एवं विस्मय पूर्वक प्रश्न किया जाता है। यदि यही बात ही है तो नामापराधी व्यक्ति का श्रीभगवान्से विमुखता ही उचित है—ऐसा कहना पड़ेगा। फिर उसके लिए तो गुरुपादाश्रय, भजन-क्रियादि, जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, सम्भव नहीं हो सकते। यह बात सत्य है, किन्तु प्रबल ज्वर में अरुचि होने के कारण जैसे अन्नादि के ग्रहण करने की सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार नामापराधों की प्रबलता के होने पर उस व्यक्ति में श्रवण-कीर्त्तनादि भजन-क्रिया का अवकाश नहीं रहता—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। किन्तु जब ज्वर जीर्ण हो जाता है और उसका वेग भी कम हो जाता है, तब जैसे अन्नादि थोड़े-थोड़े रुचिकर होने लगते हैं, उसी प्रकार अनेक दिन तक भोग करने पर नामापराधों का वेग क्षीण और हलका पड़ जाता है, तब भगवद्-भक्ति में थोड़ी-थोड़ी रुचि पैदा होने लगती है। ऐसे ही उस नामापराधी पुरुष का भक्ति में अधिकार पैदा होना सिद्ध होता है। तदनन्तर जैसे दूध-अन्नादि पुष्टिकारक खाद्य पदार्थ भी जीर्ण-ज्वर के रोगी को अच्छी तरह पुष्ट नहीं करते, किन्तु थोड़ा-थोड़ा पुष्ट करते हैं, फिर भी ज्वर-जनित ग्लानी और दुर्बलता को वे दूर नहीं कर सकते। कुछ समय तक क्रम से

औषधि एवं पथ्यादि के सेवन से वे अन्नादि ग्लानि एवं दुर्बलता को भी दूर कर सकते हैं। उसी प्रकार ऐसे भक्ति-अधिकारी के लिए कुछ काल तक श्रवण कीर्तनादि क्रमशः सेवन के बाद वे अपना फल प्रकाशित कर देते हैं। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि सबसे पहले श्रद्धा, साधुसंग, उसके बाद भजन-क्रिया फिर अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा और फिर रुचि उत्पन्न होती है, इत्यादि।

विश्वोत्सासिनी-टीका—श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने यहां एक और यह शंका उठायी है कि भगवन्नाम-गुण का श्रवण एवं कीर्तन तत्काल प्रेम देने वाला है, समस्त तीर्थ सिद्धि देने वाले हैं एवं भगवत्-प्रसाद चिन्मय या अप्राकृत है—ये सब बातें शास्त्रोक्त हैं एवं इनके विषय में असंख्य प्रमाण भी हैं, फिर भी अनेक समय तक भगवन्नाम-गुण सुनने-कीर्तन करने से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, अनेक काल तक तीर्थों में वास करने पर भी सिद्धि-अभीष्ट-फल की प्राप्ति नहीं होती तथा श्रीभगवान् को भोग लगाने पर भी उन पदार्थों में चिन्मयता या अप्राकृतत्व की अनुभूति नहीं होती—ऐसे कौन से प्रबल अपराध हैं जिनके कारण मनुष्यों को इन सब का फल प्राप्त नहीं होता? और यदि यह बात ठीक है कि अपराधों के कारण भगवन्नाम, तीर्थवास एवं भगवत्-प्रसाद अपना कुछ भी फल नहीं देते तो यह कहा जा सकता है कि फिर अपराधो मनुष्य को श्रवण-कीर्तन-भजनादि करने को जरूरत ही क्या है? भक्ति के अङ्ग—गुरुपादाश्रय आदि में उसका प्रवृत्त होना भी सम्भव नहीं हो सकता।

इस पूर्व पक्ष को उठाकर श्रीचक्रवर्त्तिपाद इसका समाधान करते हैं कि भगवन्नाम श्रवण-कीर्तन, तीर्थवास तथा भगवत्-प्रसाद ग्रहण करना कभी निष्फल नहीं होता। उनमें अपना अपना फल प्रदान करने की शक्ति नित्य ही विराजमान है किन्तु जैसे तेज ज्वर में खाद्य पदार्थों के प्रति अरुचि हो जाती है और किसी पदार्थ को ग्रहण करना भी सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार जिनमें प्रबल नामा-पराध हैं, उनके लिये तो भगवन्नाम श्रवण कीर्तन-भजन करना गितान्त असम्भव ही है, और वे उन अपराधों का फल भोग करते रहते हैं।

समय पाकर जब ज्वर का वेग कम हो जाता है तो कुछ पदार्थों के खाने में रोगी की रुचि होने लगती है और वह कुछ कुछ पदार्थ खाने भी लगता है, परन्तु वे पदार्थ उसकी दुर्बलता को एकदम दूर नहीं कर सकते और न ही उसे एकदम पुष्ट ही करते हैं। किन्तु कुछ काल तक औषधि के सेवन के साथ परहेज करते हुए जब ज्वर दूर हो जाता है तब वही पदार्थ ही उसे पूर्ण रुचिकर भी हो उठते हैं और उसे तृप्ति और पुष्टि भी प्रदान करते हैं। इसी प्रकार अपराधों का भोग करते करते जब अपराध ढीले पड़ जाते हैं, तब उस मनुष्य की श्रवण-कीर्तन-भजनादि भक्ति के अङ्गों में कुछ कुछ रुचि होने लगती है। रुचि के अनुसार वह फिर भक्ति-अङ्गों का कुछ कुछ सेवन करने लगता है, परन्तु इस अवस्था में वह भक्ति-अङ्ग उसे न तो पूर्णतः निरपराध करते हैं और न ही अपनी पूर्ण शक्ति को प्रकाशित करते हैं। जब चिरकाल तक वह साधक गुरुपादाश्रय, श्रवण-कीर्तन-भजन करता है तथा परहेज रूप में नामापराध-सेवापराध तथा वैष्णवापराधों से

वचता रहता है, तब उसके समस्त अपराध दूर हो जाते हैं तथा श्रवण-कीर्तन-भजनादि भी अपना पूर्ण फल प्रदान कर इसे सदा के लिए कृतार्थ कर देते हैं।

अतः अपराधों की प्रबलता को मुख्य जानकर श्रीभगवान् से वहिमुख होना जीव के लिये बुद्धिमत्ता नहीं है, अपितु भगवत् वहिमुखता का फल अपराधों को जानकर मानव के लिये औषधिरूप श्रवण-कीर्तन-भजन में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है। ज्यों ज्यों अपराध क्षीण होंगे, त्यों त्यों भक्ति-अङ्ग अपना पूर्ण फल प्रकाशित करेंगे। भगवत्-भक्ति में प्रवृत्त होने का भी शास्त्रों ने साधन वर्णन किया है। उस साधन क्रम का आचरण करने पर साधक में भगवत्-प्रेम का आविर्भाव हो उठता है। जिससे श्रीभगवान् की प्राप्ति होती है। वह क्रम इस प्रकार है—सबसे पहले श्रद्धा, उसके बाद साधु-संग और फिर भजन-क्रिया, उसके बाद अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा तथा रुचि उत्पन्न होती है। फिर आसक्ति तथा भाव और फिर प्रेम का आविर्भाव होता है^१ ? अतः यह क्रम सर्वथा सङ्गत ही है।

कैश्चित्तु नामकीर्तनादिवतां भक्तानां प्रेमलिङ्गादर्शनेन पापप्रवृत्त्या च न केवलमपराधः कल्प्यते व्यवहारिकबहुदुःखदर्शनेन चापि प्रारब्धनाशाभावश्च। निरपराधत्वेन निर्धारितस्याजामिलस्यापि स्वपुत्रनामकरण-प्रतिदिनबहुधातन्नामा-ह्वानसमयेऽपि प्रेमाभावदासीसङ्गादिपाप प्रवृत्ति-दर्शनात्, प्रारब्धाभावेऽपि युधिष्ठिरादेर्व्यवहारिकबहुदुःखदर्शनाच्च। तस्मात् फलत्रपि वृक्षः प्रायशः काल एव फलति इतिवत् निरपराधेषु प्रसीददपि नाम स्वप्रसादं काल एव प्रकाशयेत् पूर्वाभ्यासात् क्रियमाणा पापराशिरपि उत्खातदंष्टोरगदंश इवाकिञ्चित्करा एव। रोग-शोकादि-दुःखमपि न प्रारब्ध फलम्—

“यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।

ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥”

‘निर्धनत्वमहारोगो मदनुग्रहलक्षणम् (श्री भा० १०-८८-८) इत्यादि वचनात्। स्वभक्तहितकारिणा तदीयदेन्योत्कण्ठादिवद्धं नचतुरेण भगवतैव दुःखस्य दीयमानत्वात् कर्मफलत्वाभावेन न प्रारब्धत्वमित्याहुः ॥५

कोई लोग कीर्तनकारी-भक्तों में प्रेम के लक्षणों को देखकर तथा उनकी पापों में भी प्रवृत्ति देखकर उनमें केवल नामापराधों की ही कल्पना नहीं करते अपितु उनमें व्यवहारिक अनेक दुखों को देखकर वे ऐसा मानते हैं कि इनका अभी प्रारब्ध-नाश भी नहीं हुआ। जैसा कि निरपराध-रूप से निर्धारित अजामिल द्वारा अपने पुत्र के नाम ग्रहण करने में तथा प्रतिदिन अनेकवार उसे नाम ले लेकर पुकारने पर भी उसमें प्रेम का अभाव और दासी-संगादि पापों में भी प्रवृत्ति दीखती है और युधिष्ठिरादि पाण्डवों में प्रारब्ध का अभाव होने पर भी उनमें व्यवहारिक अनेक दुखों को देखा जाता है। परन्तु सिद्धान्त यह है कि

१. सम्पादक द्वारा सम्पादित भक्तिरसामृतसिन्धुविन्दुः की विश्वकृपादर्शिनी टीकान्तर्गत प्रेम-विकाश क्रम का विस्तरशः वर्णन द्रष्टव्य है।

जैसे फल देने वाला भी वृक्ष प्रायः समय पर ही फलता है, उसी तरह निरपराधियों पर प्रसन्न श्रीभगवान् भी समय पर ही अपनी कृपा प्रकाशित करता है तथा भक्तों के पूर्वाम्यासवश किये हुए पापसमूह भी साँप के विष-रहित दान्तों से काटने की तरह प्रभाव या क्रिया-रहित ही होते हैं। भक्तों में जो रोग, शोक एवं दुःख दीखते हैं, वे प्रारब्ध का फल नहीं होते। श्रीभगवान् ने कहा है—“जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उस का धीरे-धीरे धन हर लेता हूँ। दुःख से दुःखित उस मेरे निर्धन-भक्त को उसके बन्धु-बान्धव त्याग देते हैं। श्रीभगवान् ने और भी कहा है—निर्धनता रूपी महारोग मेरी कृपा का लक्षण है।” इस प्रकार के अनेक वचन शास्त्रों में मिलते हैं। भक्तों के हितकारी परमप्रवीन श्रीभगवान् ही अपने भक्तों को दीनता एवं उत्कण्ठा आदि की वृद्धि के लिए उनको दुःख प्रदान करते हैं। अतएव भक्तों के कर्म-फल का अभाव होने से समस्त दुःखादिक उनके प्रारब्ध का फल नहीं होता ऐसा—तत्त्ववेत्ताओं का कहना है ॥५॥

विश्वोल्लासिनी—टीका— श्रीचक्रवर्तिपाद यहां एक दूसरे सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कहते हैं कि नामसंकीर्तकारी-भक्तों में प्रेम के लक्षणों को न देखकर एवं उनकी पापों में प्रवृत्ति देखकर उनमें नामापराधों की कल्पना कर लेना भी सर्वत्र संगत नहीं है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रेम लक्षण न दीखने पर उनमें नामापराध विद्यमान हों। ऐसे ही भक्तों में व्यवहारिक दुखों को देखकर यह मान लेना भी सर्वत्र संगत नहीं कि अभी उनका प्रारब्धकर्म नाश नहीं हुआ। अतः उसके कारण ये दुःख भोग रहे हैं।

इस प्रसंग के समाधान में दो उदाहरणों का उल्लेख किया गया है। एक तो अजामिल का। अजामिल ने जिस समय अपने पुत्र का नाम ‘नारायण’ रखा, वास्तव में वह उस समय से ही निरपराध हो चुका था, क्योंकि उसे उसके फलस्वरूप ही कुछ काल पीछे भगवत्-प्राप्ति हुई। भगवत्-प्राप्ति के लिए अनर्थों की निवृत्ति होना और अनर्थ—निवृत्ति के लिए निरपराध होना अनिवार्य है। (जैसे कि पहले आलोचना की जा चुकी है) अजामिल निरपराधता निश्चित हो चुकी थी और वह अनेक बार नारायण नाम-का उच्चारण भी करता रहता था, परन्तु उसमें प्रेम का कोई भी लक्षण नहीं दीखता था, बल्कि दासी के संग रूप पाप में भी उसकी प्रवृत्ति थी—ऐसा क्यों?

इसका कारण एक मात्र श्रीनामाभास की फल-प्राप्ति में समय भी अपेक्षा थी। जैसे फल देने वाला वृक्ष मौसम पर ही फल देता है, आगे पीछे नहीं। उसी प्रकार निरपराध होने पर भी श्रीनाम के फल प्रकाशित होने में समय ही अपेक्षा रहती है। अतः नामाग्रहणकारी में यदि प्रेम के लक्षण नहीं भी दीखसे तो यह आवश्यक नहीं कि उसमें नामापराध हैं। वह निरपराधी भी हो सकता है, परन्तु श्रीनाम अपनी इच्छा से ही जिस समय उस पर अपना अनुग्रह प्रकाशित करेगा, उसी समय उसमें प्रेम-लक्षण भी दीखने लगेंगे।

निरपराधी नाम-ग्रहणकारी भक्तों की यदि कहीं पापों में प्रवृत्ति दीखती है, वह भी पिछले जन्मों का अभ्यासवश केवल प्रतीति मात्र ही होती है। उसमें फल के उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रहती जैसे साँप के विष-रहित दाँत केवल देखने मात्र को होते हैं, उनमें विष संचार करने की शक्ति नहीं होती। अथवा जैसे भुना हुआ चना, चना तो दीखता है परन्तु उसमें अंकुरित होने की शक्ति नहीं होती। उसी प्रकार ऐसे भक्तों के पाप-कर्म दीखने को तो दीखते हैं, परन्तु उनमें फल-प्रदान करने की शक्ति नहीं रहती। अतः ऐसे भक्तों में नामापराध की कल्पना नहीं की जा सकती। अवश्य यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू नहीं होता। परन्तु निरपराध विशेषतः भगवान् के आत्मीय-जन अनुग्रह-पात्र अथवा लीला के पात्रों में ऐसी अवस्थाएं देखकर उनमें नामापराध या प्रारब्ध की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

दूसरा उदाहरण है श्रीयुधिष्ठिरादि पाण्डवों का। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिन के बान्धव, सखा, मित्र, प्रिय यहां तक कि दूत और सारथी थे,—आज्ञाकारी थे, तो क्या उनकी भगवत्-प्राप्ति में भी कोई कसर बाकी रह जाती है? साक्षात् भगवत्-प्राप्ति के बाद भी क्या कोई प्रारब्ध-कर्म बाकी रह सकता है? उनके नाम की स्फूर्ति से ही प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं। परन्तु फिर भी इतिहास उनमें अनेक दुखों का वर्णन करता है।

श्रीचक्रवर्तिपाद ने पाण्डवों के दुखों को व्यावहारिक दुःख कहा है। अर्थात् पाण्डवों को जो दुःख थे, वे पारमार्थिक नहीं थे। उनका पाण्डवों की कृष्ण-भक्ति में कुछ भी दखल न था। बल्कि वे दुःख उनकी कृष्ण-स्मृति को सदा जागृत रखने वाले थे, एवं श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन प्राप्त करने के मुख्य साधन ही थे। श्रीकुन्ती जी ने तो श्रीकृष्ण से उन दुखों के लिए प्रार्थना भी की थी।

एक बात और भी है जगत् के लोगों को शिक्षा देने के लिए श्रीभगवान् स्वयं कभी-कभी दुःखित होने का अभिनय करते हैं अथवा कभी अपने निजी-परिकरों को ही उसका माध्यम बना कर अभिनय कराते हैं। पाण्डवों को दुःख का पात्र बना कर दुष्ट दुर्योधनादि तत्कालीन अधार्मिक आसुरी-सम्पद का नाश श्रीभगवान् को करना था तथा जुवादि दुष्कर्मों का फल भी जगत् को प्रदर्शित कराना उनका अभीष्ट था। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र का बन-गमन, जानकी-विच्छेद आदि उनकी लीलाएँ हैं जिनसे वे अनेक प्रयोजन सिद्ध करते हैं। अतः इस प्रकार के दुःख केवल व्यावहारिक ही होते हैं, लीला-मात्र ही हैं। प्रारब्ध का फल नहीं होते। किसी कर्म का फल नहीं होते।

इस विषय में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं कि जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन हरण कर लेता हूँ। जगत् के जितने पारिवारिकजन हैं, मनुष्य को तब तक घेरे रहते हैं, जब तक उसके पास धन-सम्पत्ति रहती है। धन के न रहने से स्वयं भी मनुष्य अनेक प्रकार के विषय-भोगादि भगवद्-बहिर्मुखता के प्रवर्तक कर्मों से बच जाता है। धन के न रहने से स्वजनों का दुस्तर बन्धन सहज में निवृत्त हो जाने पर मनुष्य श्रीभगवान् की ओर अति शीघ्र अग्रसर हो जाता है।

और भी कहा गया है कि निर्धनता रूपी महारोग भगवत्-कृपा की निशानी है। अतः परम भक्तवत्सल भगवान् अपने कृपा-पात्रों को व्यावहारिक दुख देकर उनकी दीनता एवं भक्ति-उत्साह को बढ़ाते हैं—इसलिए भक्तजनों का दुख कभी उनके प्रारब्ध कर्मों का फल नहीं समझना चाहिये—ऐसा भक्तिसिद्धान्त तत्त्ववेत्ताओं का निर्णय है।

इति श्रीमाधुर्यकादम्बिन्यां सर्वग्रहप्रशमिनी नाम तृतीयामृत वृष्टिः ॥३॥

ॐ

“ चतुर्थमृत-वृष्टिः ”

अथ पूर्वं या अनिष्ठिता निष्ठिता द्विविधोक्ता भजनक्रिया तस्याः प्रथमा षड्विधा लक्षिता ततो द्वितीयामलक्षयित्वेवानर्थक्रानिवृत्तिः प्रक्रान्ता, यदुक्तम्-

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥” श्री भा० १-२-१७।१८

तत्र शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः—इत्यनिष्ठितेव भक्तिरवगम्यते नैष्ठिकीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । अभद्राणि विधुनोति इति तयोर्मध्ये एवानर्थानां निवृत्तिरुक्ता । नष्ट प्रायेष्वभद्रेष्वित्यत्र तेषां कश्चन भागोनापि निवर्तत इत्यपि सूचित इति । अतएव क्रमप्राप्ततया निष्ठिता भक्तिरिदानीं विव्रियते ॥१॥

पहले जो अनिष्ठिता और निष्ठिता, दो प्रकार की भजन-क्रिया का वर्णन किया गया था, उसमें पहली अर्थात् अनिष्ठिता भजन-क्रिया के छः भेद प्रदर्शित किए जा चुके हैं। उसके बाद दूसरी जो निष्ठिता-भजनक्रिया है, उसके लक्षणादि का निरूपण न करके अनर्थ-निवृत्ति की आलोचना की गई है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (१-२-१७-१८) में कहा गया है कि—

जिनकी कथा के सुनने एवं कीर्तन करने से तीनों लोक पवित्र होते हैं, साधुओं के सुहृद् वे भगवान् श्रीकृष्ण अपनो कथा को सुनने वाले व्यक्तियों के हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं और उनके समस्त अमङ्गल नष्ट कर देते हैं। नित्य श्रीभागवत्-सेवा द्वारा उनके अमङ्गल समूह प्रायः नष्ट हो जाने पर उत्तमश्लोक श्रीभगवान् में उनकी नैष्ठिकी भक्ति उदित हो आती है।

इस श्लोक के ‘शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः’ इस प्रथमांश में अनिष्ठिता-भक्ति वर्णित है, क्योंकि इसके आगे नैष्ठिकी-भक्ति का वर्णन है। इन दोनों प्रकार की भक्तियों में अमङ्गलों को नष्ट करने की जो बात कही गई है—इस से अनर्थ-निवृत्ति का कथन किया गया है और फिर ‘अमङ्गल समूह प्रायः नष्ट हो जाते हैं’—इससे यह भी सूचित होता है कि अमङ्गलों के किसी-किसी अंग की निवृत्ति नहीं भी होती है। अतएव श्रीमद्भागवत में वर्णित क्रमानुसार निष्ठिता भक्ति का यहां वर्णन किया जाता है ॥१॥

विश्वोल्लासिनी-टीका—द्वितीयामृत वृष्टिके पाँचवें अनुच्छेद में अनिष्ठिता एवं निष्ठिता भजन-क्रिया के दो भेद वर्णन किए जा चुके हैं एवं छठे पैरा में छः प्रकार की अनिष्ठिता-भजनक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। उसके बाद दूसरी प्रकार की निष्ठिता-भजनक्रिया की लक्षणादि सहित कुछ भी आलोचना नहीं की गई थी। किन्तु अनर्थ-निवृत्ति की आलोचना की गई। अनिष्ठिता के बाद निष्ठिता भजन-क्रिया का वर्णन न कर अनर्थ-निवृत्ति का क्यों वर्णन किया गया—इसका कारण उल्लेख करते हुए श्रीचक्रवर्तिपाद ने श्रीभागवत के उपर्युक्त दो श्लोक उद्धृत किए हैं। पहले श्लोक में अनिष्ठिता-भजन-क्रिया का वर्णन है और दूसरे में निष्ठिता-भजनक्रिया का। इन दोनों श्लोकों के बीचों-बीच अर्थात् प्रथम श्लोक के दूसरे पाद में और दूसरे श्लोक के प्रथम पाद में अमङ्गलों के नष्ट होने की बात कही गई है। अमङ्गल शब्द का अर्थ है अनर्थ। अनर्थों के नष्ट होने के बाद उत्तम श्लोक श्रीभगवान् में नैष्ठिकी-भक्ति की बात वर्णन की गई है। विशेषतः अमङ्गलों के प्रायः नाश की बात कहने से उस अवस्था की भी सूचना मिलती है, जिसमें कुछ-कुछ अंश में अनर्थ शेष रह जाते हैं। वह अवस्था है अनिष्ठिता-भजनक्रिया की। क्योंकि इस भजन-क्रिया अवस्था में श्रवण-कीर्तनादि द्वारा समग्र अमङ्गल नष्ट नहीं होते। निर्विघ्न भजन-क्रिया द्वारा जब ऐसी अवस्था उदित हो आती है कि जिसमें अनर्थों का कुछ भी अंश नहीं रहता, तब उसे निष्ठिता-भजनक्रिया कहा जाता है। अतः श्रीमद्भागवत के वर्णन से यह क्रम सिद्ध होता है—पहले अनिष्ठिता-भजनक्रिया, फिर अनर्थों की निवृत्ति तदनन्तर निष्ठिता-भजनक्रिया। श्रीचक्रवर्तिपाद कहते हैं कि इसीलिए मैं ने उसी क्रम की रक्षा करते हुए अनिष्ठिता-भजनक्रिया के बाद अनर्थ-निवृत्ति की आलोचना की है। अब उसके बाद निष्ठिता-भजनक्रिया का निरूपण करता हूँ ॥१॥

निष्ठा नैश्चल्यमुत्पन्नं यस्या इति निष्ठिता । नैश्चल्यं भक्तेः प्रत्यहंविधित्सितमप्यनर्थदशायां लयविक्षेपाप्रतिपत्तिकषायरसास्वादानां पञ्चानामन्तरायाणां दुर्वारत्वान्न सिद्धमासीत् । अनर्थनिवृत्त्यनन्तरं तेषां तदीयानां निवृत्तप्रायत्वात् नैश्चल्यं संपद्यते इति लयाद्यभाव एव निष्ठालिङ्गम् । तत्र लयः कीर्तनश्रवणस्मरणेषु उत्तरेष्वधिक्येन निद्रोद्गमः । विक्षेपः तेषु व्यावहारिक वार्तासम्पर्कः । अप्रतिपत्तिः कदाचित्त्विलयविक्षेपयोरभावे कीर्तनाद्यसामर्थ्यम् । कषायः क्रोधलोभगर्वादिसंस्कारः । रसास्वादः विषयसुखोदयकाले कीर्तनादिषु मनोऽनभिनिवेश इति । ‘भक्तिर्भवति नैष्ठिकी । “तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये । चेत एतैरनाबिद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति” इत्यत्र चकारस्य समुच्चयार्थत्वाद् रजस्तमोभावा एव लभ्यन्ते । किञ्च एतैरनाबिद्धमित्युक्ते भावपर्यन्तं तेषां स्थितिरप्यस्ति भक्त्यवाधकतयैव ।

जिसमें निष्ठा व निश्चलता उत्पन्न होती है, उसे 'निष्ठता-भजनक्रिया' कहते हैं। प्रतिदिन चेष्टा करने पर भी अनर्थों के रहते हुए लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति कषाय एवं रसास्वाद इन पांच प्रकार के विघ्नों की दुर्वारिता के कारण भक्ति में निश्चलता नहीं आ पाती। अनर्थ-निवृत्ति के बाद ये पांचों प्रकार के विघ्न प्रायः दूर हो जाने से भक्ति में निश्चलता आ जाती है। अतः लय-विक्षेपादि पांचों विघ्नों के अभाव को ही निष्ठा का चिह्न जानना चाहिए। कीर्तन-श्रवण एवं स्मरण के समय उत्तरोत्तर निद्रा का आना 'लय' कहलाता है। श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण के समय व्यावहारिक बातों का जो सम्पर्क है उसे 'विक्षेप' कहते हैं। लय और विक्षेप के न रहते हुए भी श्रवण-कीर्तन स्मरण में कभी कभी जो असमर्थता का होना है, उसे 'अप्रतिपत्ति' कहा जाता है। श्रवणादि के साधन-काल में क्रोध, लोभ एवं अभिमानादि का जो संस्कार है, उसे 'कषाय' कहा गया है और विषय-सुख उत्पन्न होने के समय श्रवण-कीर्तनादि में मन का जो न लगना है, उसे 'रसास्वाद' कहते हैं। 'नैष्ठिकी-भक्ति' के उत्पन्न होने पर रजोगुण, तमोगुण के भाव काम-लोभादि के द्वारा चित्त आवद्ध न होकर सत्त्वगुण में स्थिरता प्राप्त कर प्रसन्नता लाभ करता है। यहां मूल श्लोक में जो 'च'-कार है उसका समुच्चयार्थ करने से उस अवस्थामें भी रज-तम के भावों का अस्तित्व समझा जाता है। किन्तु 'इनके द्वारा चित्त अनाविद्ध या अछूता रहता है'—इस बात से यह सिद्ध होता है कि जब तक भाव-अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक रज-तमादि भक्ति के बाधक न होकर अपने अबाधक रूप से अवस्थान करते हो हैं।

विश्वोत्लासिनी-टीका—जिस भजनक्रिया में स्थिरता रहती है, उसे कहते हैं निष्ठता-भजनक्रिया। जब तक अनर्थ रहते हैं तब तक भजनक्रिया में स्थिरता नहीं आ पाती। उस अस्थिरता का कारण है, 'लय' 'विक्षेप' 'अप्रतिपत्ति' 'कषाय' एवं रसास्वाद। ये पांच प्रकार के विघ्न हैं जो अनर्थों के रहते हुए भजन में निश्चलता नहीं आने देते। अनर्थ-निवृत्ति के साथ साथ यह दुर्निवार पांचों विघ्न भी दूर हो जाते हैं और निष्ठता-भक्ति उदित हो उठती है। इस अवस्था में साधक का चित्त सत्त्वगुण में स्थित हो जाता है और प्रसन्नता प्राप्त करता है। फिर उसके चित्त को रज-तम के विकार काम-क्रोध लोभादि विचलित नहीं कर पाते। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि रज-तम के विकारों का अस्तित्व ही निष्ठता-भक्ति में मिट जाता हो, वे रहते हैं किन्तु वे चित्त पर अपना कोई भी प्रभाव नहीं डाल पाते। चित्त उनका विकारों से अलिप्त ही रहता है। इन विकारों का अस्तित्व अबाधक रूप में तब तक रहता है जब तक साधक भाव-अवस्था को प्राप्त नहीं करता। निष्ठा के बाद रुचि, रुचि के बाद आसक्ति और आसक्ति के बाद भाव की अवस्था प्राप्त होती है। इस भाव-अवस्था में, जिसे प्रेम की पूर्वली दशा भी कहा जाता है, रज-तम के समस्त विकारों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

सा च निष्ठा साक्षात् भक्तिवर्तिनी तदनुकूलवस्तुवर्तिनीति द्विविधा।

तत्र साक्षाद्भक्तिरनन्तप्रकारापि स्थूलतया त्रिविधा, कायिकी, वाचिकी, मानसी चेति। तत्र प्रथम कायिक्यास्ततो वाचिक्यास्तत एव मानस्या भक्तेर्निष्ठा संभवेदिति केचित्। भक्तेषु तारतम्येन स्थितानामपि सह ओजोवलानां मध्ये क्वचन भक्ते विलक्षणतादृशसंस्कारवशात् कस्यचिदेव भगवदुन्मुखत्वाधिक्यं स्यादिति नायं क्रम इत्यन्ये। तदनुकूलवस्तूनि अमानित्वमानदत्वमैत्रीदयादीनि। तेषां निष्ठा च कुत्रचन शमप्रकृतौ भक्ते भक्तेरनिष्ठितत्वे दृश्यते कुत्रचन तस्मिन्नुद्धते भक्ते निष्ठितत्वेऽपि न दृश्यते, यद्यपि तदपि भक्तिनिष्ठैव स्वसत्त्वासत्त्वाभ्यां तन्निष्ठासत्त्वासत्त्वे सुधियमवगमयति न तु बाल प्रतीतिरेव वास्तवीकतुं शक्येति। यदुक्तम्—'भक्तिर्भवति नैष्ठिकी' 'तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदतीति।' श्रवण कीर्तनादिषु यत्नस्य शैथिल्य-प्राबल्य एव दुस्त्यज्ये संभवन्ती निष्ठितानिष्ठिते भक्ति प्रदर्शयितामिति संक्षेपतो विवेकः ॥ २ ॥

वह निष्ठा भी दो प्रकार की है—साक्षात् भक्तिवर्तिनी और तदनुकूल वस्तुवर्तिनी। साक्षात् भक्ति अनेक प्रकार की होते हुए भी स्थूल रूप से कायिकी वाचिकी एवं मानसी तीन प्रकार की है। कोई कहते हैं पहले कायिकी, फिर वाचिकी और उसके बाद मानसी भक्ति में निष्ठा उत्पन्न होती है। भक्तों में ओज, बल की स्थिति के तारतम्यानुसार किसी भक्त में किसी विलक्षण संस्कार के कारण भगवदुन्मुखता अधिक देखी जाती है। इसलिये कईयों का कहना है कि इसमें कोई क्रम नहीं है। मानरहित होना, दूसरों को मान देना, मित्रता एवं दया—ये भक्ति के अनुकूल हैं। किसी किसी शम-प्रकृति भक्त में इन सब गुणों में निष्ठा दीखती है परन्तु भक्ति में निष्ठा का अभाव होता है यद्यपि कहीं कहीं किसी उद्धत-भक्त में भक्ति की निष्ठा होती है और इन सब गुणों में निष्ठा नहीं दीखती तथापि इन समस्त गुणों के रहते हुए भक्ति में निष्ठा की प्रतीति और इन सब गुणों के अभाव में भक्तिनिष्ठा के अभाव की प्रतीति केवल अबोध व्यक्तियों को ही नहीं होती, विज्ञानों को भी होती है। क्योंकि श्रीभागवत में कहा गया है—नैष्ठिकी-भक्ति के उदित होने पर चित्त रज-तम विकारादि तथा काम-लोभादि द्वारा अनाविद्ध होकर सत्त्व गुण में स्थिरता प्राप्त कर प्रसन्न होता है। अतः अनिष्ठता एवं निष्ठता-भक्ति उदित हुई है कि नहीं—इस बात को जानने के लिए श्रवण-कीर्तनादि में शिथिलता तथा प्रबलता को जानना अपरिहार्य है। भक्ति की निष्ठा के सम्बन्ध में संक्षेप से यही विचार-प्रणाली है।

विश्वोत्लासिनी-टीका—निष्ठा दो प्रकार की है, साक्षात् भक्तिवर्तिनी और तदनुकूल वस्तुवर्तिनी। साक्षात् भक्ति से श्रवण-कीर्तनादि नवविधा-भक्ति अभिप्रेत है। नवविधा-भक्ति के सब अङ्गों में अथवा किसी एक अङ्ग में जो निष्ठा है, वह "साक्षात्भक्तिवर्तिनी" है। दूसरी निष्ठा वह है जो भक्ति के अनुकूल गुणों या आचरणों में हुआ करती है। भक्ति के अनुकूल गुण या आचरण हैं मानरहित होना, दूसरों को सदा मान देना, सब के प्रति मित्रता—सौहार्द—

भाव का होना, समस्त जीवों में श्रीभगवान् को अधिष्ठित जान कर उनके प्रति दया होना इत्यादि ये अनेक ऐसे सदाचरण हैं जो भक्ति के अनुकूल हैं अर्थात् भक्ति के उदित होने पर भक्तों में ये समस्त अपने आप आ जाते हैं, इनका पृथक् कोई साधन या चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अथवा इनका आचरण करने वालों में महत्-कृपा से भक्ति के उदित हो आने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः साक्षात् भक्ति में न होकर इन भक्ति-अनुकूल गुणों में जो निष्ठा है—उसे भक्ति-अनुकूलवर्त्तिनी-निष्ठा” कहा गया है।

साक्षात् भक्ति अनेक प्रकार की है। स्थूल दृष्टि से वह शरीर से अनु-ष्ठित होने के कारण ‘कायिकी’ एवं वाणी द्वारा अनुष्ठित होने से ‘वाचिकी’ तथा मन द्वारा अनुष्ठित होने से ‘मानसी’—इन तीन भेदों में विभक्त है। पहले कायिकी भक्ति में निष्ठा उत्पन्न होती है या वाचिकी अथवा मानसी भक्ति में—इस विषय में कोई क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। क्योंकि किसी में शारीरिक बल अधिक होता है तो किसी में ओज अधिक। किसी का शरीर निर्बल होता है परन्तु मन अति सुदृढ़। अतः बल-ओज के तारतम्य अनुसार किसी में पहले कायिकी और किसी में पहले वाचिकी अथवा शुरु से ही मानसी-भक्ति में निष्ठा उदित हो उठती है। विलक्षण संस्कारों के कारण श्रीभगवान् की भक्ति में निष्ठा भी विभिन्न रूपों में दीखने में आती है। फिर भी कोई महानुभाव कायिकी, वाचिकी एवं फिर मानसी-भक्ति में निष्ठा उदित होने का क्रम मानते हैं।

भक्त्यनुकूलवर्त्तिनी निष्ठा इस प्रकार होती है कि शान्त प्रकृति के भक्तों में मानशून्यता, दूसरों को मान देना, मित्रता तथा दया—भक्ति के अनुकूल इन गुणों में तो निष्ठा होती है परन्तु साक्षात्-भक्ति में निष्ठा नहीं होती और कुछ भक्त ऐसे भी हैं जो स्वभाव से उद्धत होते हैं, उनमें न तो मानशून्यता होती है न वे दूसरों को मान देते हैं, न किसी से मित्रता रखते हैं और न ही किसी के प्रति उनमें दया दीखती है, परन्तु उनकी साक्षात्-भक्ति में निष्ठा होती है। साधारणतः जिसमें मानशून्यतादि गुण दीखते हैं उसे भक्ति-निष्ठ समझा जाता है और जिसमें ये गुण नहीं दीखते उसे भक्ति में निष्ठा-रहित समझ लिया जाता है। परन्तु यह एक भ्रम है। इस विषय में अनभिज्ञ व्यक्ति ही भूल नहीं खाते बल्कि अच्छे अच्छे विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है। अतः श्रीमद्भागवत के निष्ठिता एवं अनिष्ठिता-भक्ति के लक्षणों के अनुसार श्रवण-कीर्तनादि साक्षात् भक्ति में जिसकी प्रबल उत्कण्ठा है, उसमें निष्ठिताभक्ति समझनी चाहिये चाहे उसमें मानशून्यतादि गुण दीखते हों अथवा न दीखते हों और श्रवण-कीर्तनादि साक्षात्-भक्ति में जिसकी शिथिलता है, जो इनमें प्रबल उत्कण्ठा या रुचि नहीं रखता उसमें अनिष्ठिता भक्ति ही समझनी चाहिये यद्यपि उसमें मान-शून्यतादि गुण क्यों न विद्यमान हों। श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-अङ्गों में प्रबल-उत्कण्ठा अथवा शिथिलता ही भक्ति में निष्ठा अथवा अनिष्ठा की कसौटी है।

इति माधुर्यकादम्बिन्यां निष्यन्दबन्धुरानामचतुर्थ्यमृतवृष्टिः ॥४॥



❀ पञ्चम्यमृत-वृष्टिः ❀

अथाभ्यासकृष्णवर्त्मदीपितां भक्तिकाञ्चनमुद्रां स्वतेजसा वहन्तीं दधाने भक्तहृदि तस्यां रुचिरुत्पद्यते। श्रवण कीर्तनादीनामन्यतो विलक्षणेन रोचकत्वं रुचिः। यस्यामुत्पद्यमानायां पूर्वदशायामिव तैर्मुहुरप्यनुशीलितेन श्रमोपलब्धिगन्धोऽपि। या हि तेषु व्यसनित्वमचिरादेवोत्पादयति ॥१॥

निष्ठा के बाद अभ्यास रूप अग्नि द्वारा उत्तम भक्तिस्वर्णमुद्रा को धारण करने वाले भक्त के हृदय में उसके तेज से भक्ति में रुचि उत्पन्न होता है। श्रवण-कीर्तनादि का एक से दूसरे में विलक्षण भाव से जो रोचकत्व है, उसका नाम रुचि है। रुचि के उत्पन्न होने पर पहली अवस्था की तरह श्रवण-कीर्तन आदि में बार-बार अनुशीलन करने में भी लेशमात्र श्रम नहीं होता। यही रुचि श्रवण-कीर्तनादि को अति शीघ्र भक्ति का व्यसन बना देती है अर्थात् उनमें अत्यन्त आसक्ति उत्पन्न कर देती है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—प्रेम के विकाश-क्रम में निष्ठा के बाद रुचि का स्तर है। साक्षात्-भक्ति में निष्ठापूर्वक श्रवण-कीर्तनादि का निरन्तर अभ्यास करने से भक्तिरूपी स्वर्णमुद्रा मानो तपे सोने की तरह अतिशय तेजयुक्त हो उठती है—चमक उठती है। स्वर्णमणि धारण करने वाले का वक्षस्थल जैसे कान्तियुक्त हो सुशोभित होने लगता है, उसी प्रकार जो इस भक्तिमुद्रा को धारण करता है, उस भक्त का हृदय भक्तिमुद्रा की कान्ति से प्रकाशित हो उठता है। उसके फल-स्वरूप श्रवण से अधिक कीर्तन में और कीर्तन से अधिक स्मरण में—इस तरह एक अङ्ग से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, इत्यादि सब में विलक्षण भावों से रोचकत्व-प्रियता उत्पन्न होने लगती है, इसी का नाम है रुचि। श्रद्धा, साधुमङ्गल, भजनक्रिया अनर्थनिवृत्ति तथा निष्ठा—इन सब अवस्थाओं में श्रवण-कीर्तनादि का अनुष्ठान आरम्भ से लेकर अन्त तक रहता ही है। रुचि अवस्था में भी श्रवण-कीर्तनादि में लेश मात्र श्रम या अरुचि नहीं होती, भक्त जितना भी इनका सेवन करता है उतना ही उत्साह एवं उसकी आसक्ति इन भक्ति-अङ्गों में बढ़ती ही बढ़ती चली जाती है। यहां तक कि श्रवण-कीर्तनादि का भक्त को व्यसन लग जाता है। जैसे भांग-अफीम खाने वाला व्यसनी व्यक्ति उन को खाये बिना रह ही नहीं सकता, उसी प्रकार रुचि के स्तर पर भक्त इनके बिना रह ही नहीं सकता। उसकी इनमें परमासक्ति हो जाती है।

यथा नित्यं शास्त्रमधीयानस्य बटोः काले शास्त्रार्थ प्रवेशे सति शास्त्रस्य रोचकत्वमुत्पद्यमानमेव तं तत्र श्रमं नोपनयत्यासञ्जयति च। वस्तुतः सिद्धान्ते तु

पैत्तिकवैगुण्येन दूषितायां रसनायां सिताया अरोचकत्वेऽपि सितैव तद्वैगुण्यनिरास-
कमौषधमिति विवेकिनः तस्या एव यथा मुहुरूपसेवने कालेन स्वाद्वीयं स्वाद्वीयमा-
भातीति तस्या एव रोचकत्वं तथैवाऽविद्यादिविदूषितस्य जीवान्तःकरणस्य श्रवणादि
भक्त्या तद्दोषप्रशमे तस्यां रुचिरुद्भवतीति ॥२॥

जैसे नित्यप्रति शास्त्र के अध्ययन करने वाले ब्राह्मण-बालक का काल-
क्रम से शास्त्र के अर्थों में प्रवेश हो जाता है और उसकी शास्त्र में रुचि उत्पन्न
होकर शास्त्रानुशीलन में उसे फिर कोई परिश्रम नहीं होता। वास्तविक सिद्धान्त
पक्ष में जैसे पित्तदोष से दूषित रसना को मिश्री अरुचिकर होती है, किन्तु वही
मिश्री ही पित्तदोष की नाशक औषधि है—विचारवान् व्यक्तियों के इस मतानु-
सार जब बार-बार उस मिश्री का सेवन किया जाता है, तो वही कालक्रम से
मीठी अनुभव होने लगती है और उसमें जैसे रुचि उत्पन्न हो आती है, उसीप्रकार
अविद्यादि के कारण दूषित जीव का अन्तःकरण श्रवणादि भक्ति का बार-बार
अनुशीलन करने पर उस अविद्यादि दोष से रहित हो जाता है और श्रवणादि-
भक्ति में उसकी रुचि उत्पन्न हो आती है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—किसी शास्त्र का पहले पहले अध्ययन करने में
विद्यार्थी को अनेक परिश्रम करना पड़ता है और उसे वह अध्ययन अरुचिकर भी
होता है, परन्तु जब शास्त्र के अभिप्राय को विद्यार्थी समझने लग जाता है तो
उसे फिर एक सुखद आस्वादन मिलता है जो अति रुचिकर होता है और बिना
परिश्रम विद्यार्थी उसका अध्ययन करता रहता है। इसी प्रकार पहले-पहले जैसे
पित्तरोग के रोगी को मिश्री कड़वी लगती है—अच्छी नहीं लगती, परन्तु मिश्री
को ही बार-बार सेवन करने से पित्त रोग नाश हो जाता है और उसे मिश्री मीठी
और रुचिकर हो जाती है। उसी तरह जीव का अन्तःकरण अनादि काल से
अविद्या-अहं-मम् भावयुक्त या भगवद्बहिर्मुख हो रहा है। भवरोग में ग्रस्त है।
अतः उसे श्रवण-कीर्तनादि जो भवरोग तथा अविद्या को निर्मूल करने की एकमात्र
औषधि है, अच्छे नहीं लगते, परन्तु विवेकशील महत्पुरुषों के आदेशानुसार जब
इनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, तब इनमें एक अनिर्वचनीय
आस्वादन प्राप्त होता है और रुचिकर भी हो उठते हैं।

सा च रुचिद्विविधा, वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी तदनपेक्षिणी च। वस्तुनां
भगवन्नामरूपगुणलीलादीनां वैशिष्ट्यं कीर्तनस्य स्वोस्वर्यादिमत्त्वं वर्णितभगवच्चरि-
तादेर्गुणालङ्कारध्वन्यादिमत्त्वं परिचर्यादीनां तादृशस्वाभीष्ट देशपात्रद्रव्यादि सद्-
भाववत्त्वं यदपेक्षते तद् वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी। किं किं कीदृशं व्यञ्जनमस्ति इति
पृच्छतां मन्दक्षुब्धतामिव। प्रथमा सेयं यतोऽन्तःकरणस्य यत्किञ्चिद् दोषलव एव
कीर्तनादीनां वैशिष्ट्यमपेक्षते अतोऽन्तःकरणदोषाभासा ज्ञेया। द्वितीया तु यथा
तन्नामरूपाद्युपक्रम एव बलवती भवन्ती वैशिष्ट्ये त्वतिप्रौढत्वमापद्यमानेयं नास्ति-
मनो वैगुण्यगन्धा एव ज्ञेया ॥३॥

वह रुचि दो प्रकार की है, वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी और वस्तुवैशिष्ट्यान-
पेक्षिणी। पहली रुचि वस्तु अर्थात् श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण लीलादि के

वैशिष्ट्य, जैसे कीर्तन में सुस्वरादि की, वर्णित भगवत्-चरित्रों में यथोपयुक्त
गुण, अलंकार, ध्वनि आदि की तथा परिचर्या में यथोपयुक्त अपने अभीष्ट के
अनुसार देश-काल-पात्र एवं द्रव्यादि की शुद्धि की अपेक्षा रखती है। अतः इस को
‘वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी’ कहा जाता है। ‘क्या-क्या कैसा भोजन बना है’—यह
पूछना जैसे मन्दक्षुब्धता का लक्षण है। अन्तःकरण में यत्किञ्चित् दोष के लेशमात्र
रहने पर भी कीर्तनादि में उपर्युक्त वैशिष्ट्य की अपेक्षा रहती है। इसलिये ऐसी
रुचि को अन्तःकरण के दोषों का आभासरूप समझना चाहिए। दूसरी रुचि
श्रीभगवान् के नाम-रूपादि के उपक्रम में ही बलवती होती है। वस्तुवैशिष्ट्य में
वह अत्यन्त प्रौढ़ा एवं उल्लासमयी हुआ करती है। उसमें अन्तःकरण के विकारों
से उत्पन्न होने वाले दोषों की गन्धमात्र भी नहीं रहती—ऐसा जानना चाहिए।

विश्वोल्लासिनी-टीका—रुचि दो प्रकार की है—“वस्तुवैशिष्ट्या-
पेक्षिणी” तथा “वस्तुवैशिष्ट्यानपेक्षिणी”। जो रुचि वस्तु के वैशिष्ट्य की अपेक्षा
रखती है, उसे वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी कहा जाता है। यहां वस्तु से श्रीभगवान् ही
अभिप्रेत हैं। श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला के कीर्तन में सुन्दर स्वर, ताल-
लय की जहां अपेक्षा रहती है, भगवत्-कथा के वर्णन में जहां अलङ्कार युक्त मधुर
वर्णना की अपेक्षा रहती है अथवा श्रीभगवान् की पूजा-सेवा करने में जहां
अपने मनवाञ्छित पवित्र स्थान, उपयुक्त समय, पूजा आदि के उपकरण की
अपेक्षा रहती है, वह वस्तुवैशिष्ट्यापेक्षिणी रुचि है। ऐसे अनेक भक्त हैं, यदि नाम-
सङ्कीर्तन में स्वर-ताल-लय साज ठीक न हो तो उन्हें नाम सङ्कीर्तन में रुचि नहीं
होती, अथवा कथा वाचक अलङ्कारिक एवं साहित्यिक या चटपटी भाषा बोलने
वाला न हो तो उन्हें कथा मजा नहीं देती और भगवत् पूजा के लिये भी स्थान-
समय-उपकरणादि उनके मन-पसन्द यदि न हों तो उनकी पूजा में रुचि नहीं होती
जैसे जो व्यक्ति भोजन करने से पहले यह पूछता है कि क्या साग-सब्जी है,
क्या बनाया है? कैसी बनी है, तो समझा जा सकता है कि उसे
तेज भूख नहीं है, क्योंकि जिसे तीव्र भूख होती है वह यह सब बातें नहीं पूछा
करता, जो बना है, जैसा बना है भोजन एवं तृप्ति का लक्ष्य कर वह उसे स्वीकार
करता है, उसी प्रकार जिनकी भक्तिअङ्गों में तीव्र रुचि है, वह स्वर-ताल, भाव
आदि की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते। जो अपेक्षा रखते हैं, उनके अन्तः-
करण पूरे शुद्ध नहीं हैं—अभी वहां दोषों का आभास विद्यमान है, ऐसा समझना
चाहिए।

जो “वस्तुवैशिष्ट्यानपेक्षिणी” रुचि है, उसमें उपर्युक्त बातों में किसी
की भी अपेक्षा नहीं रहती और आरम्भ काल से ही वह दृढ़ तीव्र एवं उत्साहमयी
होती है। श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला, कथा एवं पूजन की विशेषता में ही
वह अटल विश्वासमयी होती है, उनके साथ और किसी सहायक, मनपसन्द
वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रहती। इस अनपेक्षिणी रुचि वाले भक्त का अन्तःकरण
शुद्ध होता है और उसमें दोषों की गन्धमात्र भी नहीं होती।

ततश्चाहो सखे ! कृष्णनामामृतानि विहाय किमिति दुष्परिग्रहयोगक्षेम-
वार्तादिविषयेषु निमज्जसि, त्वां वा किं ब्रवीमि धिङ्मां यदहमपि पामरः श्रीगुरु-
चरणप्रसादलब्धमप्येतद्वस्तु स्वग्रन्थनिबद्धमहारत्नमिवाऽनुपलभ्य परितो भ्रमन्ने-
तावन्तं कालं अन्यव्यापारपारावारमध्ये मिथ्यासुखलेशस्फुटितकर्पकमात्रमन्वि-
ध्यायूँसि वृथैवाऽनयम् । भक्तेः कमप्यङ्गमनङ्गीकुर्वन् शक्तेरभावमेवाऽद्योतयम् ।
हन्त स एवाहं सैवेयं मे रसना या ह्यनृतकटुग्राम्यप्रलापममृतमिव लिह्यती भगवन्ना-
मगुणवार्तासु सालसैवासीत् । हन्त हन्त तत्कथाश्रवणारम्भएव स्वापं भजन्तदेव
कदाचित् प्रस्तुतायां ग्राम्यवार्तायामुत्कर्णतया लब्धजागरः साधूनां सदैव तत्
सकलमकलङ्कयम् । अस्य च दुष्पूरस्य जठरस्य कृते जरठोऽपि काँस्कान् दुष्कृतोद्य-
मान्नाकरवम् । तदहं न जाने कस्मिन् वा निरये स्वकृतफलमुपभुञ्जानःस्थास्यामीति
निर्विद्यमानस्तदैव क्वचिदहो रहोभुवि महोपनिषत्कल्पवल्लीफलसारं सारंग इव
प्रभोश्चरितामृतं स्वादयन्नभिवादयन् मुहुर्मुहुरपि साधूनव्याधूतसंलापस्तिष्ठन्नुप-
विशन् प्रविशन्नपि भगवद्वावद्वामलसेवानिष्ठस्तन्मना उन्मना इवाऽनभिज्ञलोकैरा-
लक्ष्यमाणो भक्तजनभजनानन्दनृत्याध्यायमध्येतुमुपक्रममाण इव रुचिनर्तक्या
पाणिभ्यां गृहीत्वेव तत्तं शिक्ष्यमाण इव कांचन मुदमननुभूतचरीमुपलभतेन जाने
कुशीलवाचार्याभ्यां भावप्रेमभ्यां कालेन प्रविश्य नर्तयिष्यमाणःकस्यां वा निर्वृति-
नीवृति विराजयिष्यतीति ॥४॥

अहो सखे! श्रीकृष्णनामामृत को त्याग कर किस लिए तू दुष्परिग्रह की
योग-क्षेमरूपी विषयवार्ता में निमग्न हो रहा है? मैं तुम से ही क्या कहूँ? मुझे ही
धिकार है, क्योंकि, मुझ पापाचारी ने श्रीगुरुचरणों की कृपा से भगवद्भक्ति को
इस प्रकार प्राप्त किया जैसे अपने वस्त्र की गाँठ में महारत्न बँधा हुआ हो, परन्तु
उसका मर्म न समझ कर झूठे सुखलेश को, जो एक कानी कौड़ी के समान है,
इधर उधर चारों तरफ ढूँढ़ता हुआ घूमता रहा हूँ और अन्य व्यापार-कलाप में
वृथा ही आयु नष्ट कर दी है। भक्ति के किसी भी अङ्ग को अङ्गीकार न कर
शक्ति के अभाव का ही परिचय देता रहा हूँ। हाय ! हाय ! मैं भी ऐसा और
मेरी रसना भी ऐसी, जो मिथ्या कटु-ग्राम्यवार्ताओं को अमृत की तरह अब तक
चाटती रही है और श्रीभगवान् के नाम-गुण-कथन में आलसी की तरह अवस्थान
करती रही है। हाय ! हाय !! श्रीभगवत्कथा सुनने के आरम्भ में ही मुझे नींद
आने लगती है और यदि उसी समय कोई ग्राम्य-वार्ता आरम्भ हो जाए तो उसी
समय नींद खुल जाती है और कान ऊँचे उठाकर अवस्थान करते हुए मैं ने अनेक
वार साधु-समाज को कलङ्कित किया है। कभी न भरने वाले इस उदर की पूर्ति
के लिये मैं दुराचारी ने बूढ़े होकर भी ऐसा कौनसा दुष्कर्म है जिसे करने के लिए
बल न किया हो ? न जाने, मुझे इन दुष्कर्मों के फल को भोगने के लिये किस नरक
में कितने समय तक वास करना पड़ेगा ?—भक्त इस प्रकार निर्वेद अवस्था में
ग्रस्त होकर किसी दिन इस पृथ्वी तल पर महोपनिषद्-कल्पलता के फल के सार-
भूत श्रीभगवान् के चरितामृत को सारङ्ग की तरह बार-बार आस्वादन एवं अभि-
वादन करता हुआ अन्यवार्ताओं का परित्याग कर देता है और साधु-समाज में

बैठते-निवास करते हुए भगवद्धाम में प्रवेश करता है। वहाँ निर्मल भगवत्सेवा-
निष्ठ होकर सेवा में मन लगाकर अनभिज्ञ लोगों में वह अनमना या उन्मत्त सा
दीखता है। भक्तजनों के भजनानन्दरूप नृत्य के अध्याय का अध्ययन करने के
लिए रुचि रूपा नर्तकी उसके दोनों हाथों को पकड़ कर उसे शिक्षा देने लगती है,
जिससे अननुभूतपूर्व परमानन्द का वह अनुभव किया करता है। समय समय
पर जब भाव और प्रेमरूप नटाचार्य उसको नचाने लगते हैं, तब वह किस अवस्था
को प्राप्त होकर कैसे आनन्द का लाभ करता है ? उसकी सीमा का क्या कोई
वर्णन कर सकता है ?

विश्वोल्लासिनी-टीका—श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने वस्तुवैशिष्ट्यानपेक्षिणी रुचि
की उत्पत्ति से लेकर उसकी अन्तिम अवस्था का यहाँ परिचय प्रदान किया है।
इसप्रकार की रुचि उत्पन्न होने से पहले भक्त अपनी पहली दयनीय भगवद्बहि-
र्मुख अवस्था पर पश्चात्ताप करता है और अपने को सन्तति-सम्पत्ति कलत्रादि
संसार में संलग्न जान कर बार-बार धिक्कार करता है। श्रीगुरुदेव की शरणा-
गति लेने पर वे जो इसे बहुमूल्य भक्तिमणि प्रदान करते हैं, उसका अनुष्ठान-
अनुशीलन न कर कानी कौड़ी के समान अति तुच्छ सांसारिक सुख को पाने के
लिए अपने को भटका हुआ जानकर इस बात का अनुभव करता है कि हाय !
मेरा मानव-जन्म बेकार जा रहा है और मेरी आयु वृथा बीती जा रही है।
श्रीभगवान् के नाम-गुण कथा में असावधानी एवं ग्राम्यवार्ता में अपनी रुचि देख-
कर उसे अपने दुष्कृत्यों से महान् घृणा हो उठती है। उदर-पूर्ति एवं विषय भोगों
से ऊब उठता है ऐसी निर्वेद अवस्था को जब भक्त प्राप्त करता है तब उसे सत्पुरुषों
के संग एवं उनके श्रीमुख से श्रीभगवान् की चरितकथा के आस्वादन की
लालसा जागृत होती है और वह उनके निकट जाकर भगवत्कथामृत का पान
करता है। जिससे इसकी भगवत्-भजन एवं भगवत्-सेवा में निष्ठा उत्पन्न हो
आती है। चाहे वह संसार की असारता का अनुभव न करने वाले भगवद्बहिर्मुख
लोगों की दृष्टि में पागल सा लगता है, परन्तु उसकी भक्ति अङ्गों में पूर्ण एवं
अनपेक्षिणी रुचि जाग उठती है, जो मानो एक नर्तकी की तरह इसके हाथ पकड़
कर इसे नचाने लगती है। एक अनिर्वचनीय अननुभूतपूर्व आनन्द में वह नाच
उठता है। उस अवस्था में ही भक्त में भाव और फिर कभी प्रेम का उदय हो
उठता है। प्रेम की आनन्ददशा का फिर क्या कहना और उसका क्या आर-पार।
प्रेम समुद्र में भगवत्-सेवा की नित्य-नूतन उत्ताल तरंगों में वह भक्त किस और
कैसे आनन्द का अनुभव करता है, वह तो गूँगे का गुड़-स्वाद है, अकथनीय है,
केवल अनुभववेद्य है।

इति श्रीमाधुर्यकादम्बिन्यां उपलब्धास्वादा नाम पंचम्यमृत वृष्टिः ॥५॥

❀ षष्ठ्यमृतवृष्टिः ❀

अथ संव भजनविषया रुचिः परमप्रौढतमा सती यदा भजनीयं भगवन्तं विषयीकरोति तदेवमासक्तिरित्याख्यायते । यैव भक्तिकल्पवल्याः स्तवकीभावमासादयन्ती भावप्रेमणी पुष्पफले अचिरादेव भाविनी द्योतयती । रुचिर्भजनविषया आसक्तिर्भजनीयविषयेति भूम्नैव व्यपदेशः । वस्तुतस्तु उभे अप्युभयविषयीकृतः अप्रौढत्वप्रौढत्वाभ्यामेव भेदः । आसक्तिरेवाऽन्तःकरणमुकुरं तथा मार्जयति यथा तत्र सहसा प्रतिबिम्बितो भगवानलोक्यमान इव भवति । हन्त विषयैराक्रम्यते मदीयं चेतस्तदिदं भगवति निदधामोति भक्तस्य विधित्सानन्तरमेव प्रायोविषयेभ्यो निष्क्रम्य तद्रूपगुणादौ यत् प्रवेशशील पूर्वदशायामासीत् तदेव चित्तमासक्तौ जातायां विधित्सातः पूर्वमेव स्वयमेव तथा भूतं भवेत् । यथा भगवद्रूप गुणादिभ्यो निष्क्रम्य वार्तान्तरे चेतः कदा प्रविष्टमिति प्राप्तनिष्ठेनापि भक्तेन नानुसन्धानुं शक्यते तथैव वार्तान्तरतो निष्क्रम्य भगवद्रूपगुणादिषु कदा प्रविष्टं स्वचेत इत्यासक्तिरनासक्तेन न लक्ष्यते । आसक्तिमता भक्तेन तु तल्लक्ष्यते ॥१॥

तदनन्तर पूर्वोक्त भजन-विषया रुचि परम प्रौढतम होकर जब भजनीय श्रीभगवान् के विषय में परिणत हो जाती है, तब उसको 'आसक्ति' कहा जाता है । यही आसक्ति भक्ति-कल्पलता के स्तवक-भाव को प्राप्त कर अतिशीघ्र भावरूप पुष्प तथा प्रेमरूप फल के उत्पन्न होने की सूचना देती है । रुचि भजन-विषया और आसक्ति भजनीय-विषया होती है, इस लक्षण से रुचि एवं आसक्ति अपने अपने विषय की प्रधानता को जताती हैं । वस्तुतः दोनों ही एक दूसरे को विषय करती हैं । इनमें अप्रौढत्व तथा प्रौढत्व का ही भेद है । आसक्ति भक्त के अन्तःकरण रूप दर्पण को ऐसे रूप में मार्जित कर देती है कि उस में सहसा प्रतिबिम्बित होने वाले श्रीभगवान् दीखते हुए से प्रतीत होते हैं । "हाय ! मेरा चित्त विषयों द्वारा आक्रान्त हो रहा है, मैं इसे श्रीभगवान् में नियुक्त करूँ"—भक्त की इस प्रकार की चेष्टा करने पर उसका चित्त विषयों से प्रायः निकल कर पूर्वदशा में अर्थात् रुचि उत्पन्न होने पर भी श्रीभगवान् के रूप एवं गुणादि में प्रवेश करता है । आसक्ति उत्पन्न होने पर किसी चेष्टा करने से पहले ही चित्त अपने आप ही उस अवस्था को प्राप्त करता है । भगवद्रूप-गुणादि के चिन्तन से निकल कर चित्त कैसे और कब दूसरी वार्ता में प्रविष्ट हो गया—प्राप्तनिष्ठ-भक्त जैसे यह बात नहीं जान पाता, उसी तरह कब और कैसे उसका चित्त दूसरी वार्ता से निकल कर अपने आप भगवद्रूप-गुण चिन्तन में लग गया—इस आसक्ति को अनासक्त-भक्त नहीं जान पाता । इस आसक्ति को आसक्त-भक्त ही लक्ष्य कर सकता है ।

विश्वोल्लासिनी-टीका—ऊपर कहा जा चुका है, रुचि-प्रगाढ़ अत्यन्त वृद्धिशील होकर भाव एवं प्रेम की प्राप्ति कराती है, किन्तु भाव एवं प्रेम के आविर्भाव होने से पहले आसक्ति का स्तर है जैसा कि प्रेम के विकाश-क्रम में वर्णन

किया जा चुका है । अतः अब ग्रन्थकार आसक्तिके विषयमें विवेचना करते हैं—भजन-विषयक रुचि जब प्रगाढ़तम हो उठती है तब वह भजन की बजाय भजनीय-तत्त्व श्रीभगवान् में आसक्ति के रूप में बदल जाती है । जैसे किसी लता में जब फल लगने वाला होता है तो पहले उसमें स्तवक (गुच्छे) प्रस्फुटित होते हैं फिर पुष्प रूप में प्रस्फुटित हो उठते हैं और फिर वही पुष्प ही फल रूपमें परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार यह आसक्ति-अवस्था स्तवक या गुच्छा स्थानीय है, यही परिपक्व होकर भावरूप पुष्प में और फिर भावरूप पुष्प प्रेमरूप फल में परिणत हो जाता है । रुचि भजन-विषय में होती है और आसक्ति श्रीभगवान् में, अर्थात् रुचि का प्रधान विषय भजन है और आसक्ति का प्रधान विषय श्रीभगवान् । रुचि और आसक्ति का ऐसा लक्षण कहा जाता है । वास्तव में ये दोनों एक दूसरे को विषय करती हैं—पृष्ठ करती हैं । रुचि अप्रौढ़ अवस्था का नाम है और आसक्ति प्रौढ़ अवस्था का । आसक्ति में भक्त का चित्त रूपी दर्पण ऐसा निर्मल एवं उज्ज्वल हो उठता है कि हृदय में अवस्थान करने वाले श्रीभगवान् उसमें सहज ही प्रतिबिम्बित होने लगते हैं ।

निष्ठा अवस्था में भक्त अपने मन को विषयों द्वारा घिरा हुआ जानता है और उसे श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुणों के स्मरण-चिन्तन में लगाने की चेष्टा करता है । रुचि अवस्था में उसका भजन व्यसन रूप धारण कर स्मरण-चिन्तन ध्यान करते-करते भी उसका मन विषय-चिन्तनमें अथवा कहींका कहीं भागने लगता है, यहां तक कि भक्त यह नहीं जान पाता कि कब उसका मन भगवत्-ध्यान-स्मरण-चिन्तन से हट गया । कुछ देर बाद जब उसे अपने मन पर ध्यान जाता है तो वह फिर चेष्टा करता है और मन को श्रीभगवान् की ओर लगाता है । परन्तु आसक्ति के उत्पन्न होने पर भक्त को मन को बार-बार श्रीभगवत्-चिन्तन-स्मरण में लगाने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती, बल्कि उस का मन अपने आप ही उसमें जुड़ा रहता है । वह यह नहीं जानता कि कब उसका मन विषय-चिन्तन से हटा और कब भगवद्-चिन्तन में लगा । उसका भगवत्-चिन्तन स्वाभाविक रूप से चलता रहता है । इस अवस्था को जो आसक्ति-रहित साधक है, कभी भी अनुभव नहीं कर सकता ।

ततश्च प्रातः कुतस्त्योऽपि भो भोः कण्ठलम्बितश्रीशालिग्रामशिलासुन्दर-सम्पुटो लघुलघूच्चरित श्रीकृष्णनामामृतस्वादप्रतिक्षणलोलितरसनः प्रेक्ष्यमाण एव दुर्भगं मामुल्लासयसि कस्मिंश्चिदर्थे । तत् कथय कुत्र कुत्र वा तीर्थे भ्रमन् केषां दृष्ट्या केषां वा भगवदनुभवानामास्पदीभवन् आत्मानमन्यं चाऽकृतार्थयः । इत्युद्भावितसंलापामृतपानयापितकतिपयक्षणः पुनरन्यतो गत्वा भोः कक्षनिक्षिप्तमनोहरपुस्तकविलक्षणया श्रिया विद्वानेवाऽनुमीयसे तद्व्याचक्ष्व दशमस्कन्धीयं पद्यमेकं जीवय श्रुतिचातकीं तदर्थामृतवृष्ट्या इति तद् व्याख्यया रोमाञ्चितगात्रः पुनरन्यतो गत्वा हन्ताऽधुनेवाहं कृतार्थो भविष्यामि यदियं सभैव सद्य एव नम समस्तदुःकृतध्वंसिनीति विरचितदण्डवदवनिप्रणिपातपुरःसरप्रणतिविनतिकः तत्सभामुकुट-

मणिना महाभागवतवर्णेण परमविदुषा सरसमाद्रियमाणः संकुचिततनुस्तदन्तिककृ-
तोपवेश एव भोः ! त्रिभुवनजीवभवनमहाभवरोगभिषक् शिरोमणे ! धृत्वं धमनी-
मधमस्यापि मे महादीनस्य निरूपय रुजं समादिशस्व पथ्यौषधे केनापि प्रयुक्तेन
महारसायनेन मदभीप्सितां पुष्टिमपि सम्पादय इति सास्त्रं याचमानस्तत्कृपावलोक-
मधुरवाङ्मयामृतनिस्यन्दनन्दितस्तच्चरणपरिचरणनीतपंचषड्वासरः सरसमटन्नपि
कदाचिदटवीं यदि मयि वर्तते कृष्णस्य कृपावलोकस्तदायं दूरतः पुरोऽवलोक्यमानः-
कृष्णसारस्त्रिचतुराणि पदानि मदभिमुखमायातु न चेन्मां पृष्ठीकरोत्विति न संनि-
कोरपि मृगपशुपक्षिचेष्टास्तदनुग्रहनिग्रहलिङ्गतयैव जानन्, ग्रामोपशत्येऽपि खेलतो
विप्रबालकान् सनकादीनिव किमहंब्रजेन्द्रकुमारं प्राप्स्यामि इति पृष्ट्वा तद्दत्तमुत्तरं
मेति मुग्धाक्षरं दुर्वोधार्थतया सुबोधार्थतया वा परामृष्य स्वगृह मध्यमध्यस्यापि
महाधनगृध्नुकृपणवणिगिव ववाहं यामि किं करोमि केन व्यापारेण मे तदभीष्ट-
वस्तुजातंहस्तगतं स्यादिति परिम्लानवदनाश्चिन्तयन् स्वपन् उत्तिष्ठन् उपविशन्
परिजनैः कारणं पृच्छचमानोपि कदाचिन्मूक इव कदाचिदवहित्थामालम्बमानः
साम्प्रतमभूदयं छन्नबुद्धिरिति बन्धुभिः, स्वभावत एवाऽयं जड इति प्रतिवेशिभिरज्ञैः,
मूर्ख इति मीमांसकैः, भ्रान्त इति वेदान्तिभिः, भ्रष्ट इति कर्मिभिः, अहो महासारं
वस्तु समधिगतं इति भक्तैः, दाम्भिक इति तत्रापराधिभिः, परामृष्यमाणो मानाप-
मानविचारविधुरो भगवदासक्ति स्वध्वुनीप्रवाहपतित एव चेष्टते भक्त इति ॥२॥

[आसक्ति-युक्त भक्त के आचरण का वर्णन करते हुए कहते हैं—] एक
आसक्त-भक्त प्रातःकाल किसी साधु का दर्शन पाकर उनसे कहने लगा—“आप
कहां से पधारे हैं ? आप के गले में श्रीशालग्राम-शिला का सम्पुट लटक रहा है ।
आप धीरे-धीरे श्रीकृष्णनाम उच्चारण कर नामामृत आस्वादन करते हुए अपनी
रसना को थोड़ा थोड़ा हिला रहे हैं । आप मुझ जैसे दुर्भाग्य व्यक्ति को दर्शन
देकर न जाने क्यों आनन्दित कर रहे हैं ? आपने कौन कौन से तीर्थों में भ्रमण
किया है और वहां किस किस महात्मा के दर्शन किए हैं ? और आपने किस किस
श्रेष्ठ भक्तों के अनुभवों को प्राप्त किया है ? आप अपने आप को और दूसरों को
भी कृतार्थ कर रहे हैं ।” — इस प्रकार सुन्दर वार्तालाप में कुछ समय बिताकर
फिर वह दूसरे स्थान पर जाकर किसी श्रीमद्भागवत-पाठ करने वाले को देख कर
कहने लगा—आपकी बगल में मनोहर पुस्तक की सुन्दर विलक्षण शोभा दर्शन
कर आपको मैं श्रीभागवत-पुराणादि-वेत्ता जान रहा हूँ । अतएव आप अनुग्रह कर
दशम स्कन्ध का एक श्लोक कह कर उसकी व्याख्यारूप अमृतवृष्टि से मेरे श्रवणरूप
चातकों को जीवन दान कीजिए ।”— इस प्रकार उनसे भागवत श्लोक की व्याख्या
सुन रोमाञ्चित-गात होकर फिर अन्य स्थान पर जाता है । वहां साधुसमाज में
उपस्थित होकर कहता है—“आहा ! अब मैं कृतार्थ हो जाऊंगा क्योंकि ये सब
मेरे समस्त पापों को नाश कर देंगे ।” ऐसा कहकर उसने वहां पृथ्वी पर दण्डवत्
प्रणाम की । उस सभा के सर्वश्रेष्ठ परम भक्त द्वारा प्रीतिपूर्वक आदर प्राप्त कर

अति संकुचित होकर उनके पास बैठ गया और बोला—“हे त्रिभुवन के समस्त
जीवों के महाभव-रोग को विनाश करने वाले वैद्यशिरोमणि ! आप मुझ महादीन
अधम की नाड़ी-परीक्षा कीजिए और रोग का निरूपण कर ऐसी महारसायन
औषध एवं पथ्य का आदेश कीजिए, जिसमें मेरे अभीष्ट की पुष्टि हो ।” इसप्रकार
नेत्रों में अश्रु भरकर उन से कृपाभिक्षा कर उनकी कृपा-दृष्टि और उपदेशामृत
ग्रहणकर आनन्दित हो उठा । पांच छः दिन उनकी चरण-सेवा में उसने गुजारे ।
कभी कभी प्रेमाविष्ट होकर वन-वन में भ्रमण करते हुए कहने लगा—“यदि मेरे
ऊपर श्रीकृष्ण की कृपादृष्टि है, तो वह कृष्णसार मृग जो दूर से मुझे देख रहा है,
मेरी तरफ तीन चार कदम चला आवे, नहीं तो मुझे पीठ देकर चला जावे ।” इस
प्रकार मृग-पशु-पक्षियों की स्वाभाविक चेष्टाओं को भी श्रीभगवान् के अनुग्रह तथा
निग्रह का लक्षण जानने लगा । एक ग्राम-प्रान्त में अस्फुट बोलने वाले ब्राह्मण-
बालकों को खेलते हुए देखकर उनको सनकादिक ऋषियों की तरह जानकर “क्या
मैं ब्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त करूंगा ?— इस प्रकार उन से पूछने लगा । उनके अस्पष्ट
उत्तर को कभी तो दुर्बोध और कभी सुबोध जानने लगा । कभी घर में बैठ कर
महाधनी किन्तु कृपण वनिक की तरह ‘मैं कहां जाऊँ ? क्या करूँ, कैसे अपनी उस
अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करूँ ? यह सोचता हुआ व्याकुल होकर कभी उदास मुख
हो चिन्ता करने लगता है । कभी सोता ही रहता है, कभी खड़ा और कभी बैठा
ही रहता है । यदि आत्मीयजन इन सब बातों का कारण पूछते हैं तो गूंगे की
तरह बैठा रहता है । कभी लज्जा अवलम्बन करता है । उसके बन्धु-बान्धवजन
यह कहने लगते हैं कि इसकी बुद्धि ठीक नहीं है । पड़ोसी कहते हैं, ‘यह तो स्वभाव
से ही जड़ है ।’ मीमांसकगण कहते हैं—‘यह मूर्ख है ।’ वेदान्तिकगण कहते हैं—
‘यह भ्रान्त है’, कर्मिगण कहते हैं—‘यह भ्रष्ट हो गया है’, भक्तगण कहते हैं—
‘इसने महा सारवस्तु को प्राप्त कर लिया है ।’ भक्तापराधी-लोग कहते हैं—‘यह
दाम्भिक है ।’ किन्तु वह भक्तप्रवर लौकिक मानापमान के विचार-रहित होकर
भगवदासक्तिरूप स्वर्ग मन्दाकिनी प्रवाह में पड़ा हुआ उवतरूप से विविध चेष्टाएं
करता रहता है ।

विश्वोत्लासिनी-टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद में श्रीचक्रवर्तिपाद ने उस
भक्त के आचरण तथा अवस्था का एक उदाहरण देते हुए वर्णन किया है, जिसको
श्रीकृष्ण में आसक्ति उदित हो चुकी है । ऐसा भक्त जब किसी अपरिचित नाम-
ग्रहणकारी-साधु का दर्शन करता है, वह अपने सौभाग्य समझता है और उससे
भी भक्तगाथा, भगवदनुभूतियों की जिज्ञासा करता है । वह किसी भक्ति-शास्त्र-
वेत्ता या भागवतीय-पण्डित के दर्शन करता है तो उससे भगवत्-कथा सुनाने की
प्रार्थना करता है । विशेषतः श्रीकृष्ण-लीला श्रवण में उसे अधिक रुचि होती है ।
उन लीलाओं को सुनकर उसमें अश्रु-पुलक आदि सात्विक-विकार उदित होने
लगते हैं ।

साधुसमाज को प्राप्त कर वह अपना जीवन धन्य मानने लगता है और भवरोग-विनाश के लिए उन्हें सुनिश्चित वैद्यशिरोमणि रूप में जानता है। उपदेशामृत के लिए यथासमय उनके पास रहकर उनकी सेवा का सौभाग्य भी प्राप्त करता है।

कभी कभी तो पशु-पक्षी आदि की स्वाभाविक चेष्टाओं से, अपने ऊपर भगवत्कृपा है या नहीं, इस बात का निर्णय करना चाहता है। 'यह हरिण यदि मेरी तरफ आता है तो मुझपर भगवत्-कृपा है, यदि मुझे पीठ देकर भाग जाता है तो मुझ पर भगवत्कृपा नहीं है—वह ऐसा सोचने लगता है अर्थात् वह हर बात में भगवत्कृपा की बाट तकता रहता है। छोटे-छोटे ब्राह्मण बालकों को देखकर उसे धीसनकादिक मुनियों की स्फूर्ति हो उठती है और उन से भी भगवत्प्राप्ति की बात जानना चाहता है।

कभी कभी उदासीन हो घर में चुपचाप बैठा रहता है, सोचता हुआ कि कब मुझे भगवत्प्राप्ति होगी। कभी तो उठकर चल देता है, किसी से कुछ नहीं बोलता, पूछने पर भी कुछ नहीं बताता। घर के बन्धु-बान्धव तो यह समझने लगते हैं कि इसकी बुद्धि बिगड़ गई है। पड़ोसी उसकी चेष्टाओं को देखकर उसे जड़-स्वभाव कहने लगते हैं कारण कि उस पर किसी भी बात का असर नहीं पड़ता। जो तकशील मीमांसक लोग हैं, उसे मूर्ख समझने लगते हैं। मायावादी उसे 'भ्रान्त' और कर्म में निष्ठा रखने वाले तो उसे भ्रष्ट मानने लगते हैं। भक्तों के प्रति जो सदा अपराध करने वाले हैं, वे उसे दम्भी-कपटी कहते हैं—इन सब विपरीत धारणाओं का कारण है उपर्युक्त लोगों की भगवद्बहिर्मुखता और भगवद्भक्ति तत्त्व की नितान्त अज्ञानकारी। वे न तो भगवद्भक्ति की महिमा जानते हैं, न भक्ति के लक्षण और न उन्हें भगवद्भक्त की अवस्थाओं का परिचय होता है। वे सांसारिक व्यवहारों में कुशल होते हैं या अपनी बुद्धि से उस मन-बुद्धि-अगोचर तत्त्व की माप-तोल करने वाले होते हैं। मायावादी तो भगवत्-अपराधी होते ही हैं, वे भक्त की आनन्दास्वादन-वैचित्र्य को क्या जाने। स्वयं भ्रान्त होने के कारण उन्हें भगवत्-भक्त भी भ्रान्त ही दीखता है, भक्त तो क्या सारा जगत् ही उन्हें भ्रम प्रतीत होता है।

ऐसे आसक्त-भक्त की पहिचान करते हैं केवल भगवद्भक्त। हीरे की पहिचान जोहरी को ही होती है, तैली या कुम्हार को नहीं। भगवद्भक्त पहिचानी लेते हैं उसे और जान जाते हैं कि इस भाग्यवान को महासारवस्तु श्रीभगवद्-भक्ति की प्राप्ति हुई है और इसने अपना जीवन सफल कर लिया है। इस प्रकार अलौकिक चेष्टाएँ होती हैं भगवदासक्त-भक्त की, जिन्हें भगवद्बहिर्मुख लोग कभी भी समझने में समर्थ नहीं होते।

इति श्रीमाधुर्यकादम्बिन्यां मनोहारिणी नाम षष्ठ्यमृतवृष्टिः ॥६॥

सप्तम्यमृतवृष्टिः

अथ सैवासक्तिः परमपरिणामं प्राप्तवती रत्यपरपर्यायोभाव इत्याख्यां लभते। य एव सच्चिदानन्द इति शक्तित्रिकस्य स्वरूपभूतस्य कन्दलीभावं भजते। यमेव खलु भक्तिकल्पवल्या उत्फुल्लं प्रसूनमाचक्षते। यस्य च बाह्यं प्रभा सुदुर्लभा आभ्यन्तरी तु मोक्षमपि लघू करोति। यस्य च परमाणुरेक एव तमः समस्त मुन्मूलयति यस्य परिमलैः प्रसूमरैः मधुसूदनं निमन्थ्यानीय तत्र प्रकटकर्तुं प्रभूयते। किं बहुना यैरेव वासिताश्चित्तवृत्तितिलविततयोद्रवीभावमासाद्य सद्य एव भगवद्-ङ्गमखिलमेव स्नेहयितुं योग्यतां दधते। यः खल्वाविर्भवन्नेव स्वाधारं श्वपचमपि ब्रह्मादेरपि नमस्यत्वमापादयति।

वही आसक्ति परम-परिणाम को प्राप्त कर 'भाव' नाम धारण करती है। उसका दूसरा नाम है 'रति'। वही भाव सत्, चित् तथा आनन्द इन तीन स्वरूप-शक्तियों का कन्दली-भाव या मुकुलित अवस्था है। उसे भक्ति कल्पलता का उत्फुल्ल या प्रफुल्लित पुष्प कहा जाता है। उसकी बाहरी प्रभा ही सबके लिये सुदुर्लभ है। उसकी अन्दरूनी प्रभा तो मोक्ष को भी तुच्छ कर देती है। उसका एक परमाणु मात्र ही समस्त तम-अन्धकार को मूल से नष्ट कर देता है। उस भाव-पुष्प की सुगन्धि फैलकर श्रीमधुसूदन को निमन्त्रण पूर्वक प्रकट करा देती है। अधिक क्या कहा जाए, भाव द्वारा सुवासित चित्तवृत्ति रूपा तिल-राशि द्रवीभूत होकर सदा ही श्रीभगवान् के निखिल अङ्गों को स्नेह-सिञ्चित करने में समर्थ होती है और तो क्या, वह भाव आविर्भूत होकर अपने आधार को, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, ब्रह्मादि द्वारा भी वन्दनीय बना देता है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—पूर्व प्रसङ्ग में जिस आसक्ति का वर्णन किया जा चुका है, वह गाढ़तम होकर 'भाव' में परिणत हो जाती है—“अधासक्तिस्ततो भावः”। आसक्ति के अनन्तर है 'भाव' का स्तर। भाव का दूसरा नाम है रति। आसक्तिपूर्वक श्रवण-कीर्तनादि भक्ति के अनुष्ठान करते-करते चित्त में शुद्ध-सत्त्व के आविर्भाव की योग्यता उत्पन्न हो आती है। वह शुद्ध-सत्त्व साधक के चित्त में कृपापूर्वक श्रीभगवान् द्वारा जब निक्षिप्त होता है, वह भाव या रति रूप में परिणत हो जाता है।

श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति या चित्त शक्ति की तीन वृत्तियाँ हैं—सत्, चित् एवं आनन्द। ये सब स्वप्रकाश हैं। स्वरूप-शक्ति की जिस स्वप्रकाश वृत्ति विशेष के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान् निजस्वरूप को प्रकट करते हैं और स्वरूप-शक्ति के दूसरे रूप परिकरों को प्रकटित करते हैं, उस वृत्ति विशेष का

नाम है शुद्ध-सत्त्व । इस वृत्ति में माया का कुछ भी संश्रव नहीं है, अतः उसे 'विशुद्ध सत्त्व' भी कहा जाता है ।

सच्चिदानन्द श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति के सत् अंश से सन्धिनी, चित् अंश से संवित तथा आनन्द अंश से ह्लादिनी शक्ति नित्य विराजमान है । विशुद्ध सत्त्व में भी इन तीनों शक्तियों का नित्य समावेश रहता है । किन्तु कहीं ह्लादिनी-का अधिक समावेश रहता है तो कहीं संधिनी का और कहीं संवित् का । विशुद्ध सत्त्व में जब ह्लादिनी शक्ति का अधिक समावेश होता है, तब उसे 'गुह्य विद्या' कहते हैं । गुह्यविद्या की दो वृत्तियाँ हैं—भक्ति और भक्ति की प्रवर्तक । इस विशुद्ध सत्त्व को श्रीभगवान् सदा सञ्चारित—प्रसारित करते रहते हैं । इस विशुद्ध सत्त्व की अथवा गुह्यविद्या की भक्तिरूपा वृत्ति जब साधक के निर्मल चित्त में आविर्भूत होती है तब उसे ही 'भाव' या 'रति' कहा जाता है ।

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि रति या भाव किसी साधन का फल नहीं है, किसी साधन अनुष्ठान से इसकी प्राप्ति नहीं होती । यह नितान्त निरपेक्ष और स्वप्रकाश है, क्योंकि स्वयं प्रकाश विशुद्ध-सत्त्व की यह वृत्ति-विशेष है । श्रवण-कीर्तनादि साधनों की आवश्यकता केवल इस लिये है कि चित्त निर्मल हो जाए और उसमें विशुद्ध-सत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता पैदा हो जाए । अनर्थ-निवृत्ति के बाद भजनाङ्गों को निष्ठा एवं रुचिपूर्वक करने से जब आसक्ति उत्पन्न होती है, तब इस प्रकार की योग्यता प्राप्त होती है तब स्वयं प्रकाश विशुद्ध-सत्त्व की वृत्ति भगवत् रति या भाव आविर्भूत हो उठता है । यह भाव भक्तिकल्पलता के प्रफुल्लित पुष्प के समान है । भाव उत्पन्न होने पर भावुक या जातरति-भक्त में जो बाहरी लक्षण प्रकट होते हैं, वे भी अति विलक्षण एवं सुदुर्लभ हैं । हर एक साधक उसे प्राप्त नहीं कर सकता । भाव की आन्तरिक अवस्था अर्थात् जब वह गाढ़ता को प्राप्त कर प्रेम में परिणत होता है, तब वह मोक्ष को भी तुच्छ कर देता है । समस्त अविद्या, अज्ञान—अन्धकार उस अवस्था में नष्ट हो जाता है । भावग्राही श्रीपुरुषोत्तम प्रेमी भक्त के हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं निमन्त्रित व्यक्ति की तरह । भाव ऐसा स्निग्ध पदार्थ है कि भक्त-हृदय को वह इतना चिकना कर देता है कि उसमें श्रीकृष्ण एवं कृष्णकामना के अतिरिक्त और कोई पदार्थ वहां टिक नहीं सकता । स्वयं भगवान् उस स्नेह-स्निग्धता में सराबोर हो उठते हैं, भक्त के स्नेह में अभिषिक्त हो जाते हैं ।

यहां यह भी शर्त नहीं है कि भाव किसी ब्राह्मण या उच्च वंशीय, संन्यासी, विरामी, राजा-महाराजा के चित्त में आविर्भूत होता हो, एक नीच जाति शूद्र, श्वपच में भी भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान द्वारा विशुद्ध-सत्त्व की योग्यता प्राप्त करने पर भाव का आविर्भाव हो सकता है और वह श्वपच-चाण्डाल भी ऐसा भगवत्-प्रिय बन जाता है कि सुर-नर-मुनि आदि की क्या चली, ब्रह्मा,

शिवादिक भी उसकी वन्दना करते हैं । वह सर्ववन्दनीय हो जाता है^१ ।

उद्योतमाने च अस्मिन् श्यामलिमानं ब्रजेन्द्रनन्दनस्याङ्गानामेव आरुण्यं तदीयाधरनेत्रान्तादेरेव धवलमानं तदीयवदनस्मितचन्द्रिकादेरेव, पीतिमानं तदम्बरभूषणादेरेव, लेहुं लब्धासन्नमयमिव वलितोत्कण्ठं भक्तस्य नयनद्वन्द्वमश्रुभिरज-स्रमात्मानमभिषिञ्चेत् । गीतं तदीयं मुरल्या एव, शिञ्जितं तदीयनूपुरादेरेव, सौख्यं तदीयकण्ठस्यैव निदेशं तच्चरणपरिचरणस्यैव, तत्कृतं कमपि स्वस्यावतं-सीकर्तुं मृग्यदिव स्थाने स्थाने क्षणे क्षणे श्रवण निश्चलीभवदुन्नमेत् । एवमेव कीदृशो वा तदुभयकरकिशलयस्पर्श इति तदेव अनुभवदिव गात्रं रोमाञ्चितं भवेत् । तत्सौ-रभ्यं लभ्यमानमिव विदुष्यो नासे प्रफुल्ले क्षणे क्षणे श्वासं गृहीत्वा परिचिचीवे-ताम् । हन्त सा फेना किं मे स्वादनीया इति तदेव तामप्युपलभमानेव रसनाप्यु-ल्लासं दधाने वोष्ठाधरौ लिह्येत् । कदापि तदीय स्फूर्तौ तं साक्षात् प्राप्तवदिव चेत्तौ हृष्येत् तन्माधुर्यास्वादसम्पत्त्या माद्येत्, तदेव तत्तिरोभावे विषीदेत्, ग्लाने-दित्येवं सञ्चारिभावैरात्मानमलं कुर्वदिव शोभेत् ।

इस भाव के उदित होने पर जातरति-भक्त को श्रीब्रजराजनन्दन के श्रीअङ्गों की श्यामला, अधरों एवं नेत्रों की अरुणिमा, मुखचन्द्र की मृदुमुस्कान-शुभ्रता, उनके वस्त्र-भूषणादि की पीत-छटा आदिका अनुभव होने लगता है । तब उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए वह अपने को अभिषिक्त करता रहता है । वह भक्त श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर गीतध्वनि, उनके नूपुरादिक की झङ्कार-ध्वनि, उनके मधुर कण्ठ की सुरीली-बोलनि एवं उनके द्वारा उनके चरणों की सेवा का साक्षात् आदेश सुनता है और अपने को चरितार्थ करने के लिए स्थान-स्थान पर प्रतिक्षण मानो उनका अनुसन्धान करने लगता है । कभी कान ऊँचे उठाकर, कभी नीचे कर निश्चल होकर वह अवस्थान करता है । कभी श्रीब्रजेन्द्रनन्दन के करकमलों का स्पर्श कैसा है, उसका मानो अनुभव कर रोमाञ्चित हो उठता है । कभी उनकी श्रीअंग सौरभ को सूँघकर प्रफुल्लनासिका द्वारा क्षण-क्षण में श्वास ले हर पुलकित होता है । "श्रीश्यामसुन्दर की अधर-सुधा आस्वादन करने का क्या कभी मेरा भी सौभाग्य होगा"—इस प्रकार कभी कभी सोचता हुआ ऐसा अनुभव ही करने लगता है और अपनी रसना को चरितार्थ जानते हुए अति उल्लसित होकर अपने होठों को चाटने लगता है । कभी प्रियतम की स्फूर्ति में मानो उनको साक्षात् प्राप्त कर उसका मन आनन्द से नाच उठता है । उस समय कभी तो उनके माधुर्य की आस्वादन-सम्पत्ति पाकर उन्मत्त हो उठता है और कभी उनको अन्तर्धान जानकर व्याकुल एवं ग्लानियुक्त हो जाता है । इसप्रकार अनेक सञ्चारी-भावों द्वारा अपनी आत्मा को अलंकृत कर वह जातरति-भक्त सुशोभित हो उठता है ।

१. भाव के विषय में विस्तृत जानकारी के लिये सम्पादक द्वारा प्रकाशित भक्तिरसामृत-सिन्धुविन्दुः का अध्ययन अपेक्षित है ।

विश्वोत्लासिनी-टीका—श्रीचक्रवर्तिपाद ने उपर्युक्त अनुच्छेद में जातरति-भक्त की अनुभूतियों, स्फूर्तियों एवं उनके फलस्वरूप उसकी अलौकिक दशाओं का संक्षिप्त में वर्णन किया है। सारांश यह है कि जातरति-भक्त को श्रीब्रजेन्द्रनन्दन के श्रीअङ्गों की, वस्त्रभूषा की साक्षात् अनुभूति होने लगती है। उनकी मुरलीध्वनि, कण्ठध्वनि एवं नूपुरादि की ध्वनि भी सुनाई देने लगती है और यहां तक कि वह भक्त कभी कभी ऐसा भी सुनता है कि श्रीभगवान् मुझे अपने चरणारविन्द की सेवा का आदेश दे रहे हैं। श्रीभगवान् के माधुर्यास्वादन को पाकर वह प्रतिपल भाव तरङ्गों में डूबता-उतरता हुआ चरितार्थ जीवन हो जाता है।

जातरति-भक्त अनेक सञ्चारी-भावों से अलंकृत रहता है। वाक्य-भ्रुकुटि एवं नेत्रादि अङ्गों द्वारा उस सत्वोत्पन्न-भाव के उदित होने के कारण जो अनेक भाव प्रकाशित होते हैं, उन्हें 'व्यभिचारी-भाव' कहा जाता है। वे व्यभिचारी-भाव अनेक भावों की गति को सञ्चारण करते हैं, अतः उन्हें 'सञ्चारी-भाव' कहते हैं। सञ्चारी-भाव तेतीस (३३) हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जड़ता, ब्रीड़ा, अवहित्या, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, औग्र, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति एवं बोध^१। ये सञ्चारी-भाव जातरति-भक्त के शरीर पर प्रकाशित होते रहते हैं, कभी एक, कभी दो और कभी अनेक भाव एक साथ भी प्रकटित होते हैं।

बुद्धिरपतन्त्रमेवार्थमवधारयन्ती जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिषु तदीय स्मृतिवर्त्मन्येव पान्थत्वमध्यवस्येत्। अहन्ता च प्राप्त्यमाने सेवोपयोगिनिसिद्धदेहे प्रविशन्तीव साधकशरीरं प्रायो जहातीव विराजेत। ममता च तच्चरणारविन्दमकरन्द एव मधुकरिं भवितुमुपक्रमेतेति। स च भक्तः प्राप्तं महारत्नं कृपण इव जनेभ्यो भावं गोपयन्नपि क्षान्तिवैराग्यादीनामास्पदीभवन् लसल्ललाटमेवाऽन्तर्धनं कथयतीति न्यायेन तद्विज्ञसाधुगोष्ठ्यां विदितो भवेदन्यत्र तु विक्षिप्त इत्युन्मत्त इति सज्जत इति दुलक्ष्यतां गच्छेत् ॥१॥

जातरति-भक्त की बुद्धि निश्चलभाव से इसी एकमात्र उद्देश्य को धारण कर जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में श्रीभगवान् के स्मृतिपथ की पथिक बन जाती है। तब उस भक्त का अहं-मम् अर्थात् जीव-भाव अभिलषित सेवा के उपयुक्त सिद्ध-देह में प्रविष्ट हो जाता है और इस वर्तमान साधक-शरीर को प्रायः त्याग किए सा ही रहता है। उसकी ममता श्रीकृष्ण के चरणारविन्द-मकरन्द की मधुप हो उठती है और इस अवस्था में वह भक्त महामणि को प्राप्त करने वाले कृपण की तरह लोगों से अपने भावों को छिपाने का यत्न करता है।

१. इन समस्त भावों का विस्तरश. वर्णन लेखक द्वारा सम्पादित श्रीचैतन्यचरितामृत मध्यलीलादम् परि० में द्रष्टव्य है।

किन्तु उज्ज्वल मस्तक या मुख जैसे भीतरी धन को बता देता है, उसी प्रकार क्षान्ति-वैराग्यादि लक्षणों का आश्रय होने से उस को विज्ञ साधुपुरुष पहिचान लेते हैं। परन्तु साधारण लोगों को वह विक्षिप्त और उन्मत्त प्रतीत होता है। अतः उसे जनसाधारण सहज में नहीं पहिचान सकते ॥१॥

विश्वोत्लासिनी-टीका—जातरति-भक्त श्रीब्रजेन्द्रनन्दन के रूप-स्वरूप, लावण्य-माधुर्य की निरन्तर स्फूर्ति एवं अनुभूति के कारण सोते-जागते यहां तक कि सुषुप्ति अवस्था में भी उनके चरणारविन्द की सेवा लाभ करने के लिए व्याकुल रहता है और एकक्षण के लिए भी उसकी कृष्णस्मृति लुप्त नहीं होती। सुषुप्ति से यहां गहरी नींद अथवा सत्वप्रधान अज्ञान या आनन्द कोष भी अभिप्रेत है। सत्व प्रधानाविष्ट चित्त होने पर सुध-बुध नहीं रहती अथवा आनन्दमयी उत्कृष्ट अवस्था में भी बाहर का ज्ञान लुप्त हो जाता है, समाधि सी लग जाती है। परन्तु जातरति-भक्त की सुषुप्ति अवस्था में भी कृष्णस्मृति अधुण रहती है। उसे बाहर की सुध न रहे परन्तु श्रीकृष्ण-स्फूर्ति बराबर जाग्रत रहती है।

पञ्चभौतिक शरीर में उसका अहं-मम भाव प्रायः निवृत्त हो जाता है। देहाध्यास से वह रहित हो जाता है। किन्तु श्रीकृष्ण-सेवा के लिए जिस देह की उपयोगिता है, उस सिद्ध-देह में ही उसका अहं-मम भाव दृढ़ हो जाता है। अप्राकृत चिन्मय श्रीभगवान् की सेवा प्राकृत देह से सम्भव नहीं है। साधन की सिद्धि होने पर साक्षात्सेवा प्राप्ति के लिए साधक एक देह प्राप्त करता है, जिसे सिद्धदेह कहा जाता है। श्रीगुरुदेव द्वारा ऐसे देह का परिचय मिलता है। साधक उस देह की भावना करते हुए अपने भावानुकूल श्रीकृष्ण की सेवा करता है। इस देह को 'अन्तश्चिन्तित-देह' भी कहा जाता है। रागानुगा-मार्ग में मधुरभाव के उपासकों का सिद्ध-देह है—गोपकिशोरी-देह। इसमें साधक राधादासी का अभिमान करता है। जातरति-भक्त उस सिद्ध-देह को ही अपना स्वरूप समझता है और वर्तमान शरीर से उसका अभिमान प्रायः निवृत्त हो जाता है। श्रीकृष्णचरणारविन्द की सेवा में उसकी तीव्र ममता जाग उठती है।

इस अवस्था में भक्त अपने भावों को छिपाता है, परन्तु रति के उत्पन्न होने पर अनेक ऐसे लक्षण उदय हो उठते हैं, जो छिपाय नहीं छिपते। भक्तितत्व-वेत्ताजन सहज में उसे पहिचान लेते हैं, जनसाधारण जिनका भक्तिविषय में कोई सम्पर्क नहीं है, अध्ययन नहीं है, वे उसे नहीं पहिचान पाते, बल्कि विपरीत बुद्धि के कारण वे उस जातरति भक्त को विक्षिप्त एवं उन्मत्त ही समझते हैं।

जातरति-भक्त के कुछ लक्षणों का वर्णन करते हुए श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु (१-३-११) में कहा गया है—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशान्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचि ॥
आसक्तिस्तदगुणारूपाय प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातिभावांकुरे जने ॥

माधुर्य-कादम्बिनी]

जिन व्यक्तियों में प्रेम का अंकुर अर्थात् भाव उत्पन्न होता है, उन सब में क्षान्ति अर्थात् क्षोभशून्यता होती है, अव्यर्थ-कालत्व होता है—वे अपना कोई भी समय भगवत् विषय के बिना व्यर्थ नहीं गंवाते। उनमें मोह नहीं रहता, वे मान-प्रतिष्ठा नहीं चाहते, वे भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिये सदा आशायुक्त होते हैं, उनमें कभी निराशा नहीं आती, वरन् सदा उत्कण्ठित रहते हैं, श्रीहरिनाम-गान में उनकी सदा रुचि रहती है। श्रीभगवान् की महिमा-गुण-लीला-कथा में उनकी आसक्ति होती है और श्रीभगवद्-लीलास्थलियों-श्रीधामवृन्दावन, श्रीअयोध्या, नवद्वीप आदि में उनकी सहज प्रीति हुआ करती है—इस प्रकार के अनेक लक्षण हैं जातरति-भक्तों के, जिन्हें विज्ञान देखकर जातरति-भक्त को पहिचान लेते हैं।

स च भावो रागभक्त्युत्थो वैधभक्त्युत्थ इति द्विविधः। आद्यो जाति प्रमाणाभ्यामाधिक्येन महिमज्ञानानादरेण भगवति सामान्याधिक्याच्च सान्द्रः। द्वितीयः ताभ्यां प्रथमतः किंचिद्यूनत्वेन ऐश्वर्यज्ञानविद्धममतावत्वाच्चासान्द्रः। प्रायो द्विविध एवायं भावो द्विविधानां भक्तानां द्विविध चिदासनासनाथेषु हृदयेषु स्फुरन् द्विविधास्वाद्यत्वं भजते। घनरस इव रसालपनसेक्षुद्राक्षादिषु प्रविष्टः पृथक् पृथक् माधुर्यवत्वं भजते। ते च भक्ताः शान्तदाससखिपितृप्रेयसीभाववन्तः पञ्चविधाः स्युः। तत्र शान्तेषु शान्तिरिति दासेषु प्रीतिरिति सखिषु सख्यमिति पितृभाववत्सु वात्सल्यं इति प्रेयसीभाववत्सु प्रियतेति नामभेदमपि।

वह भाव फिर दो प्रकार का है—रागभक्त्युत्थ तथा वैधभक्त्युत्थ। रागभक्त्युत्थ-भाव जाति एवं प्रमाण की अधिकता के कारण श्रीभगवान् में महिमा-ज्ञान का अनादर करता है और समानता एवं तदपेक्षा अधिकता के कारण अत्यन्त गाढ़ हुआ करता है। वैधभक्त्युत्थ-भाव जाति तथा प्रमाण की कुछ कमी के कारण ऐश्वर्यज्ञान के द्वारा विद्ध-ममता वाला होने से गाढ़ नहीं होता। ये दोनों प्रकार के भाव दोनों प्रकार के भक्तों के दो प्रकार की चित्त-वासनायुक्त हृदयों में स्फुरित होकर दो रूपों में आस्वादित होते हैं। आम, पनस (कटहल) इक्षु एवं द्राक्षादि में उत्तरोत्तर घने रस की प्रवृष्टि की भांति उत्तरोत्तर माधुर्यता विद्यमान है। वे भक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ता भावों से युक्त होकर पांच प्रकार के हैं। शान्त-भक्तों में शान्ति, दास्य-भक्तों में प्रीति, सखाओं में सख्य, पिता-माता गुरुजनों में वात्सल्य तथा प्रेयसियों में प्रियता—इस प्रकार उनके नामभेद हैं।

विश्वोत्लासिनी-टीका—राग-भक्तिमार्ग तथा वैधीभक्ति मार्ग; भक्ति के इन दो मार्गों के अनुसार भाव भी दो प्रकार का है। रागभक्ति-मार्ग के साधनों में अभिनिवेश या निष्ठा होने से जो भाव उदित होता है उसे राग-भक्त्युत्थ या रागभक्तिजात-भाव कहते हैं और वैधीभक्ति-मार्ग के साधनों में निष्ठा होने से जो भाव उदित होता है उसे वैधभक्त्युत्थ या वैधीभक्तिजात-भाव कहते हैं। रागात्मिका-भक्ति में श्रीकृष्ण में अत्यन्त प्रगाढ़ ममता होती है एवं केवल

श्रीकृष्णेन्द्रिय-प्रीतिसुख विधान करना ही उसका स्वभाव है अतः रागभक्तिजात-भाव जाति में एवं प्रमाण में इतना अधिक होता है कि श्रीभगवान् के ऐश्वर्य या महिमा की ओर उसे कुछ भी आकर्षण नहीं रहता। कहीं कहीं श्रीभगवान् से भक्त का समान भाव होता है, जैसे सखाओं में और कहीं कहीं उनसे भी भक्त अपने को बड़ा समझता है और अपने को श्रीभगवान् का लालन-पालनकर्त्ता ही मानता है, जैसे वात्सल्य में माता-पिता। इन भावों में ममता की क्रमशः अधिकता होती है और अत्यन्त गाढ़ता रहती है। रागभक्ति-जात भाव की जाति—प्रकृति है केवल राग-प्रेम, और वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। श्रीभगवान् भी प्रेम या निर्मल भाव के जितने वशीभूत हैं, और किसी भी साधन के नहीं। रागात्मिका-भक्ति के वशीभूत होने के प्रमाण भी शास्त्रों में सर्वत्र विद्यमान हैं।

किन्तु वैधीभक्तिजात-भाव गाढ़ नहीं होता। कारण उसकी प्रकृति है—शास्त्र-भय से भजन में प्रवृत्ति और ऐश्वर्य ज्ञान मिश्रित प्रेम। उसमें श्रीभगवान् के प्रति ममता होती है, किन्तु ऐश्वर्य-ज्ञान से शिथिलता युक्त। उसमें सदा संकोच बना रहता है और शास्त्र के विधि-विधान की सदा अपेक्षा रहती है। अतः श्रीभगवान् भी वैधीभक्त के निकट अपनी वशीभूतता भी प्रायः स्वीकार नहीं करते। वैधीभक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के प्रमाण भी शास्त्रों में विरले मिलते हैं। अतः इस वैधीभक्तिजात-भाव में गाढ़ता नहीं मानी गई है।

भक्तिमार्ग के अनुसार भक्त भी दो प्रकार के कहे गये हैं—१-राग-भक्ति मार्ग के अनुयायी, २-वैधीभक्ति-मार्ग के अनुयायी। दोनों की चित्त-वासना पृथक्-पृथक् है। राग-मार्गीय भक्त की चित्तवासना है—स्वसुखगन्ध-लेशरहित कृष्ण सुखैक तात्पर्य-मयी और वैधी-मार्गीय भक्त की चित्तवासना में स्वसुख की प्रधानता है। अपने संसार तापों की निवृत्ति अथवा मुक्ति में ही उसकी चित्त-वासना का पर्यावसान है। इन पृथक् पृथक् चित्त-वासनाओं के अनुसार भाव भी दो प्रकारों से स्फुरित होकर पृथक् पृथक् रूप से आस्वादित होते हैं।

भक्तों की श्रीकृष्ण सेवा-वासना भी फिर अनेक प्रकार की है। वह मुख्यतः पाँच प्रकार की मानी गई है। कोई भक्त केवल श्रीकृष्ण के स्वरूप में निष्ठा रखते हैं, अर्थात् वे परब्रह्म हैं, परमात्मा हैं—इस बुद्धि से श्रीकृष्ण में निष्ठा रखते हैं—इसका नाम शम या शान्ति है। अतः उनके भाव को शान्त-भाव कहते हैं। दूसरे परब्रह्म षडैश्वर्यपूर्ण श्रीकृष्ण को अपना स्वामी मानते हैं। इनमें कृष्णनिष्ठा के साथ-साथ स्वामी-सेवक सम्बन्ध की विशेषता है। अपने को प्रभु का दास जानते हैं—इनके भाव का नाम है 'दास्य-भाव'। तीसरे भक्त वे हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण को अपना सखा मानते हैं। श्रीकृष्ण बड़े हैं, वे पूज्य हैं—इस प्रकार की गौरव बुद्धि उनमें नहीं रहती। कृष्ण-निष्ठा, तथा दास का धर्म कृष्ण-सेवा तो इनमें दो गुण रहते ही हैं—उनमें गौरव-बुद्धि या संकोच नहीं रहता, बल्कि इनकी विश्वासमयी समान-बुद्धि रहती है श्रीकृष्ण में। सखाओं के समान

इनका व्यवहार रहता है श्रीकृष्ण के साथ। अतः इनके भाव को सख्य-भाव कहा जाता है। चौथे भक्त वे हैं जो श्रीकृष्ण को लाल्य एवं पाल्य समझते हैं। उन्हें अपने से छोटा समझते हैं, क्योंकि उनमें अत्यन्त ममता बुद्धि रहती है। उन को अपना पुत्र मानते हैं और उनका पालन-पोषण करते हैं। उनमें कभी चञ्चलता देखकर उन्हें फटकार भी देते हैं, बाँध भी देते हैं। कृष्णनिष्ठा, सेवा, निःसंकोच तो उनमें रहते ही हैं, पालन-पोषण का भाव उन का अधिक गुण है। उनके भाव को वात्सल्य-भाव कहा गया है। पाँचवें ऐसे भक्त हैं जिनमें उक्त चारों गुणों के साथ-साथ निजाङ्ग द्वारा सेवा की भी अभिव्यक्ति है, वे हैं श्रीकृष्ण-कान्तागण। उनके भाव को मधुर-भाव कहा जाता है। इस प्रकार इन भावों के भेद से पाँच-प्रकार के भक्त हैं। आम, कटहल, इक्षु, (गन्ना) तथा अंगूर आदि में जैसे अधिकाधिक रस की गाढ़ता है—मधुरता है उसी प्रकार शान्त-भाव से अधिक दास्य में, दास्य से सख्य में, सख्य से वात्सल्य में तथा वात्सल्य से अधिक कान्ता-भाव में उत्तरोत्तर माधुर्य का आस्वादन है एवं उत्तरोत्तर अधिकाधिक गुणों का समावेश है।

पुनश्चायं स्वशक्त्यैवाविर्भावितौ विभावानुभावव्यभिचारिभिरात्मेव राजेव वा प्रकृतिभिर्दभूतेश्वर्यः स्थायीति नाम्ना वैशिष्ट्यं गच्छन् तैर्मिलितः शान्त इति दास्यमिति सख्यमिति वात्सल्यमिति उज्ज्वल इति लब्धविभेदो रसो भवति। यो हि “रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति” इति श्रुत्याभिधीयते। अयमन्यत्रावतारेऽवतारिणि वा सम्भवन्नपि स्वयं सम्पूर्तिमानं तत्र तत्रालभमानो ब्रजेन्द्रनन्दन एव स्वकाष्ठां लभते। नदनदी तडागादिषु सम्भवदपि यथा समुद्र एव जलनिधित्व। योहि भावस्य प्रथमपरिणतावेव उत्पद्यमान एव प्रमेणि मूर्त्ति एव रसः साक्षादेव तद्वता भक्तेनानुभूयत इति ॥२॥

फिर यही पाँचों भाव अपनी-अपनी शक्ति के द्वारा ही विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी-भाव-रूप प्रजा को प्राप्त कर अपने ऐश्वर्य के सहित स्थायी-भाव-रूप राजा बनकर शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल रूप में विशिष्टता भेद से रस रूप में परिणत हो जाते हैं। उस रस के विषय में श्रुति का कहना है वह परब्रह्म भगवान् रस स्वरूप हैं, उनको प्राप्त कर जीव आनन्दी होता है। जैसे नदनदी-तडागादि जलमय होते हुए भी समुद्र का ही जलनिधित्व सिद्ध है, उसी प्रकार वह रस श्रीभगवान् के अन्यान्य अवतारों में रहते एवं उनके अवतारियों में रहते हुए भी स्वयं सम्पूर्ति प्राप्त न कर सकने के कारण केवल श्रीब्रजेन्द्रनन्दन में ही परिपूर्णता लाभ करता है। वे श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही भाव की प्रथम परिणति में प्रकाशित होकर प्रेम उदित होने पर साक्षात् मूर्तिमान रस-स्वरूप में रसिक भक्तों को अनुभूत होते हैं।

विश्वोल्लासिनी-टीका—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं उज्ज्वल या मधुर—ये पाँचों स्थायी भाव कहे गये हैं। जैसे अनेक प्रजा को प्राप्त कर राजा सुशोभित होता है, वैसे ये स्थायी-भाव अपनी-अपनी शक्ति से विभाव, अनुभाव

सात्विक एवं व्यभिचारी-इन चारों से मिलित होकर राजा रूप में परम विशिष्टता को प्राप्त करते हैं, अर्थात् शान्तभाव इन चारों से मिलकर शान्तरस में परिणत हो जाता है और दास्य-भाव दास्यरस में, सख्यभाव सख्यरस में, वात्सल्यभाव वात्सल्यरस में तथा मधुरभाव मधुररस में परिणत होकर अनिवचनीय आस्वादन-चमत्कारिता सम्पादन करते हैं। श्रुति कहती है—वह परब्रह्म रसस्वरूप है जिसे प्राप्त कर जीव आनन्दी होता है—अद्भुत शाश्वत आनन्द का अनुभव करता है। प्रत्येक भाव का भक्त अपने भाव के रसरूप में परिणत होजाने पर उसी रसस्वरूप परब्रह्म श्रीभगवान् का अनुभव प्राप्त करता है एवं शाश्वत आनन्द को लाभ करता है। गोस्वामी श्रीकृष्णदास कविराज ने इस विषय को परिस्फुट करते हुए कहा है—

अधिकारभेदे रति पञ्च परकार।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर रति आर ॥

एई पञ्च स्थायी भाव ह्य पञ्चरस।

ये रसे भक्तमुखी, कृष्ण ह्य वश ॥

प्रेमादिक स्थायीभाव सामग्री मिलने।

कृष्णभक्तिरस-स्वरूप पाय परिणामे ॥

श्रीचैतन्यचरितामृत २। २३। २५-२७

अधिकार-भेद से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये पाँच प्रकार के भाव, जो क्रमशः शान्त-दास्यादि रसों के स्थायीभाव हैं, जब क्रमशः शान्त-दास्यादि पाँच रसों में परिणत हो जाते हैं, तब भक्त को रस अर्थात् श्रीभगवान् की प्राप्ति में अद्भुत सुख की प्राप्ति तो होती ही है, श्रीभगवान् भी ऐसा अद्भुत रस-आस्वादन प्राप्त करते हैं कि वे भक्त के वशीभूत हो जाते हैं। वे स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक, एवं व्यभिचारी भाव-रूप सामग्री से मिलकर कृष्ण-भक्तिरस में बदल जाते हैं।

वस्तुतः भक्ति आस्वादनीय नहीं है, भक्तिरस ही आस्वादनीय है भक्तों द्वारा और श्री भगवान् द्वारा भी। वह रस उत्पन्न होता है स्थायी भावों के साथ विभावादि सामग्री मिलने पर। जैसे दही में चीनी, कालीमिर्च, कर्पूर मिला लिया जाय तो वह एक अपूर्व आस्वादनीय वस्तु बन जाती है।

विभाव कहते हैं उसे, जिसके द्वारा और जिस से भावों का आस्वादन किया जाता है। विभाव के दो प्रकार हैं—आलम्बन-विभाव एवं उद्दीपन-विभाव। आलम्बन-विभाव फिर दो प्रकार का है—विषयालम्बन-विभाव तथा आश्रयालम्बन-विभाव। भक्ति के विषय श्रीभगवान् विषयालम्बन-विभाव हैं और भक्ति के आश्रय भक्तजन ही आश्रयालम्बन-विभाव हैं।

उद्दीपन-विभाव—श्रीभगवान् के तथा भगवद्भक्तों के वस्त्र-भूषण-अलंकार, देश-कालादि सब उद्दीपन-विभाव बहे जाते हैं, कारण इनके देखने से

माधुर्य-कादम्बिनी

[१४३]

हृदय में श्रीभगवान् की स्मृति जाग्रत हो उठती है, भावों का उद्दीपन हो उठता है।

अनुभाव वे लक्षण और चेष्टाएँ या क्रियाएँ हैं जिन से चित्त के भाव बाहर प्रकाशित होते हैं, जैसे नृत्य-गान, पछाड़ खाना, हंसनादि, लोक-लज्जा का त्याग आदि।

सात्विक—वे भाव हैं जिनके द्वारा मन और शरीर क्षुभित हो उठते हैं। रतम्भ, स्वेद, पुलक, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रु तथा प्रलय। ये सब अनुभाव के अन्तर्भूत हैं। अतः श्रीचक्रवर्तिपाद ने मूल में सात्विक भावों का पृथक् नाम उल्लेख नहीं किया है। ये सात्विक-अनुभाव भी धूमायित, ज्वलित दीप्त, उद्दीप्त एवं सुदीप्त भेदों से पाँच प्रकार के हैं^१। ये सात्विक भाव नित्य-सिद्ध परिकरों में होते हैं तो स्निग्ध कहलाते हैं और जब जातरति-साधकों में होते हैं तो दिग्ध कहलाते हैं?

व्यभिचारी-भाव तेतीस हैं, जिन्हें सञ्चारी-भाव भी कहा जाता है। इनके नामों का वर्णन पहले इसी वृष्टि में किया जा चुका है।

इस प्रकार शान्त, दास्यादि पाँचों भाव उपर्युक्त विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के साथ जब मिलते हैं तो वे रसरूप में परिणत हो जाते हैं। वह रसस्वरूप श्रीभगवान् ही हैं।

समस्त-भगवत्-स्वरूप रसस्वरूप हैं। समस्त भगवद्-अवतार रसस्वरूप हैं किन्तु सर्वावतारी, सर्वकारण-कारण परमेश्वर स्वयंभगवान्-ब्रजेन्द्रनन्दन-श्रीकृष्ण में जैसे निखिलैश्वर्य-माधुर्य-भगवत्ता की परिपूर्णता है, उसी प्रकार उन में केवल रस की परिपूर्णता ही नहीं वे मूर्तिमान रसस्वरूप ही हैं। भाव उत्पन्न होने पर एवं फिर विभावादि के मिलने पर जब भाव-जोत भक्तों के शान्तादि भाव रसरूप में परिणत होते हैं, तो अभूत-रस की प्राप्ति होती है, अनिर्वचनीय आनन्दा-स्वादन प्राप्त होता है। यह प्रथम अवस्था है, परन्तु भाव के गाढ़तम होने पर जब भाव प्रेम संज्ञा को प्राप्त करता है तब उस अवस्था में मूर्तिमान रसस्वरूप श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की साक्षात् प्राप्ति उन भक्तों को होती है। प्रेमी भक्तजन भ एक अपूर्व रसास्वादन में डूब जाते हैं और रसिव शेखर श्रीभगवान् भी उस रसास्वादन के लिए उन भक्तों के वशीभूत हुए उनके पीछे पीछे घूमते हैं।

इति श्रीमाधुर्यकादम्बिन्यां परमानन्द-निष्यन्दिनी नामा

सप्तम्यमृतवृष्टिः ॥७॥

१. लेखक द्वारा सम्पादित भक्तिरसामृतसिन्धुविन्दु में विस्तरणः विवरण द्रष्टव्य है।



माधुर्य-कादम्बिनी

❀ अष्टम्यमृत-वृष्टिः ❀

अथ तस्या एव भक्तिकल्पवल्याः साधनाभिख्ये ये पूर्व द्वे पत्रिके लक्षिते इदानीं ततोऽतिचिकिणानि ताहशश्रवणकीर्तनादिमयानि भावकुसुमसंलग्नानि अनुभावाभिधानानि बहूनि पत्राणि सहसैराविभूय क्षणे क्षणे द्योतयन्ति यान्येव भाव-कुसुमं परिणाम प्राप्य पुनस्तदैव प्रेमाभिधानफलत्वमानयन्ति।

किं च आश्चर्यचर्यं भक्तिकल्पवली यस्याः पत्रस्तवकपुष्पफलानि प्राप्तपरिणतीत्यपि स्वस्वरूपमत्यजन्त्येव नवनवान्येव सहैव सर्वाणि विभ्राजन्ते। ततश्चास्य भक्तजनस्यात्मात्मीयगृहवित्तादिषु शत सहस्रशो भवत्यो याश्चित्तवृत्तयो ममतारज्जुभिस्तेषु तेषु निवद्धा एव पूर्वमासन् ता एव चित्तवृत्तीः सर्वा एव ततस्ततोऽवहेलयेवोन्मोच्य स्वशक्त्या मायिकीरपि ता महारसकूपस्पृश्यमानपदार्थमात्राणीव साकारचिदानन्दज्योतिर्मयीकृताभिनः श्रीभगवद्रूपनामगुणमाधुर्येषु यो निबध्नानि सोऽयं प्रेमा महाकिरणमालीव उदयिष्यमाण एव निखिलपुरुषार्थनक्षत्रमण्डलीः सहसैव विलापयति।

भक्तिकल्पलता के साधन-नामक जिन दो पत्रों का पहले वर्णन किया गया था, फिर उन से भी अति चिकने—स्निग्ध कीर्तनादिमय भाव पुष्पों से संयुक्त अनुभाव नामक अनेक पत्र सहसा आविर्भूत होते हैं, जो अति शोभा का विस्तार करते हुए भावपुष्पों को अन्तिम पराकाष्ठा तक प्रफुल्लित कर तत्काल प्रेम-नामक फल को उत्पन्न करते हैं। परन्तु यह भक्तिकल्पलता आश्चर्यमय चरित्रशाली है। इसके पत्र, स्तवक, पुष्प तथा फल परिणाम को प्राप्त होकर भी अपने स्वरूप को परित्याग नहीं करते और सब के सब नित्य नव-नव आकार में सुशोभित होते हैं। भक्त की जो चित्तवृत्तियाँ सैकड़ों हजारों भागों में विभक्त होकर ममता रज्जू के द्वारा पहले देह, दैहिक एवं गृह-धनादि में बन्धी हुई थी, अब उन समस्त चित्तवृत्तियों को अनायास उन से जो मुक्त कर लेता है, मायिकी होते हुए भी उन समस्त चित्तवृत्तियों को महारस कूप स्पर्शकारी पदार्थों की तरह अपनी शक्ति के द्वारा जो साकार चिदानन्द ज्योतिर्मय बना देता है और सर्वत्र इधर-उधर फैली हुई ममतावली को भी तथाभूत बनाकर उन्हें जो श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण-माधुर्य में आवद्ध कर देता है, वह है प्रेम। वह महासूर्य की तरह उदित होकर निखिल पुरुषार्थरूपी नक्षत्र-मण्डली को सहसा आच्छादित कर देता है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—द्वितीय वृष्टि में यह कह आए हैं कि भक्ति-कल्पलता अपने स्वयंप्रकाश-गुण एवं अहेतुकी कृपा से साधक के इन्द्रियक्षेत्र में

साधनभक्ति के अंकुर रूप में उत्पन्न होती है। वह साधन-भक्ति दो पत्तियों के रूप में ही अंकुरित होती है। क्लेशघ्नी तथा शुभदा नाम की वह दो पत्तियाँ हैं। साधक जब साधन-भक्ति अर्थात् श्रवण-कीर्तनादि भक्तिका आचरण आरम्भ करता है, तब वह अपनी अचित्य शक्ति से साधक के समस्त क्लेश—अविद्या-अनर्थादि को दूर करने लगती है और साथ ही परम मंगलरूप-भगवत्-प्राप्ति के मार्ग पर साधक को अग्रसर करने लगती है। साधन-भक्ति का आचरण करते करते जब भजन-क्रिया में प्रवृत्ति होती है तब समस्त अनर्थों की निवृत्ति होने लगती है! अनर्थ-निवृत्ति के बाद निष्ठा, रुचि तथा आसक्ति के स्तरों पर क्रमशः साधक आरोहण करता है। मानों वह साधन-भक्ति रूप अंकुर भावरूप पुष्प में प्रफुल्लित हो उठता है। पूर्वावस्था में भी श्रवण-कीर्तनादि समस्त आचरण रहते हैं, परन्तु भाव उत्पन्न होने पर वे श्रवण-कीर्तनादि अति स्निग्ध हो उठते हैं—श्रीकृष्ण एवं कृष्ण-सेवा को छोड़ कर कोई अन्य कामना भावुक-भक्त के हृदय पर टिक नहीं सकती। जात-भाव भक्त में फिर भाव उत्पत्ति के लक्षण अर्थात् अनेक प्रकार के नृत्य-गीत, रोना-हँसना-पुलक-स्तम्भादि सात्विक-विकार और अनुभाव सुशोभित होने लगते हैं। वे अनुभाव ही मानों भावरूप पुष्प को प्रेमरूप फल में परिणत कर देते हैं अर्थात् भावों की गाढ़ता हीने पर भाव की परिपक्व अवस्था प्रेम का उदय हो उठता है। वह प्रेम सहसा अनायास ही उदित हो उठता है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है।

भक्तिकल्पलता एक परम आश्चर्यमयी लता है। अन्यान्य लताओं के अंकुर पत्तों में, पत्ते गुच्छों में, गुच्छे फूलों में और फूल फल में परिणत हो जाते हैं। परिपक्व फल की उत्पत्ति में फिर गुच्छे का अस्तित्व नहीं रहता। गुच्छे लगने पर फिर अस्फुटित मञ्जरियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परन्तु भक्तिकल्पलता में पत्र (साधन-भक्ति) स्तवक (आसक्ति) पुष्प (भाव) फल (प्रेम, सब के सब ज्यों के त्यों बने रहते हैं। प्रेम उदित होने पर भावों की अतिशय गाढ़ता विद्यमान रहती है। जातभाव-भक्त में निष्ठा, रुचि, आसक्ति अधुण रहती है। आसक्ति की दशा में श्रवण-कीर्तनादि साधनाङ्ग लुप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि साधन-भक्ति से लेकर प्रेम-भक्ति तक सब के सब केवल ज्यों के त्यों बने ही नहीं रहते, बल्कि प्रेमी-भक्त को अति स्निग्ध भावमय, सात्विक-विकारों से सुशोभित होकर वे नित्य नवीन आकृति माधुरी का आस्वादन कराते हैं। स्वयं भी अति मधुरतम होकर प्रकाशित होते हैं।

पूर्वावस्थाओं में साधक-भक्त की चित्त-वृत्तियाँ शरीर में, बन्धु-बान्धवों में गृह-सम्पत्ति आदि में बन्धी रहती हैं। परन्तु प्रेम के उदय होने पर उन समस्त चित्तवृत्तियों के बन्धन दूर हो जाते हैं। प्राकृत मनकी समस्त वृत्तियाँ प्राकृत होती हैं, परन्तु प्रेम अपना अचिन्त्य-शक्ति से उन्हें श्रीभगवान् की चित्-शक्ति के साथ तादात्मता प्राप्त करा देता है, उन्हें भी चिदानन्द ज्योतिर्मय बना देता है। वे

देह-दैहिक, गृह-सम्पत्ति, आदि सब ओर से सिमिटकर एकमात्र श्रीभगवान् के नाम-रूप-गुण लीला-माधुर्य में केन्द्रित हो जाती हैं। उनकी समस्त भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है। प्रेम महासूर्य के समान है। जैसे सूर्य के उदित होने पर समस्त तारा-नक्षत्रगण विलुप्त हो जाते हैं, वैसे प्रेमरूपी महासूर्य के उदित होने पर धर्म-अर्थ-काम यहां तक मुक्ति—ये समस्त पुरुषार्थ रूपी तारागण लुप्त हो जाते हैं। ये सब के सब हतप्रभा हो जाते हैं अर्थात् प्रेम प्राप्त भक्त इन सब पुरुषार्थों को अति तुच्छ जानता है। इनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता।

फलभूतस्यास्य यः स्वाद्यमानो रसः स सान्द्रानन्दविशेषात्मा रसस्य परमपौष्टिकीशक्तिः श्रीकृष्णाकर्षिणीत्युच्यते। यस्मिन्नास्वादयितुमारम्भमाण एव विघ्नान्न गणयतीति किं वक्तव्यम्। महाशूरो भट इव महाधनगृध्रनुरत्यावेशलुप्त-विचारस्तस्कर इव स्वात्मानमपि नाऽवेक्षते। किं च रात्रिन्दिवमेव प्रतिक्षणमभ्य-वल्लियमाणेश्चतुर्विधः परमस्वादुभिरपरिमितैरन्नैरपि दुरुपशमनीया यदि काचित् क्षुधा संभवेत् तत्सदृश्या उत्कण्ठया सूर्य इव तापयन् तत्काल एव स्फूर्तेराविर्भावितानि भगवद्रूपगुणमाधुर्याण्यपाराण्यास्वादविषयोकारयन् कोटिचन्द्रे इव शिशिरयति।

युगपदेव स्वाधारमद्भुतोऽयं प्रेमा उदित्य च यस्मिन्नीषदेव वर्धमाने भगवत्साक्षात्कारमेव प्रतिक्षण माकांक्षतो भक्तस्य उत्कण्ठाशल्यस्य महादाहकस्ये-वातिप्राबल्योदयात् स्फूर्तिप्राप्ततद्रूप लीलामाधुर्यैरपि अतृप्तस्य तस्य बान्धवोऽपि निरुदकान्धकूप एव, भवनमपि कण्टकवनमेव, यत्किञ्चनाऽभ्यवहारोऽपि प्रहारो। महानेव, सज्जनकृतप्रशंसा अपि सर्पदंशा एव, प्रात्यहिककृत्यकर्तव्यमपि मर्त्यमेव, अङ्गप्रत्यङ्गानि अपि महाभार एव, सुहृद्गणसान्त्वनमपि विषदृष्ट एव, सदा जागरोऽपि सागरोऽनुतापस्यैव, कदाचिन्नद्रापि विद्राविणी जीवनीस्यैव, स्वविग्रहोऽपि भगवन्निग्रहो मूर्त्त एव, प्राणा अपि धानाः पुनः पुनर्भ्रष्टा एव, किं बहुना प्राक् सदैवाभीष्टमासीद् यत् तच्च रहो महोपद्रव एव, भगवच्चिन्तनमेवात्मनिकृन्तनमेव। ततश्च प्रेमैव चुम्बकीभावमापद्य कार्णायसीभूतं कृष्णमाकृत्यानीय कस्मिंश्चनक्षणे भक्तस्यास्य नयनगोचरीकरोति।

फल-भूत इस प्रेम का जो आस्वादनीय रस है, वह सान्द्रानन्द-विशेषात्मा है। उस रस की परम पुष्टिकारिणी जो शक्ति है, उसे 'कृष्णाकर्षिणी' कहते हैं। उस रस का आस्वादन आरम्भ हो जाने पर भक्त और किसी भी विघ्न की परवाह नहीं करता—इस विषय में तो कहना क्या? महाशूर योद्धा की तरह अथवा अतिशय आवेशयुक्त, विचाररहित, महाधन के प्रति लोलुप तस्कर की तरह वह अपने को भी भूल जाता है। चतुर्विध परम स्वादु अपरिमित अन्न को रात-दिन बार-बार भोजन करने पर भी जो क्षुधा निवृत्त न हो ऐसी क्षुधा यदि सम्भव हो सकती हो तो उस क्षुधा की तरह अति उत्कण्ठा द्वारा सूर्य की तरह

माधुर्य-कादम्बिनी]

[१४७]

ज्वाला विस्तार करता है यह प्रेम । और फिर तत्क्षण श्रीभगवान् के अपिरिमित रूप, गुण एवं माधुर्य को स्फुरित कराकर यह उन समस्त का आस्वादन करा कोटि चन्द्रों की तरह भक्त में शीतलता का विस्तार करता है । विरह-ताप एवं माधुर्यास्वादन-शीतलता—ये दोनों एक साथ ही विस्तार करने वाला अद्भुत प्रेम अपने आधार में उदित हो उठता है और जरा भी वृद्धि आने पर प्रतिक्षण श्रीभगवान् के साक्षात्कार के लिए आकांक्षी भक्त के उत्कण्ठा-रूपी शल्य (घास-फूस) को जलाने के लिए महा-दाहक अग्नि की भांति प्रबल हो उठता है । यहां तक कि फिर उस भक्त को तीव्र उत्कण्ठावेश स्फूर्ति होने पर श्रीभगवान् के रूप-लीला-माधुर्य भी तृप्त नहीं कर सकते । इस अवस्था में उस प्रेमी-भक्त को अपने बन्धु-बान्धवगण जलरहित अन्धे कुए की तरह लगते हैं, गृह-भवन कांटों से घिरे जंगल की तरह, जो कुछ आहार हैं वह उसे महाप्रहार के समान, सज्जनों द्वारा प्रशंसा उसे सर्प के दर्शन के समान, दैनिक क्रिया-कर्म उसे मृत्यु के समान दुखद लगते हैं । अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग बहुत बड़े बोझों के समान, सुहृद यदि उसे मान्त्वना देते हैं तो वह विषभरी दृष्टि के समान उसे लगती है । सर्वदा जागृत-अवस्था उसे अनुताप-समुद्र के समान एवं यदि कभी नींद आती है तो उसे जीवन-ध्वंसकारी यन्त्रणा सी लगती है । यहां तक कि उसे अपना शरीर धारण करना भी भगवान् की ओर से दण्ड-भोग लगता है, प्राणों का आना-जाना उसे भुने धान की भांति निष्फल लगता है, अधिक क्या कहा जाए, पहले जो-जो पदार्थ उसके एकमात्र मनोवाञ्छित थे—सदा प्रिय लगते थे, वही इस अवस्था में महा उपद्रव-रूप में जान पड़ते हैं और श्रीभगवत्-चिन्तन भी उसे अपना छेदक—टुकड़े-टुकड़े करने वाला प्रतीत होता है । ऐसी अवस्था प्राप्त होने के बाद वह प्रेम ही चुम्बक रूप धारण कर श्रीकृष्णरूप लौह को आकर्षण करके किसी भी समय ऐसे भक्त को उनके दर्शन करा देता है ।

विश्वोल्लासिनी टीका—भक्तिकल्पलता के परिपक्व फल प्रेम के आविर्भूत होने पर भक्त परम आस्वादनीय प्रेम-रस का आस्वादन करता है । जिसका स्वरूप है सान्द्रानन्द-विशेषात्मा अर्थात् वह प्रेमरस घनीभूत आनन्द स्वरूप ही है । उस घनीभूत आनन्द को प्रकाशित करने के लिए कोई शब्दावली समर्थ नहीं है । श्रीरूपगोस्वामिपाद ने कहा है, (श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु १।१।१६)।

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् पराङ्गुणीकृतः ।
नैति भक्तिमुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

पराङ्काल पर्यन्त (ब्रह्मा की आयु के आधे काल पर्यन्त) समाधि के बल से सिद्ध होने वाला या प्राप्त होने वाला ब्रह्मानन्द भी इस प्रेम-भक्ति समुद्र के एक परमाणु के बराबर भी नहीं हो सकता । ऐसा एक अनिर्वचनीय घनीभूत आनन्द-रस का प्रेमीभक्त आस्वादन करता है । इस रस को उसकी कृष्णाकर्षिणी-शक्ति ही

पुष्ट करती रहती हैं । इस रस के आस्वादन में कोई भी विघ्न बाधा नहीं डाल सकता । प्रेमी-भक्त उस रसास्वादन के लिए इतना आविष्ट रहता है कि उसे अपनी भी सुध-बुध नहीं रहती । वह सदा अवृत्त ही रहता है । उत्तरोत्तर रसास्वादन करता हुआ भी अधिक से अधिक अवृत्त होता जाता है । प्रेम उस भक्त को श्रीभगवान् के रूप-गुण-माधुर्य आस्वादन की विरह-ज्वाला में कोटि-कोटि सूर्यों की तरह जलाता है और उसी क्षण उनके रूप-गुण माधुर्यामृत का प्रगाढ़ आस्वादन कराकर कोटि-कोटि चन्द्रमाओं की शीतलता भी प्रदान करता है । कैसा अनिर्वचनीय है प्रेमास्वाद ! एक ही समय में कोटि सूर्यों का ताप और कोटि-चन्द्रमाओं की शीतलता प्रदान करता है । प्रेमी-भक्त के बिना दूसरा कोई इस अवस्था का अनुमान भी लगा सकता है क्या ? इसलिए पौर्णमासी देवी ने कहा है—

पीड़ाभिनवकालकूट-कटुता गवंस्य निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां मुधामधुरिमाहङ्कार सङ्कोचना ।
प्रेमा सुन्दरि ! नन्दनन्दनपरो जागति यस्यान्तरे
जायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ॥

श्रीविदग्धमाधव नाटक २।३०

इस प्रेम की पीड़ा तरुण सर्प के विष की तीव्रता और उसके अहङ्कार को चूर-चूर करके रख देती है और फिर इस प्रेम की आनन्दधारा अमृत के माधुर्य का गर्व ध्वंस कर देती है । हे सुन्दरि ! श्री नन्दनन्दन के प्रेम की पीड़ा तथा माधुर्यमा को केवल वही व्यक्ति ही जानता है, जिसके हृदय में इसकी घात लगती है ।

उस प्रेमी-भक्त के लिए फिर बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति सब निरस बल्कि दुःखदायक दीखते हैं । अपना शरीर भी भार स्वरूप होकर लगता है, और आहार-विहार का तो कहना ही क्या ? तब उसे प्राणों का स्पन्दन भी निरर्थक मालूम देता है । अपने प्रीतम का चिन्तन भी उसे महा दुःखदायी लगता है । इस अद्भुत प्रेमावस्था में क्या प्रेममय प्रीतम उस भक्त से दूर रह सकते हैं ? खिचे चले आते हैं उस प्रेम की डोरी में बंधे हुए । ऐसी प्रबल कृष्णाकर्षिणी शक्ति है उस प्रेम में ।

तत्र च सौन्दर्यसौरभ्यस्वोस्वर्यसौकुमार्यसौरस्यौदार्यकारुण्यानोति स्वीयाः
स्वरूपभूताः परमकल्याणगुणाः भगवता स्वभक्तस्य तस्य नयनादिष्विन्द्रियेषु
निधीयन्ते । तेषां च परममधुरत्वेनित्यनवत्वे च भक्तस्यास्य च तदास्वादयितुः
प्रेम्णैव प्रवर्तमाने प्रतिक्षणवाद्भिण्णौ महोत्कण्ठाय । च कोप्यानन्दमहोदधिराविर्भ-
वन्नार्हति कविसरस्वती लकुट्या परिमेयताम् ।

यथा हि अतिनिबिडतरविटपदलकुलप्रवलितमहान्यग्रोधतलस्य सुरदीधिका

हिमसलिलसंभृतघटशत-वलयिततटस्यातिशिशित्वे तदाश्रयितुर्जनस्य च तपतुर्तरणि
किरणतप्तमरुसरणिमहापान्थत्वे च, तथा कादम्बिनीघटासारस्यापारत्व इव
तदभिषिच्यमानस्यवनमतङ्गजस्य चिरन्तनदवदवधुनत्वे च तथा-सुधाकिरणस्या-
तिमधुरत्वे तत्पानकतुश्च महारोगशतवत्वे स्वादलोलुपत्वे च यस्तादात्मिक
आनन्दः स एव दिग्दर्शनार्थं तस्योपमानीक्रियते ॥१॥

तब श्रीभगवान् भी अपने सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकमार्य, सौरस्य,
सौदायं एवं करुणा आदि स्वरूपभूत कल्याणमय गुणों को उस अपने भक्त की
नेत्रादि-इन्द्रियों के गोचर करा देते हैं। इन समस्त गुणों के परम मधुर एवं नित्य-
नवीन होने के कारण प्रेमपूर्वक इनके आस्वादन करने वाले भक्त के हृदय
प्रति क्षण वर्धनशील तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न होकर कोई ऐसा आनन्द महासागर
उद्वेलित होता है कि उसका नाप-तोल किसी कवि की वाणीरूप लुटिया से नहीं
किया जा सकता। ग्रीष्म काल के सूर्य की किरणों से तपे हुए मरुस्थल के पथ
में भ्रमण करते हुए पथिक को जैसे अतिशय घनी शाखा-प्रशाखाओं से युक्त
विशाल ऊँचे बट-वृक्ष की छाया में आ जाने पर सुख मिलता है, या गङ्गा के
हिम के समान शीतल जल के सैकड़ों घरों से सिञ्चित प्रदेश में आ जाने पर
शीतलता प्राप्त होती है, अथवा चिरकाल से दावानल से अत्यन्त पीड़ित वन में
भ्रमण करने वाले हाथी को घनघोर बादलों की असंख्य जल-धाराओं से स्नान
करने पर सुख मिलता है या सैकड़ों महारोगों से प्रपीड़ित स्वाद-लोलुप व्यक्ति
को अति सुमधुर अमृत के पान करने पर जो तादात्मिक आनन्द प्राप्त होता है,
उस आनन्द के समान प्रेमी-भक्त के आनन्द का दिग्दर्शन कराते हुए किञ्चित्
उपमा दी जा सकती है।

विश्वोल्लासिनी-टीका—श्रीभगवान् का रूप-गुण-माधुर्य चिन्मय अप्राकृत
है। प्राकृत-इन्द्रियों के कभी भी गोचर नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमावस्था-प्राप्त
भक्त जब उपर्युक्त दशा में श्रीभगवत् प्राप्ति के लिए इतना व्याकुल, इतना तड़फ
उठता है तो उसका प्रेम जो स्वच्छन्द एवं चिन्मय-ज्ञान स्वरूप है अपनी कृष्णा-
कर्मिणी शक्ति से श्रीभगवान् को उस प्रेमी भक्त के सामने लाकर खड़ा कर देता
है। तब प्रेमाधीन श्रीभगवान् भी अपनी रूप-छटा, अपने श्रीअङ्गों की कस्तूरी-
कमल-कर्पूर युक्त अद्भुत सुगन्धि, अपने श्रीमुखकमल-निसृत मधुरतम अति
सुरीली बोलिन, अपनी कोमलता, सहज-उदारता एवं करुणा-इन सब स्वाभाविक
गुणों की अनुभूति भक्त को कराते हैं अर्थात् वह अपने नेत्र-कान-इन्द्रियों से
साक्षात् श्रीभगवान् के सौन्दर्य को देखता है, मधुर-बोलिन को सुनता है। समस्त
गुण नित्य-नवीन हैं अतः प्रेमपूर्वक उस समस्त गुण माधुरी के आस्वादन करने
को उत्कण्ठा भी भक्त में नित्य-नवीन होकर बढ़ती ही जाती है। श्रीचक्रवर्तिपाद
ने अनेक उदाहरण यहां आनन्द-सुख, शीतलता-शान्ति के प्रस्तुत किए हैं जो केवल

प्राकृत बुद्धि को समझाने के लिए दिग्दर्शन माना है वरना प्रेमी भक्त को श्रीभगवान्
की उस नित्यनवीन गुण-माधुरी के आस्वादन में जो आनन्द प्राप्त होता है वह
अनिर्वचनीय है, प्राकृत-बुद्धि से परे की वस्तु है।

तत्र प्रथमं लब्धापारचमत्कारस्य भक्तस्य लोचनयोः स्वसौन्दर्यं प्रकाशयते
प्रभुणा। ततस्तन्माधुर्येण सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च लोचनमयीभावे प्रवर्तिते स्तम्भक-
मावाष्पादिभिः कृतविघ्नश्च तस्यानन्दकृतमूर्च्छायां जातायां प्रबोधयितुमिव द्वितीयं
सौरभ्यं तदीयघ्राणेन्द्रियेषु प्रकाशयते। तेनापि तेषां घ्राणमयीभावे द्वितीय मूर्छारम्भे
अरे मद्भक्त ! तवाहमेव सम्पद्यमानोऽस्मि मा विह्वलीभूतकामं मामनुभवेति तृतीयं
सौस्वर्यं श्रवणेन्द्रियग्राह्यमाविर्भावयते। पुनस्तेनापि तेषां श्रवणमयीभावे तृतीय-
मूर्च्छोपक्रमे कृपया चरणारविन्देन पाणिभ्यामुरसा च स्वस्पर्शं दत्वा चतुर्थं स्व
सौकुमार्यमसावनुभावयते।

तत्र दास्यभाववतस्तस्य मूर्ध्नि चरणेन स्पर्शः सख्यभाववतः पाण्योः
पाणिभ्यां वात्सल्यभाववतः स्वकरतलेनाश्रुमार्जनं प्रेयसीभाववस्तु उरसि स्ववक्षसा
बाहुभ्यामाश्लेषः क्रियते, इति भेदो बोध्यः।

श्रीभगवान् सर्वप्रथम भक्त के नेत्रों के आगे अपना अपार चमत्कारयुक्त
सौन्दर्य प्रकाशित करते हैं। तदनन्तर उस भक्त की मन सहित समस्त इन्द्रियां
मानो नेत्रमय हो उठती हैं और उसमें स्तम्भ, कम्प आदि प्रेम-विकार उत्पन्न हो
उठते हैं जिन्हें वह एक विघ्न सा हो मानता है। उनसे वह भक्त उस समय
आनन्दरूपी मूर्च्छा में बेमुग्ध सा हो जाता है। तब श्रीभगवान् उस भक्त को चेतन
करने के लिए उसके निकट उपस्थित होते हैं और उसकी घ्राणेन्द्रिय (नाक) में
अपने सौरभ रूप दूसरे माधुर्य को प्रकाशित करते हैं। इस सौरभ से उस भक्त की
समस्त इन्द्रियां घ्राणमय हो उठती हैं और वह एक दूसरी आनन्दमूर्च्छा में
अचेतनता प्राप्त करने लगता है। उस अवस्था के आरम्भ में ही श्रीभगवान् यह
कहते हुए कि अरे मेरे भक्त ! मैं तो सब प्रकार तेरे आधीन हूँ, तू व्याकुल मत हो,
मेरा अनुभव कर अपनी कामना को पूर्ण कर। भक्त के निकट कानों द्वारा ग्राह्य
अपनी मधुर बोलिन रूप तीसरे माधुर्य को प्रकाशित करते हैं। उस सौस्वर्य के
सुनते ही उस भक्त की समस्त इन्द्रियां श्रवणमयभाव को प्राप्त करती हैं और वह
फिर तीसरी आनन्दमूर्च्छा में पड़ने लगता है, उसी क्षण श्रीभगवान् कृपापूर्वक अपने
चरणारविन्दों से एवं करकमलों से उसको अपना स्पर्श प्रदान करते हुए अथवा
अपने हृदय से लगाकर उसे अपने कोमलता-रूप चतुर्थ माधुर्य का अनुभव
कराते हैं।

यहां पर इतना भेद और जान लेना चाहिए कि दास्य-भाव के भक्तों
को उनके सिर पर अपने चरणों का स्पर्श प्रदान करते हैं, सख्य-भाव के भक्तों के
हाथ पकड़कर उन्हें अपने हाथों का स्पर्श प्रदान करते हैं, वात्सल्यभाव के भक्तों

के अश्रुओं को पोंछते हुए उन्हें अपने करतलों का स्पर्श प्रदान करते हैं तथा मधुर भाव-वती अपनी प्रेयसियों को अपनी भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए उनके हृदय को अपने वक्षस्थलका ही स्पर्श प्रदान कर अपने सौकुमार्यका माधुर्यास्वादन कराते हैं।

विश्वोत्लासिनी टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद में श्रीचक्रवर्तीपाद ने प्रेमी-भक्त को श्रीभगवान् कैसे प्राप्त होते हैं, अपने विविध माधुर्यों को किस क्रम से उसे आस्वादन कराते हैं, उसका सरस वर्णन किया है। श्रीभगवान् का सौन्दर्य इतना चमत्कारी है कि उसे केवल दो नेत्रों से आस्वादन करते नहीं बनता। भक्त की समस्त इन्द्रियां ही नेत्र-भाव को प्राप्त होकर उस सौन्दर्य-राशि में केन्द्रित हो जाती हैं और वह आनन्द से मूर्च्छित ही हो पड़ता है। इस तरह श्रीभगवान् की अंगगंध-माधुरी, उनकी मधुर-सुरीली वंशी-माधुरी, उनकी कोमलता माधुरी आदि एक-एक माधुरी को आस्वादन करने के लिए भक्त की समस्त इन्द्रियां ही तत्तत् माधुरी को ग्रहण करने के लिए केन्द्रित हो जाती हैं। रूपमाधुरी आस्वादन करने के लिए समस्त इन्द्रियां नेत्रमय और मधुर-स्वरमाधुरी के लिए समस्त इन्द्रियां श्रवणमय हो जाती हैं—इसी तरह उनका पृथक्-पृथक् कोई कार्य-व्यापार नहीं रह जाता। करुणामय सहज-उदार श्रीभगवान् अपने समस्त माधुर्य को भक्त के लिए प्रदान कर उसे कृतार्थ कर देते हैं। प्रत्येक-भाव के भक्त के लिए वे उसी-उसी भावानुकूल माधुर्यास्वादन कराकर उसकी तीव्र उत्कण्ठा को पूर्ण करते हैं।

पुनश्च तेनापि तथा तथैव चतुर्थमूर्छारम्भे पञ्चमं स्वाधरसम्बन्धि सौरभ्यं तदीयरसनेन्द्रियग्राह्यं प्रेयसीभाववत्येव तत्कालप्रादुर्भूततदभीष्टकारवति जन एव प्रकाशयते नान्यत्र। ततश्च पूर्ववदेव तथा तथा भावेऽपि तदातन्यास्त्वानन्दमूर्च्छा-यास्त्विति नैविड्ये जाते ततः प्रबोधयितुमसमर्थेनैव भगवता षष्ठमौदार्यं वितन्यते। ततश्च तेषामेव सौन्दर्यादीनां सर्वेषामेव तन्नयनादिसर्वेन्द्रियेष्वेव युगपदेव वलाद्वि-तरणम्। तदेव भगवदिङ्गितज्ञेनेव प्रेम्णाप्यतिवर्धमानेन सता तदनुरूप तृष्णातिरेकं संबर्ध्यापि तत्र भक्ते स्वयं चन्द्रत्वमुपेयुषा युगपदेवानन्दसमुद्रशतलहरीवातिसमर्द्ध-भरजज्जरितत्वमिव तस्य अन्तःनिर्माणेन स्वयमेव साकारतन्मनोधिदेवतीभवतेव तथा स्वशक्तिर्वितीर्यते यथा योगपद्मेनैव ते ते स्वादा निर्विवादा एव भवन्ति।

न चैवं मनसोऽनेकाग्रत्वेन तत्तदास्वादस्यासान्द्रेतेति वाच्यम्, प्रत्युत सौन्दर्यसौस्वर्यादीन् प्रति सर्वेन्द्रियाणामेव नयनीभावश्रवणीभावाद्या एकदेव बोभूय-माना अलौकिकाऽचिन्त्याऽद्भुतचमत्कारमेवातन्वन्तः स्वादस्यातिसान्द्रत्वमेव कुर्वन्ति। नैवाऽस्ति तत्र लौकिकाऽनुभवतर्कदावदवथोरवकाशोऽपि। अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदित्यादेः ॥२॥

तदनन्तर प्रेमी-भक्तों की चतुर्थ मूर्च्छा के आरम्भ में श्रीभगवान् अपने अधरों का सौरभ-नामक पांचवा माधुर्य प्रकट करते हैं, जो भक्त की रसना-

इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। उसका प्रकाश दर्शनकाल में प्रादुर्भूत होकर श्रीभगवान् केवल प्रेयसीभाव वाले भक्तों के अभीष्ट अनुसार ही करते हैं, उसका अन्यत्र कहीं भी प्रकाश नहीं करते। तब पहले भावों की तरह उस अवस्था में होने वाली मूर्च्छा अत्यन्त गाढ़ता प्राप्त करती है और भक्तको अन्य किसी भी प्रकार चेतन कराने में मानो श्रीभगवान् असमर्थ हो जाते हैं, इसलिए वे अपने छठे माधुर्य-औदार्य (उदारता) को वितरण करते हैं। सौन्दर्यादि समस्त गुणों के माधुर्य को प्रेमी-भक्त की नेत्रादि समस्त इन्द्रियों में एक ही साथ बलपूर्वक वितरण करना 'औदार्य' कहलाता है। उस समय श्रीभगवान् के इशारे—इच्छा को जानकर प्रेम भी अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करता है और भक्त की भावानुकूल उत्कण्ठा को बढ़ाकर उस भक्त में स्वयं चन्द्रभाव ग्रहण कर लेता है। वह प्रेम एक साथ ही आनन्द-सागर में सैकड़ों तरंगों उदित कर भक्त के अन्तःकरण को अतिशय आलोडित करने लगता है, यहां तक कि उसे जर्जरित सा कर पुनः उसे सुगठित करता है और भक्त के मन का साकार अधिदेवता बन बैठता है। फिर वह इस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार करता है कि भक्त के हृदय में एक साथ ही उस सौन्दर्यादि समस्त गुणों का माधुर्यास्वादन निर्विवाद रूप से होने लगता है।

यहां ऐसा भी कहना उचित नहीं है कि "भक्त के मन की एकाग्रता न रहने के कारण एक साथ अनेक माधुर्यों का सम्यक् प्रकार से आस्वादन नहीं हो सकता" क्योंकि श्रीभगवान् की अलौकिक अचिन्त्य शक्ति से अभूतपूर्व चमत्कारों का विस्तार करने वाले तथा एक ही साथ उदित होने वाले सौन्दर्य-सौस्वर्यादिकों के लिए समस्त इन्द्रियों के नयनीभाव एवं श्रवणीभाव आदिक ही आस्वादन की अतिशय सान्द्रता—घनीभूतता को बढ़ा देते हैं। इस अलौकिक विषय में लौकिक अनुभव जात तर्क की कोई गुंजाइश नहीं है। क्योंकि जो अचिन्त्य भाव हैं उनमें कभी भी तर्क-बुद्धि नहीं करनी चाहिए ॥२॥

विश्वोत्लासिनी-टीका—प्रेयसी-भावयुक्त प्रेमी-भक्तोंको जब श्रीभगवान् अपना सौकुमार्य-माधुर्य आस्वादन कराते हैं—आलिङ्गन करते हैं तो वे आनन्द-मूर्च्छा में अपनी सुध-बुध खोने लगते हैं। उस समय श्रीभगवान् उन्हें अपने अधरामृत का पान कराते हैं। यह सौरभ-नामक पञ्चम माधुर्य है। अधरामृत-सौरभ का पान रसना द्वारा प्रेयसीवृन्द ही करती हैं और किसी भी भाव के परिकरों में यह सम्भव और संगत नहीं है।

इस अवस्था में होने वाली मूर्च्छा को हटाने के लिये श्रीभगवान् अपने छठे माधुर्य औदार्य को प्रकाशित करते हैं, क्योंकि इसको छोड़कर और कोई भी उपाय ऐसी अवस्था में चेतनता लाने में सफल नहीं होता। सौन्दर्य, सौरभ्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य तथा सौरस्य आदि समस्त गुणों के माधुर्यों को प्रेमी-भक्त की नेत्र-श्रवणादि समस्त इन्द्रियों में एक साथ श्रीभगवान् बलपूर्वक सञ्चार करते हैं—इसका नाम ही औदार्य है। प्रेम श्रीभगवान् की ह्लादिनी शक्ति का सार है।

श्रीभगवान् के औदार्य को देखकर एवं उनकी इच्छा जानकर वह प्रेम भक्त-हृदय में अतिशय गाढ़ता एवं वृद्धि को प्राप्त करता है। चन्द्र की तरह शीतलता विधान करता हुआ आनन्द सागर को कोटि-कोटि तरङ्गों में उद्वेलित कर देता है। मानो मन के साकार अधिष्ठात्री देवता के रूप में विराजमान होकर भगवत्-सौन्दर्यादि समस्त गुणों के माधुर्य का एक साथ एक ही समय में आस्वादन प्रदान करता है।

तरंगायित सागर जैसे अत्यन्त चंचल होता है उस प्रकार भक्त-अन्तःकरण में भी प्रेमरूप चन्द्रमा के विराजमान होने से जब आनन्द-समुद्र तरंगायित हो उठता है तब वह भी तो चञ्चल और अस्थिर हो उठता होगा और उस अस्थिरता में श्रीभगवान् के अनेकविधगुण माधुर्यों का सम्यक् आस्वादन कैसे सम्भव हो सकता है?—इस आशंका का समाधान करते हुए श्रीचक्रवर्तिपाद कहते हैं कि श्रीभगवान् की शक्ति अचिन्त्य है, अलौकिक है। उसी अचिन्त्य-शक्तिसे सौन्दर्यादि समस्त इन्द्रियां नेत्रभाव को एवं श्रवण-भाव आदिको ग्रहण करने में समर्थ हो उठती हैं—कान-नाक-रसनादि सब इन्द्रियां रूपलावण्य आस्वादन करने के लिए नेत्रमय हो जाती हैं, इसी प्रकार श्रीभगवान् की मधुर वाणीको सुनने के लिए नेत्र-नासिका-रसनादि सब इन्द्रियां श्रवण रूप हो जाती हैं—उसी प्रकार वही नयनीभाव तथा श्रवणादि-भाव ही समस्त गुण-माधुर्यों के आस्वादन की चरमतम निबिड़ता, सान्द्रता उत्पन्न कर देते हैं, जिससे आनन्द समुद्र में कोटि-कोटि तरंगें अनेक विध वैचित्री के उदित होने पर भी भक्त का अन्तःकरण समस्त माधुर्यों का यगपत् पूर्णतः आस्वादन करने में समर्थ होता है। अचिन्त्य एवं अलौकिक विषयों का लक्षण ही यही है कि वे प्राकृत बुद्धि से परे होते हैं। उनमें तर्क की कोई गुञ्जाइश नहीं होती। असम्भव ही सम्भव होता है और सम्भव भी वहां असम्भव होकर घटित होता है, जैसे कि भक्तिरसामृतसिंधु में कहा गया है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

विशेषतः श्रीभगवान् की ह्लादिनी शक्ति के सार प्रेम के द्वारा अनुगृहीत होने पर प्रेमी-भक्त की समस्त इन्द्रियां उस शक्ति से तादात्मता प्राप्त कर लेती हैं। वे सब चिन्मय अप्राकृतत्व को लाभ करती हैं, जिससे उनमें भी विभुता, सर्वज्ञता एवं सर्वस्वच्छन्दता का सञ्चार हो जाता है। अतः उनके लिए सर्व सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है और वे सर्वगुणमाधुर्य का एक साथ, एक ही समय में आस्वादन कर सकती हैं।

ततश्च सौन्दर्यादीनां यावन्ति माधुर्याणि तेषां सामस्त्येनाऽनुभूषावपि अस्मिन् भक्तचातकचंचुपुटेः जलदविन्द्वावलीव न मान्ति तानि विमृश्याहो तर्हि मयैतानि सौन्दर्यादीन्येतावन्ति किमर्थं धृतानीति तेषां संभोजनायैव सप्तमं सर्व-शक्तिकदम्बपरमाध्यक्षाया आगमादावपि विमलोत्कर्षिण्या दीनामष्टदिग्दलेषु वर्त्तमानानां स्वशक्तिनां मध्य एव कर्णिकायां महाराजचक्रवर्तिन्या इव स्थिताया ह्यनुग्रहाभिधानत्वेनोक्तायाः भगवतो नयनारविन्द एव आत्मानं व्यञ्जयन्त्याः कृपाशक्तेर्विलासित्वं क्वचिद् दासादौ वात्सल्यमिति क्वचित् कारुण्य मिति प्रियादौ चेतोद्वेग इति क्वचिदनु कति नाम्नाभिधीयमानम् उदयते। ययैव कृपाशक्त्या सर्व-व्यापिन्यपि तदीच्छाशक्तिः साधुषु साध्वेवं रञ्जिता परमात्मारामानपि महाचमत्कृति-भूमिरध्यारोहयति। ययैव भगवतो भक्तवात्सल्य नाम एक एव गुणः साम्राडिव प्रथमस्कन्धे पृथिव्योक्तान् स्वरूपभूतान् सत्यशौचादीन् कल्याणगुणान् शास्ति।

उसके बाद सौन्दर्यादि के जितने भी माधुर्य हैं, उन समस्त को एक काल में अनुभव करने की इच्छा करते हुए भी भक्तरूपी चातक की चौंच में मेघ की समस्त जल धाराओं की तरह न समाते देखकर श्रीभगवान् ऐसा विचार करते हैं कि “अहो ! मैंने इतने माधुर्यों को क्यों धारण किया ?” अतः वे उन समस्त माधुर्यों का भक्त को सम्यक् आस्वादन कराने के लिए ही अपने सातवें कारुण्य-गुण माधुर्यको प्रकाशित करते हैं। यही कारुण्य श्रीभगवान् की समस्त शक्तियों के अध्यक्षानुरूप होकर आगमादि-शास्त्रों में विमला, उत्कर्षिणी आदि आठ दिशाओं रूपी कमलदलों पर विराजमान अष्टस्वरूप शक्तियों की मध्यवर्तिनी कर्णिका पर महाराज चक्रवर्ती की तरह सुशोभित होता है और भक्त के प्रति श्रीभगवान् के ‘अनुग्रह’ नाम से अभिहित होकर श्रीभगवान् के नेत्र-कमलों में अपने को प्रकाशित करता है। कभी यही दासों के प्रति कृपाशक्ति के विलासरूप से, कभी माताओं में वात्सल्य-रूप से, कभी कारुण्य रूप से और कभी प्रेयसियों में चित्त-विद्राविणी आकर्षणी शक्ति रूप से तथा कभी कहीं किसी दूसरे नाम की वस्तु को उदित करता रहता है। इसी कृपाशक्ति की ही सर्वव्यापिनी इच्छाशक्ति साधुगुणों में सुन्दररूप से रागावस्था को प्राप्त कर परमात्मारामगण को भी महाचमत्कार-भूमि पर चढ़ा देती है। इसी शक्ति के द्वारा ही निमन्त्रित होकर श्रीभगवान् का वात्सल्य नामक गुण श्रीमद्भागवत के प्रथमस्कन्ध में पृथ्वी देवी द्वारा कहे हुए उनके स्वरूपभूत सत्य-शौचादि मंगलमय समस्तगुणों का सम्राट् होकर शासन किया करता है।

विश्वोल्लासिनी टीका—सौन्दर्यादि समस्त गुणों के असीम वैचित्र्यमय माधुर्यों को प्रेमीभक्त एक ही साथ अनुभव करने की इच्छा तो करता है, परन्तु चातक की चोंच में वर्षा की समस्त धाराओं का एक साथ समाना जैसे असम्भव है, उसी प्रकार भक्त के लिए भी उन समस्त माधुर्यों का एकसाथ एक ही काल में आस्वादन करना सम्भव नहीं हो पाता। जब भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्त की उस असमर्थता को देखते हैं तो यह सोचने लगते हैं कि मेरे इन समस्त माधुर्यों को धारण करने का लाभ ही क्या हुआ जो मेरा भक्त इतना उत्कण्ठित होते हुए भी इनका आस्वादन नहीं कर सकता? इस पर वे अपने कारुण्य माधुर्य को प्रकाशित करते हैं। आगमादि शास्त्रों में एक अष्टदलीय कमल की भावना की गई है। उस कमल के आठ दल आठों दिशाओं में खिल रहे हैं। एक-एक दल पर विमला, उत्कर्षिणी आदि भगवान् की अष्ट-स्वरूप शक्तियां विराजमान हैं। कमल की कर्णिका—मध्य स्थान पर श्रीभगवान् की यह करुणा-शक्ति सब शक्तियों की चक्रवर्तिनी होकर अर्थात् राजा बनकर विराजती है। यही करुणा-शक्ति अनुग्रह नाम से भी प्रसिद्ध है जो श्रीभगवान् के नेत्रकमलों से प्रकाशित होती है, अर्थात् श्रीभगवान् जिस पर अनुग्रह करते हैं, उसकी ओर दृष्टिमात्र करने से ही अपनी कृपाशक्ति का सञ्चार उसमें कर देते हैं। जब यही अनुग्रह दास-भाव के भक्तों पर प्रकाशित होता है तो उसे कृपा-शक्ति का विलास अर्थात् 'कृपा' का अभिन्न रूप माना जाता है। जब यही अनुग्रह माता-पिता आदि वात्सल्य-भाव के भक्तों पर प्रकाशित होता है तो उसे 'वात्सल्य' और कभी 'कारुण्य' नाम से पुकारा जाता है। जब मधुर-भाव के भक्त-प्रेयसियों के प्रति वह प्रकाशित होता है तो चित्त को द्रवीभूत करने वाली 'कृष्णाकर्षिणी-शक्ति' के नाम से अभिहित होता है। अनेक स्थानों पर यही कारुण्य-माधुर्य अनेक रूपों एवं अनेक नामों से आत्मप्रकट करता है। श्रीभगवान् की यह कृपा-शक्ति सर्वव्यापिनी है। इसका दूसरा नाम 'भगवत् इच्छा-शक्ति' भी कहा गया है। बड़े-बड़े आत्माराम, निर्ग्रन्थी मुनि-साधुजन जो निर्विशेष ब्रह्मानन्द में परिपूर्ण होकर विचरण करते हैं, उनको भी यह चमत्कृत कर देती है। इस कृपाशक्ति के माधुर्यस्पन्दन में वे इतने आकृष्ट होते हैं कि श्रीश्यामसुन्दर की अहैतुकी भक्ति करने लगते हैं। निर्विशेष ब्रह्मानन्द को तिलाञ्जली दे सविशेष-सगुण सच्चिदानन्दमय परब्रह्म श्रीभगवान् की लीला-कथा के चिन्तन में आत्मविभोर हो उठते हैं। अनन्त गुण हैं श्रीभगवान् में। श्रीपृथ्वी देवी ने धर्म के प्रति उसका दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरेश्वर्यं तेजो शौर्यं बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दमेव च ॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थो महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥

श्रीमा० १-१६-२६ से २६

सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारता—ये उन्तालीस अप्राकृत-गुण तथा महत्वाकांक्षी पुरुषों के द्वारा वांछनीय (शरणागतवत्सलादि) और भी अनेक महान गुण श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए उनमें नित्य-निरन्तर निवास करते हैं।

उपर्युक्त समस्त गुणों का सम्राट् है श्रीभगवान् को वात्सल्य गुण जिसे वह भक्त के प्रति प्रकाशित करते हैं।

मोहस्तन्द्रा भ्रमो रुक्षरसता काम उल्बणः ।
लोलता मदमात्सर्यं हिंसा खेदपरिश्रमौ ॥
असत्यं क्रोध आकांक्षा आशंका विश्वविभ्रमः ।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिताः ॥
अष्टादशमहादोषं रहिता भगवत्तनुः । इति

भगवति सर्वथा निसिद्ध अप्येते दोषा यदनुरोधेन रामकृष्णाद्यवतारेषु क्वचित् क्वचित् विद्यमाना एव सन्तो भक्तेरनुभूयमाना महागुणायन्ते। ततश्च सर्वाण्येव तद्वितोर्णानि सौन्दर्यादीन्यास्वादयितुं लब्धौजसि भक्ते आस्वाद्यास्वाद्य च तां तां चमत्कृतिपरमकाष्ठा मधिरुह्याधिरुह्या चाश्रुतचरं भगवतो भक्तवात्सल्य-मिदमिवेति मनसा नुहुं मुहुरेवाऽनुभूय द्रवीभाव माषेदुषि तस्मिन्—अरे मद्भक्तवर्त्य! बहूनि जन्मानि मदर्थं दारागारधनादिकं परित्यज्य मत्परिचर्यानुरोधेन शीतरताक्षु-धातृष्णाव्यथामयादीन् वहूनेव क्लेशान् सोढवते जनावमानादीनप्यगणि तवते भिक्षुचर्या गृहीतवते भवते किमपि दातुमशक्नुवन् ऋणीकेवलमभूवम्।

मोह, तन्द्रा, भ्रम, रुक्षरसता, तीव्र काम, लोलता, मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, परिश्रम, असत्य, क्रोध, आकांक्षा, आशंका, विश्वविभ्रम, विषमत्व, परापेक्षा—ये अठारह दोष शास्त्रों में कहे गए हैं। श्रीभगवान् का श्रीविग्रह इन महादोषों से रहित है। ये दोष श्रीभगवान् में सर्वथा निषिद्ध हैं। फिर भी जिस कृपाशक्ति के अनुरोध से श्रीराम-कृष्णादि अवतारों में कहीं-कहीं विद्यमान से दीखते हैं, उस समय के भक्तवृन्दों द्वारा अनुभूत भी होते हैं, वे इसी शक्तिप्रभाव से महागुणों में परिणत हो जाते हैं। तदनन्तर श्रीभगवान् के द्वारा यितरण किए हुए सौन्दर्यादि

समस्त गुणों का आस्वादन करने के लिए ओजस्वी-भक्त इनको बारम्बार प्राप्त करता है और श्रीभगवान् के भक्तवात्सल्य गुण का अनुभव कर चमत्कृति की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर कहता है कि ऐसा गुण तो कभी पहले नहीं सुना देखा था। इस प्रकार मन में बार-बार उन गुणों का अनुभव करके भक्त का चित्त द्रवीभूत हो जाता है। तब श्रीभगवान् भी भक्तसे इस प्रकार कह उठते हैं—'अरे मेरे श्रेष्ठ भक्त ! तुमने अनेक जन्मों तक मेरे लिए स्त्री-गृह एवं सम्पत्ति आदि को त्याग कर मेरी सेवा के अनुरोध से सर्दी, वायु, भूख, प्यास, व्यथा-रोगादि अनेक क्लेशों को सहन किया है। लोगों द्वारा किए गए अपमानादि को भी कुछ नहीं गिना है, भिक्षा माँगकर तुमने अपने जीवन का निर्वाह किया है। अतः मैं तुम्हें इसके बदले में कुछ भी देने को समर्थ नहीं हूँ, अतः केवल तुम्हारा ऋणि ही हूँ।

विश्वोत्लासिनी टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद में श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने शास्त्रोक्त अठारह दोषों को गिनाया है, जो केवल जीवों में—मनुष्य, देवता एवं असुरादिकों में ही विद्यमान रहते हैं। सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीभगवत्-स्वरूपों में कभी भी ये दोष नहीं रहते, रह सकते भी नहीं। किन्तु श्रीभगवान् की कृपा-शक्ति या करुणा-शक्ति इतनी प्रबल है कि वह अपने प्रकाशित होने के लिए भगवद्भवतारों में कहीं-कहीं इन दोषों को दिखा देती हैं। जैसे भगवान् श्रीराघवेन्द्र की लीला में उनका श्रीजानकी जी के प्रति मोह और विरह का अनुभव होता है। असुर-वध लीला में भगवान् श्रीराम-कृष्णादिक में भी क्रोध, हिंसा, विषमत्व, कहीं-कहीं भ्रमादि दोष भी लीलावश दीखने-सुनने में आते हैं। परन्तु इन सब दोषों की प्रतीति कराती है उनकी कृपा-शक्ति। भक्तों को लीला-सुख प्रदान करने के लिए, असुरों का उद्धार करने के लिए श्रीभगवान् की कृपा-शक्ति श्रीभगवान् में ही इन दोषों को दिखाकर इन्हें महागुणों में बदल देती है। यदि श्रीभगवान् इन दोषों को नाटक-रूप में ग्रहण न करें तो लीला की सिद्धि ही नहीं हो सकती। क्रोधित होकर असुरों का वध-हिंसा न करें तो उनके बल-वीर्यादि महागुणों का परिचय ही नहीं मिल पाता। अनादिकाल से इन दोषों को नाटकीय रूप में ग्रहण कर रही हुई लीलाएँ श्रीभगवान् के महागुणों युक्त होकर समस्त विश्वके लिए गेय एवं श्रेयरूप में विराजमान हैं। इस समस्त का मुख्य कारण है उनकी कृपा-शक्ति।

श्रीभगवान् के सौन्दर्यादि समस्त गुण—माधुर्यों को भक्तजन बार-बार आस्वादन करते हैं, परन्तु हर क्षण वे माधुर्य उन्हें नित्य-नवीन होकर चमत्कृत करते रहते हैं और वे ऐसा अनुभव करते हैं कि ऐसा माधुर्य पहले कभी भी नहीं देखा। द्रवीभूत हो उठता है भक्त का चित्त इन माधुर्यों को बार-बार आस्वादन करते-करते। इधर भक्तवत्सल श्रीभगवान् भी तो द्रवीभूत हो उठते हैं। उनकी प्रीति के लिए भक्त तीव्र वैराग्य, सर्दी-गर्मी, क्षुधा एवं अनेक रोगों को भी सहन करता है तथा जगत् के लोगों द्वारा दुर्व्यवहार, अपमानादि की भी भक्त कुछ भी

परवाह नहीं करता, इतने पर भी भक्त भिक्षा करके अपना जीवन निर्वाह करता है—यह सब देखकर श्रीभगवान् अपने को खाली समझने लगते हैं। सोचते हैं कि इस भक्त को देने के लिए मेरे पास कुछ भी तो नहीं है। अपने को ही उस भक्त के लिए समर्पण कर देते हैं भक्तवत्सल भगवान् यह कह कर कि हे मेरे प्राण प्रिय भक्त ! मैं तुम्हारा चिरञ्छणि हूँ। मेरे पास तुम्हारी प्रीति का बदला चुकाने को कुछ भी नहीं है और न ही मेरी कुछ समर्थ है।

सार्वभौमत्वपारमेष्ठ्ययोगसिद्ध्यादिकं च न भवदनुरूपमिति तत् तत् कथं वितरिष्यामि। नहि नहि पशुभ्यो रोचमानं घासतुषवुषादिकं कस्मैचिन्मनुष्याय दीयते। तदहमजितोपि भवताऽधुना जित एव वर्ते नर्त भवत्सौशील्यवत्सलो सभ्यगवलम्बनम्, इति भगवतो वाङ्माधुर्यं परमस्निग्धवर्णा कर्णावतंसोक्त्य प्रभो ! भगवन् ! कृपापारावार ! घोरसंसारप्रवाहप्रापितक्लेशचक्रनक्रव्यूहचव्यमाणं मां बिलोक्य कारुण्योद्योतद्रवचेतो नवनीतोऽखिललोकातीतो भगवन् ! श्रीगुरुरूपधारी मदनाद्यविद्याविदारी स्वदर्शनेन सुदर्शनेनेव तन्निर्भय तद्दंष्ट्रातता-देवोन्मोच्य निजचरणकमलयुगलदासीचिकीर्षया स्वमन्त्रवर्णवोथी मत्कर्णवोथी प्रवेश्य निर्व्यथीकृत्य मुहुर्मुहुरपि स्वगुण नामश्रवणकीर्तनस्मरणादिभिर्मां यदशुशुभमिजभक्तैरपि सङ्गमितैः स्वसेवामप्यबूधतदपि दुर्मधोऽहमधमतमो दिवसमेकमपि न प्रभुं पर्यचरम्। कदर्यचर्यस्तदयं जनो दण्डयितुमेवाऽहं प्रत्युत्तावदर्शनमाधुर्यं प्रापितः।

श्रीभगवान् पुनः कहते हैं—“सार्वभौमत्व (समस्त पृथ्वी का राज्यत्व) ब्रह्मत्व (स्वर्गादि लोकों का आधिपत्य—ब्रह्मपदवी) तथा योगसिद्धि आदि हे भक्त ! इनमें कुछ भी तुम्हारे अनुरूप नहीं है। इस लिए इनको मैं तुम्हें कैसे प्रदान करूँगा ? क्योंकि पशुओं को अच्छे लगने वाले घास, तृण-भुसादि किसी मनुष्य को नहीं दिये जाते हैं। अतः मैं अजित होकर भी आज तुम्हारे द्वारा जीत लिया गया हूँ। ऐसी परिस्थिति में तुम्हारी सुशीलता के बिना मेरा और कोई भी अवलम्बन नहीं है।”—इस प्रकार परमस्निग्ध वचनोंयुक्त श्रीभगवान् की वाङ्माधुरी को कर्णभूषण बनाकर—अर्थात् श्रीभगवान् के वचन सुनकर भक्त कहता है—‘हे प्रभो ! हे भगवन् ! हे करुणासागर ! घोर संसार-प्रवाह के चक्ररूपी मगरमच्छों द्वारा चर्बित होता मुझको देखकर कृपारूपी सूर्य उदय हो उठा है, जिससे आपका चित्तरूपी माखन पिघल गया है और हे भगवन् ! आपने लोकातीत श्रीगुरु का रूप धारण कर कामादि-अविद्या को ध्वंस करने वाले अपने सुदर्शन रूपी दर्शन को देकर क्लेश चक्ररूपी मगरमच्छ को छेदन कर दिया है और उसकी भयंकर दाढ़ों से मुझको छुड़ा लिया है। अपने चरण-कमलों का दास बनाने की इच्छा से अपनी मन्त्र-वर्णावली को मेरे कर्ण-पथ में प्रवेश कराया है। मुझको पीड़ा-रहित कर अपने गुण एवं नामों के पुनः पुनः श्रवण-कीर्तन-स्मरणादि के द्वारा मुझे विशुद्ध भी बना लिया है। हे प्रभो ! आपने ही अपने भक्तों के संग

द्वारा मुझको अपनी सेवा-प्रणाली की शिक्षा भी दिलाई है। परन्तु हाय ! मैं अधमतम दुर्बुद्धि ने एक दिन भी आप प्रभु की सेवा-पूजा नहीं की। मैं दुराचारी दण्ड पाने योग्य था, परन्तु आपने मुझे दण्ड न देकर प्रत्युत अपनी दर्शन-माधुरी का पान कराया है।

विश्वोल्लासिनी टीका—श्रीभगवान् अपने जातरति-भक्तों को इहलोक या परलोकके सुख भोग नहीं देते, क्योंकि उनके भक्त श्रीभगवान्को छोड़कर, उनके चारुचरणारविन्द की सेवा को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते। चारों प्रकार की मुक्तियाँ देने पर भी वे उन्हें ग्रहण नहीं करते। अतः श्रीभगवान् भी इन सब को भक्तों की रुचि के अनुरूप न जानकर उन्हें देने का साहस भी नहीं करते। यहां सार्वभौमत्व, ब्रह्मत्व एवं योगादिको घास-फूसकी उपमा देकर उनकी कामना करने वालों को पशुओं की उपमा दी गई है। उनकी मनुष्यों में भी गिनती नहीं की गई है। कारण मानवता की सार्थकता तो केवल मात्र भगवत्-सेवा, भगवत्-प्रेम प्राप्ति में ही है। एक मात्र स्वरूपानुबन्धि धर्म भगवत्-सेवा में ही मनुष्य की मनुष्यता सिद्ध है। अतः श्रीभगवान् ऐसे प्रेमी भक्तों के आगे अजित होकर भी पराजय स्वीकार करते हैं। ऋणि बनकर भक्तों के सौशील्य एवं साधुत्व पर ही अपने को छोड़ देते हैं। स्पष्ट श्रीमुखोक्ति है श्रीश्यामसुन्दर की ब्रज-गोपियों के प्रति—(श्रीभागवत १०-३२-२२)—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माऽभजन् दुर्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥

हे गोपीगण ! कठिनता से तोड़ी जाने वाली घरबार की जंजीरों को सम्यक् प्रकार तोड़कर तुमने मेरा भजन किया है (किन्तु मैं आपका ऐसा भजन करने में असमर्थ हूँ, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—जो जिस भाव से मेरा भजन करता है, मैं उसी भाव से उसका भजन करता हूँ—'यह मेरी प्रतिज्ञा तुम्हारे आगे भङ्ग हो गई है) मेरे साथ तुम्हारा मिलन अनिन्दनीय है—परम प्रशंसनीय है। तुमने मेरे प्रति जो सुशीलता—साधुत्व प्रदर्शन किया है, मैं देवताओं की दीर्घ आयु प्राप्त करके भी उसका बदला नहीं चुका सकता। अतः तुम्हारा साधुत्व ही तुम्हारे साधुत्व का प्रतिकार हो। मैं तो तुम्हारा सदा ऋणि रहा आऊँगा।

श्रीभगवान्की इस प्रकार वचन-माधुरी का पानकर भक्त अपनी दीनता एवं अकृत्यज्ञता को ही ज्ञापन करता है और श्रीभगवान् की परम करुणा का अपने प्रति उनकी चित्त-द्रवता का प्रकाश करता है। संसार-समुद्र में अनेक प्रकार के दुखों से जिस प्रकार श्रीभगवान् श्रीगुरुदेव रूप से उसे छुटकारा दिलाते हैं। कृष्ण-मन्त्र दीक्षा-शिक्षा देकर जिस प्रकार उसे भजन में प्रवृत्त कराते हैं, करुणा-पूर्वक-श्रवण-कीर्तन स्मरणादि द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि सम्पादन करते हैं—

[माधुर्य-कादम्बिनी]

भक्त उस सबको श्रीभगवान् की करुणा जानकर अपनी दीनता एवं सर्वतोभावेन असमर्थता को प्रकाशित करता है। अपना कुछ भी पुरुषार्थ न मानकर श्रीभगवान् की ही परम कृपा एवं उदारता के गुण-गान करता है।

किंच ऋणीभवामीति श्रीमुखवाण्या प्रभुवरेणविडम्बितोऽस्मीति मन्येऽहं तत् किं करोमि पंच वा सप्ताष्टाथवा लक्षकोट्योऽपि यद्यपराधा भवेयुस्तदपि तान् सम्प्रति क्षमयितुं धाष्टर्चमालम्बते माम्। परार्धतोऽप्यधिकांस्तानवधारयामि। किं च ते तेऽपि प्रबलाश्चिरन्तना भुक्तभोक्तव्य फला वर्तन्तास्माम्। सम्प्रति पूर्वेषु रेवनीरदेन नीलनीरजेन नीलमणिना श्रीमदङ्गस्य, चन्द्रमसा श्रीमुखस्य, नवपल्लवेन श्रीचरणस्य द्युतिमुपमिमानेन मया दग्धसर्षपाधेनकनकशिखरिणमिव चणककणेन चिन्तामणिमिव फेरुणा केशरिणमिव मशकेन गरुत्वन्तमिव समीकुर्वता दुर्बुद्धिना स्पष्टमपराद्धमेवेत्यधुनेवाऽवगतम्। तदा तु प्रभुमहं स्तौमाति स्वीयमविद्वत्त्वमपि कवित्वमेतदिति जनेष्वपि प्रख्यापितम्। अतः परं तु मदीक्षणेन क्षणेन समीक्षितश्रो-मूर्तिरूपेण वैभवेन जवेन तज्ज्यमाना धैर्यरहिता गौरिव मे गौः श्रीमत्सौन्दर्यकल्पव-ल्लीमुप मानरदनैर्दूषयितुं न प्रभविष्यतीत्येवं बहुविधं शंसति तस्मिन्नतिप्रसन्ने न भग-वता पुनरपि प्रेयस्यादिभाववतस्तस्य यथासंभवमभीप्सितं तादात्मिकतत्त्वविलास-विलक्षितं श्रीवृन्दावनं कल्पशाखिनं महायोगपीठं स्वप्रेयसीवृन्दमुख्यां श्रीवृषभानु-नन्दिनीं तत् सखीःश्रीललिताद्यास्तत्किं करीरपि स्ववयस्यान् श्रीसुबलादीन् स्वपाल्य-मानानैचिकीश्च श्रीयमुनां श्रीगोवर्धनं भाण्डीरं च नन्दीश्वरगिरिं तत्रत्यजनकजननी भ्रातृबन्धुदासादीन् सर्वानेव ब्रजोक्तसो रसोत्कर्षेण दर्शयित्वा तत्तदानन्दमहामोह तरङ्गिण्यां तं निमगनीकृत्य स्वयं परिकरेणान्तर्धीयते।

(भक्त आगे कहता है—) परन्तु आपने जो यह कहा कि 'मैं तुम्हारा ऋणी हूँ'—इस श्रीमुखवाणी से तो हे प्रभुवर ! मैं ठगा सा रह गया हूँ ऐसा मैं मानता हूँ और मन में सोचता हूँ कि अब मैं क्या करूँ ? पाँच, सात अथवा आठ लाख कोटि जो मेरे अपराध विद्यमान हैं, उनको क्षमा करने की प्रार्थना भी मेरे लिए अतीव धृष्टता है। मैं तो अपने अपराधों को परार्ध—शंख (गणित में सबसे बड़ी संख्या) से भी अधिक हूँ। वे समस्त चिरन्तन अपराध अत्यन्त प्रबल हैं। उनमें से फल भोगने के बाद जितने बाकी बचे हुए अपराध हैं, उनका फल मुझे भोगने दीजिए। हे प्रभो ! अभी तो मैंने एक दिन पहले ही आपके श्रीअङ्ग को नवीन मेघ, नीलकमल और नीलमणि के साथ उपमा देने की धृष्टता की है, आपके श्रीमुख को चन्द्रमा के साथ, श्रीचरणों के सौन्दर्य को नव-पल्लवों की उपमा देकर अपराध किया है। जैसे कोई जले हुए सरसों के आधे बीज के साथ स्वर्णमय सुमेरु-पर्वतको उपमा दे, चने के कणिका से चिन्तामणि की, गीदड़ के साथ शेर की, मच्छर के साथ गरुड़ की समानता वर्णन करे, उसी प्रकार मैं दुर्बुद्धि ने स्पष्ट रूप से अपराध किया है—यह बात मैं आपके दर्शन करने के पश्चात् ही जान सका हूँ। उस समय तो 'प्रभु की स्तुति कर रहा हूँ'—मैं ऐसा जान रहा था,

[१६१]

माधुर्य कादम्बिनी]

वास्तव में मैंने अपनी मूर्खता को ही अपना कवित्व समझ कर लोगों में प्रख्यापित किया था किन्तु अब जब नेत्रों से एक क्षण भर के लिए मैंने आपकी श्रीमूर्ति के सौन्दर्य-रूप-वैभव को देखा है, उसके वेग से लज्जित होकर धैर्य रहित गया की तरह मेरी वाणी श्रीआपकी सौन्दर्य रूपी कल्पलता को उपमा-दांतों से दूषित करने में समर्थ नहीं होगी ।—इस प्रकार भक्त श्रीभगवान् की अनेक स्तुति करता है और श्रीभगवान् उस पर अतीव प्रसन्न होते हैं । उनमें जो प्रेयसी-भाव के भक्त हैं उनको यथा-सम्भव उनके अभीष्ट के अनुरूप एवं उस समय के अनुकूल श्रीभगवान् अपने विलास से परिपूर्ण श्रीवृन्दावन का दर्शन कराते हैं । वहाँ के कल्पवृक्ष, महायोगपीठ, अपनी प्रेयसियों में मुख्या श्रीवृषभानुनन्दिनी—श्रीराधा का दर्शन कराते हैं और फिर श्रीराधाजी की ललितादिक सखियों का, श्री सुवलादिक सखाओं का, अपने द्वारा सुपालित गौओं का, श्रीयमुना-श्रीगोवर्धन—भाण्डीरवट—श्रीनन्दीश्वरगिरि का दर्शन कराते हैं । फिर वहाँ श्रीनन्द-श्रीयशोदा-दिक भाई-बान्धवों का, दास-दासियों तथा समस्त ब्रजवासियों का रसोत्कर्षपूर्वक दर्शन कराकर एवं उन सबके दर्शनानन्द रूपी महा मोहनकारी तरङ्गिणी में उस भक्त को सराबोर कर श्रीभगवान् अपने परिकरों सहित अन्तर्धान हो जाते हैं ।

विश्वोल्लासिनी टीका—श्रीभगवान् की अपार करुणा और अपने प्रति श्रीभगवान् के ऋणित्व की बात सुनकर भक्त जड़वत् रह जाता है, किंवदन्त्य-विमूढ़ हो जाता है । इधर अपने अनादि काल के लिए अनन्तानन्त अपराधों को याद कर-करके मन ही मन अपने को महान अपराधी एवं दण्डनीय मानता है और क्षमा माँगने का भी साहस उसमें नहीं रह जाता, वह कह उठता है—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन ।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम ॥

हे पुरुषोत्तम ! मेरे समान पापात्मा और अपराधी और कोई कहीं भी नहीं है । हाय ! मेरे अपराध क्षमा कर दीजिए—इतना कहने में भी मुझे लज्जा आती है—इससे अधिक और क्या हूँ ? श्रीभगवान् के रूप-लावण्य का दर्शन कर चमत्कृत हो उठता है और पूर्वकाल में जिन अनेक उपमाओं द्वारा श्रीभगवान् के अङ्गों का ध्यान या अनुमान और गान किया करता था, उन सब उपमाओं को असत्य, निकृष्ट मानता है बल्कि श्रीभगवान् के श्रीअङ्ग को किसी लौकिक वस्तु से उपमा देने को अपराध और मूर्खता समझने लगता है ।

अपने द्वारा अथवा अनेक कवियों द्वारा की हुई उपमालंकारयुक्त स्तुतियों को एक बड़ी भारी भूल और दुर्बुद्धि समझता है । कारण की श्रीभगवान् का रूप-माधुर्य नितान्त लौकिक उपमालंकारों से परे, अनिर्वचनीय है । उनकी कृपा द्वारा जब उसका एक बार भी जरा सा साक्षात्कार होता है तो कवियों

की उपमायें एवं अनुमानादि सब तुच्छ हो जाते हैं । उस रूप-लावण्य-सौन्दर्यादि माधुर्य को फिर वाणी से वर्णन करना भी एक दुस्साहस है ।

प्रत्येक भाव के भक्तों के सामने श्रीभगवान् उनके भावानुरूप रूप-स्वरूप लीला-धाम परिकरों को प्रकट करते हैं । प्रेयसीभाव के रागानुगीय मार्ग भक्तों के सामने श्रीनन्दनन्दन श्रीवृन्दावन में कल्पवृक्ष, महायोगपीठादि के साथ श्री प्रियाजी की सखियों एवं मञ्जरियों के साथ उस भक्त को दर्शन देते हैं । अपने ब्रजपरिकरों के दर्शन कराते हैं । अपूर्व श्रीवृन्दावन-धाम-परिकरों के दर्शनकर भक्त महानन्द-सागर में निमग्न हो जाता है—प्रेम में मूर्च्छित हो जाता है । लीलाधारी भक्तवत्सल श्रीभगवान् उसको इसी मूर्च्छित अवस्था में छोड़कर अन्तर्धान ही जाते हैं इसलिए कि अब यह भक्त मेरे दर्शनों के लिए और भी अधिक छटपटा उठे और जगत् के किसी काम का ही न रहे ।

ततश्च कियद्भिः क्षणलब्धप्रबोधः पुनरपि प्रभुं दिदृक्षुर्लोकं न मुद्रामुन्मोच्य, तं नावलोकयन्नात्मानमश्रुभिरभिषिञ्चन्, किमयं स्वप्न आलोकितः, नहि नहि शय्यालस्यनयनकालुष्याद्यभावात्, किमयं कस्याचिन्माया वा नहि नहि एतादृशानन्दस्य मायिकत्वाऽसंभवात्, किं वा चित्तस्यैव भ्रममयीकापि वृत्तिः, नहि नहि लयविक्षेपाद्य ननुभवात्, किं वा मनोरथपरिपाकप्राप्तोऽयं वस्तुविशेषः नहि नहि ईदृशपदार्थस्य सीम्नोऽपि कदापि मनोरथेनाऽधिरोढुमशक्यत्वात् स्फूर्ति लब्धोऽयं भगवत्साक्षात्कारो वा नहि नहि सम्प्रति स्मर्यमाणाभ्यः पूर्वपूर्वोद्भूताभ्यः स्फूर्ति-भ्योऽस्यातिवैलक्षण्यात्, इत्येवं विविधमेव संशयानः शयान एव धूलिधोरणि धूसयां धरणौ, यथा तथास्तु पुनरपि तद्दर्शनं मे भूयादिति मुहुराशासनोऽपि तदनुपलभमानः खिद्यन् लुठन् रुदन् प्रात्राणि ब्रणयन् सूक्ष्मयन् प्रबुध्यमान उत्तिष्ठन् उपविशन् अभिद्रवन्क्रोशन्नुन्मत्त इव क्षणं तूष्णीमासीनो मनोषीव, क्षणं लुप्त नित्यक्रियो भ्रष्टा-चार इवक्षण असंबद्धं प्रलयन् ग्रहग्रस्त इव क्षणं कस्मैचिदाश्वासकाय निभृतं पृच्छते भक्तजनाय स्वबन्धवे स्वानुभूतमर्थं ब्रुवाणः, क्षणं प्रकृतिस्थ इव सखे ! भूरिभाग ! भगवत्साक्षात्कार एवाऽयंतवाऽभवदिति । तेन युक्त्या प्रतोष्यमाणो हृष्यन्नेव, हन्त तर्हि कथमेष पुनर्न भवतीति तदेव विषोदन्, हन्त कस्यचिन्महानुभावचूडामणे-महाभागवतस्य कापि कृपावितानपरिणति र्वा दुर्भगस्यापि मे भगवत्परिचर्याया घुणाक्षरन्यायेन वा कस्मिंश्चिद्दिवसे कथं दुत्पन्नाया निष्कैतघ्रतायाः फलमिव वा, किं वा वैगुण्यसमुद्रेऽपि क्षुब्धे मयि भगवदनुकम्पाया निरुपाधित्वमेव सूर्तं प्रकटीवभूव, हन्त हन्त केन वा अनिर्वचनीयमाग्येन स्वयं हस्तप्राप्तो निधिरजनि, केन वा महापराधेन ततश्च्युतमिति निश्चेतुं निश्चेतनोऽहं न प्रभवामि तद्वाधावाधितधीः, क्व यामि, किं वा करोमि, कमुपायमत्र कमुह वा पृच्छामि, महाशून्यमिव निरात्मकमिव निःशरणमिव दावप्लुष्टमिव मां निगिलदिव त्रिभुवनमवलोक ।

लोकेभ्यो निःसृत्य तदेभ्यःक्षणं विविक्ते प्रणिदधामोति । तथा कुर्वन् हा प्रभो ! सुन्दरमुखारविन्द माधुरीकसुधाधाराधुरीण-भावित-वासित-निखिल-विपिन

श्रीविग्रहवर-परिमल-वनमाल-चटुलितालिजाल ! सकृदेव च स्वादित एव, स्वादित-
तन्म धुरीको न पुनरेवमभ्यर्थयिष्ये इति विलपन् लुठन् श्वसन् मूर्च्छन्नुन्माद्यन्
प्रतिदिशमेव तं पश्यन् हृष्यन् श्लिष्यन् हसन्नटन् गायन् पुनरप्यनीक्षमाणोऽनुतपन्
रुदन अलौकिक चेष्टित एवायूषि नयन् स्वदेहोऽप्यति नास्ति वेति नाऽनुसन्धत्ते।
ततश्च समये पंचतां गच्छन्तं स्वदेहं न जानन् मयाभ्यार्थितः स एव करुणा-
वरुणालयस्तथैव प्रत्यक्षीभूयसाक्षात् सेवायां मां नियुञ्जानः स्वभवनं नयतीति
जानन् कृतकृत्यो भक्तो भवतीति ।

तदनन्तर कुछ देर बाद वह भक्त आनन्दमूर्च्छा से जागता है और श्री
भगवान् के दर्शन करने के लिए नेत्रों को खोलता है, किन्तु श्रीभगवान् को वहाँ
न देखकर नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बहाने लगता है। वह मन में सोचने लगता
है—'क्या मैंने स्वप्न देखा था ?' (मन ही मन उत्तर प्राप्त होता है)—'नहीं,
नहीं, यदि स्वप्न होता तो मुझ में नींद का आलस्य होता, नेत्रों में भारीपन होता
किन्तु वह तो कुछ भी मुझ में नहीं है।' तो क्या वह किसी की माया थी ? नहीं,
माया भी नहीं हो सकती क्योंकि उसमें ऐसा आनन्द कहाँ ? तो वह मेरे अपने
चित्त की कोई भ्रममयी वृत्ति थी क्या ? वह भी नहीं हो सकती, क्योंकि भ्रम-
मयी वृत्ति में तो लय-विक्षेपादि होते हैं। 'तो क्या फिर वह मेरे मनोरथ की कोई
परिपाक—फलस्वरूप वस्तु विशेष मुझे प्राप्त हुई थी ?'—'नहीं, ऐसा भी सम्भव
नहीं, क्योंकि मनोरथ कभी ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थ की सीमा तक नहीं पहुँच
सकता। अतः यह मनोरथ की परिणाम स्वरूप कोई वस्तु नहीं थी।' तो स्फूर्ति
द्वारा प्राप्त वह भगवत् साक्षात्कार ही था क्या?—ऐसा भी नहीं, क्योंकि पूर्वकाल
में अनुभव की हुई समस्त स्फूर्तियों की मुझे पूरी स्मृति है, उनसे तो वह दर्शनानन्द
अतिशय विलक्षण था। इस प्रकार अनेक संशय करता हुआ वह भक्त धूलि-
धूसरित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है यह कह कर कि अच्छा जो हुआ सो हुआ,
परन्तु मुझे फिर एक बार श्रीश्यामसुन्दर का दर्शन हो जाए।' बारम्बार वह
भक्त ऐसी आशा करता है, किन्तु दर्शनों को न पाकर अति दुःखित हो उठता है,
बार-बार पछाड़ खाकर भूमि पर गिरता है, रोने लगता है, अपने अङ्गों को
घायल कर देता है, बेहोश हो पड़ता है। उठ बैठता है, कभी चारों ओर भागने
लगता है। कभी पागल की तरह जोर-जोर से चिल्लाने लगता है और कभी
ज्ञानवान पुरुष की तरह कुछ देर के लिए चुप साध लेता है। कभी आचार-भ्रष्ट
व्यक्ति की भाँति अपनी नित्य-क्रियाओं को भी खो बैठता है। कभी तो भूत-ग्रह
द्वारा ग्रस्त या आविष्ट व्यक्ति की तरह निरर्थक प्रलाप करने लगता है। थोड़ी
देर में यदि उसे कोई सान्त्वना प्रदान करता है अथवा एकान्त में उससे मन की
बात पूछता है तो उस आत्मीय जन को अपने अनुभूत विषय को भी कहने लगता
है। उसकी अनुभूति को सुनने वाला व्यक्ति जब उसे यह कहता है कि हे सखे !
तुम बहुत भाग्यशाली हो, तुमको तो श्रीभगवान् का साक्षात्कार हुआ है—तो वह

उसकी युक्ति पूर्वक बात को प्रकृतिस्थ होकर सुनता है, समझता है और हर्षित भी
हो उठता है। किन्तु उसी क्षण में फिर व्याकुल होकर कहने लगता है—'हाय !
हाय ! मुझे फिर उनका दर्शन क्यों नहीं होता ? हाय ! मुझ जैसे अभागे को
जो भगवद् दर्शनानन्द प्राप्त हुआ, वह किसी महानुभाव महाभागवत-चूड़ामणि
पुरुष की अहेतुकी कृपा के संचार करने से ही प्राप्त हुआ था। या फिर मुझ
दुर्भागि द्वारा घुणाक्षरन्याय से बन गई किसी प्रकार की निष्कपट भगवत्-परिचर्या
का ही वह फल हो सकता है। अथवा अवगुणों के सागर, अत्यन्त दीन-हीन मुझ
पर श्रीभगवान् की कृपा का निरुपाधिक मूर्तिमान स्वरूप ही प्रकाशित हो उठा
है। हाय ! मैं नहीं जान सकता कि कौन से अनिर्वचनीय भाग्य से वह निधि मेरे
हाथों पड़ गई और फिर वह किस महा अपराध के कारण मेरे हाथों से
निकल गई। मैं नितान्त मूर्ख हूँ—इस विषय में मैं कुछ भी निश्चित नहीं कर
पा सकता हूँ। यह कैसी विपत्ति है ? मेरी बुद्धि-वृत्ति स्तब्ध हो रही है। मैं अब
कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? क्या उपाय करूँ ? किससे उसे पूछूँ ? यह त्रिभुवन
महाशून्य हो गया है, कोई भी मेरा अपना यहाँ नहीं है ! मैं निराश्रय हो गया हूँ,
दावानल की तरह यह अब मुझे निगलना चाहता है क्या अब मैं इन समस्त जगत्
के लोगों से दूर एकान्त में स्थित होकर इस विषय पर कुछ देर चिन्तन करूँ।
ऐसा सोचकर वह भगवद्-साक्षात्कार प्राप्त—भक्त निर्जन स्थान पर आकर बैठता
है और अन्तर्मुख कहने लगता है—हे प्रभो ! हे सुन्दर-मुखारविन्द-माधुर्यधारि !
हे परमामृतमय ! आपके श्रीविग्रह के सौन्दर्य से यह समस्त विपिनों की शोभा-
धारण करने वाला श्रीवृन्दावन सुशोभित एवं सुवासित हो रहा है। आपके कण्ठ
में पड़ी हुई वनमाला की मधुर सुगन्धि से चंचल होकर भ्रमर उसके चारों ओर
मण्डरा रहे हैं, हाय ! मैं फिर कभी किसी प्रकार एक क्षण के लिए आपके दर्शन
कर सकूँगा ? मैंने केवल एकबार ही आपके माधुर्यामृत का आस्वादन किया है।
उसे पुनः प्राप्त करने के लिए मैं दुर्भागा आपसे प्रार्थना करने में भी क्या समर्थ न
हो पाऊँगा—? भक्त इस प्रकार विलाप करते-करते, लम्बे साँस भरते-भरते
बेसुध हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है। हर दिशा में श्रीभगवान् का दर्शन करता
हुआ आनन्द में विभोर हो उठता है। कभी तो उनका आलिगन कर हँसने लगता
है, कभी घूमने लगता है और कभी गाने लगता है। फिर कभी श्रीभगवान् को
न देखकर व्याकुल होकर रोने लगता है इस प्रकार की अलौकिक चेष्टायें करता
हुआ भक्त अपने जीवन-काल को व्यतीत करता हुआ अपने शरीर के अनुसन्धान से
भी रहित हो जाता है, उसका शरीर है कि नहीं, यह भी वह नहीं जान पाता। यथा
समय शरीर पात हो जाता है और अपने शरीर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न रहने
के कारण वह यह निश्चित कर लेता है कि मेरे द्वारा पूजित होकर वे करुणा-
सागर श्रीभगवान् प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर मुझे अपनी साक्षात् सेवा में नियुक्त
कर अपने धाममें ले जा रहे हैं।—ऐसा निश्चित कर वह भक्त कृत-कृत्य हो जाया
करता है।

विश्वोत्सासिनी-टीका—उपर्युक्त अनुच्छेद में श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने उस भक्त की विविध अवस्थाओं एवं चेष्टाओं का विस्तरशः वर्णन किया है, जिसे प्रेम प्राप्ति के साथ श्रीभगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। श्रीभगवान् के रूप-सौन्दर्य-माधुर्य को देखकर वह भगवद् भक्त अवाक् रह जाता है। अनेकानेक उपमालंकार युक्त शास्त्र-वचनों द्वारा, महत् पुरुषों से श्रवण द्वारा, चिन्तन ध्यान अथवा भावनाओं द्वारा श्रीभगवान् के जिस रूप-सौन्दर्य-औदार्यादि गुणों का उसके हृदय में अनुमान था, धारणा थी—उन समस्त से नितान्त विलक्षण माधुर्य को वह देखता है। अननुभूतपूर्व एक कल्पनातीत माधुरी का अनुभव करता है। वह अपनी प्रत्येक इन्द्रिय से श्रीभगवान् की प्रत्येक माधुरी का पान करता है। भूल जाता है वह सब पहली धारणायें और कल्पनायें। निश्चय तक नहीं कर पाता कि उसने कोई स्वप्न देखा अथवा कुछ और। वह अवश्य वहाँ यह निश्चित कर लेता है कि मेरे साधन का या पुरुषार्थ अथवा मनोरथों के फल से यह भगवत्-दर्शन उपलब्ध नहीं हुआ। केवल उनकी कृपा उदारता से ही वह आनिर्वचनीय दुर्लभतम वस्तु मुझे प्राप्त हुई है। फिर तो वह उसी दर्शनानन्द के लिए इतना व्याकुल हो उठता है कि अनेक चेष्टायें करता है अतिशय उन्मत्त व्यक्ति की भाँति। उसे अपने देह-गेह, लोक-लाज, खान-पानादि किसी व्यवहार का भी अनुसन्धान नहीं करता। अपने को अति दीन-हीन पापी एवं उस भगवद् दर्शन के लिए भी सर्वथा अयोग्य मानता है। बार-बार एकान्त में बैठकर श्रीभगवान् से रो-रोकर प्रार्थना करता रहता है उस दर्शनानन्द की उपलब्धि के लिए वह उसी पूर्वदृष्टि रूप-लावण्यादि की पुनः-पुनः साक्षात् अनुभूति करता है। यहाँ तक कि उस अनुभूति के एक क्षण भर विच्छेद को भी वह सहन नहीं कर सकता। यथा समय उसका पंच भौतिक शरीर पात हो जाता है, परन्तु वह प्रेमी भक्त इस बात को भी नहीं जान पाता। वह जानता है और केवल यही कि अपार करुणामय श्रीभगवान् मुझे अपनी सेवा में साक्षात् नियुक्त कर अपने धाम में ले चल रहे हैं। यही जान कर वह परम कृतार्थ हो जाता है—कृत्य-कृत्य हो जाता है।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।

इत्यर्थः साधु विवृत्तः ॥ अतोऽपि यथोत्तर स्वादुर्वेशिष्टचर्माजित-स्नेह मान-प्रणय-रागानुराग महाभावाख्यानि भक्तिकल्पवल्या ऊर्ध्वोर्ध्वं पल्लवगामीनि फलानि सन्ति । न तेषामास्वादसम्पदौष्णशैत्यसंमर्दसहःसाधकस्य देहो भवेदिति न तेषां तत्र प्राकट्यसम्भव इति न तान्यत्र निवृत्तानि । किं चेह रुच्यासक्तिभावप्रेमसुलक्षयित्वा साक्षादनुभवगोचरतां प्रापितेषु तत्र सन्त्यपि भूरीणि प्रमाणानि नोपन्यस्तानि । प्रमाणाऽपेक्षायां ह्यनुभववर्त्मपारुष्यापादकत्वात् । किं च तान्यपेक्षाणि चेत् “तस्मिन्-स्तदा लब्धरुचेर्महामुने” इति रुचौ “गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये” इति आसक्तौ “प्रियश्रवस्यङ्ग ! ममाऽभवद्व्रतिः” इति रतौ “प्रेमातिभरनिभिन्न-पुलकाऽङ्गोऽतिनिर्वृतः” इति प्रेमणि “ता ये पिवन्त्यवितृषो नृपगाढकणस्तात्र स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः” इति रुच्यनुभावे “गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः” इति आसक्त्यनुभावे

“यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भ्राम्यते चेतश्चक्रपाणेयं दृच्छया ॥”

इति रत्यनुभावे “एवं व्रतः” इत्यत्र “हसत्यथो रोदितिरौति गायतीति” प्रेम्णोऽनुभावे “आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि” इति तत्र स्फूर्तौ “पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः” इति साक्षाद् दर्शने “तैर्दर्शनीयाऽवयवैरुदारविलासहासे-क्षितवामसूक्तैः” इति लब्धदर्शनस्य स्वभावे “वासो वथा परिकृतं मदिरामदान्धः” इति चेष्टायाम् प्रमाणान्यनुसन्धाय विचारयितव्यानि ।

पहले श्रद्धा, फिर साधुसङ्ग, उसके बाद भजनक्रिया, फिर अनर्थ-निवृत्ति, तत्पश्चात् निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम का आविर्भाव होता है—यह जो प्रेम का विकास-क्रम है, इसकी व्याख्या इस माधुर्य-कादम्बिनी में विस्तार पूर्वक की गई है। इसके बाद और भी उत्तरोत्तर विशिष्ट आस्वादन प्रदान करने वाले स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं महाभाव नाम के फल भक्तिरूपी कल्प-लता के ऊपर-ऊपर के पत्रों पर विद्यमान हैं। साधक का शरीर उनकी आस्वाद रूपी सम्पत्ति की उष्णता, शीतलादि के सम्मर्दन को सहन करने में समर्थ नहीं है।

अतः साफक-देह में उनका आविर्भाव सम्भव नहीं है। इसलिए उनका यहां पर विशेष वर्णन नहीं किया गया है। किन्तु यहां रुचि, आसक्ति, भाव एवं प्रेम को लक्ष्य करके एवं उनकी साक्षात् अनुभूति का वर्णन किया गया है। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं तथापि उनका यहां उल्लेख नहीं किया गया है। क्योंकि प्रमाणों की अपेक्षा करने से अनुभव-पथ में कर्कशता प्रतीत होती है। फिर भी यदि कोई प्रमाणों की अपेक्षा रखता है, तो उसके लिए प्रमाणों का उल्लेख भी कर देते हैं।

“तस्मिस्तदा लब्धरुचेर्महामुने”—यह श्लोक रुचि के विषय में प्रमाण है।

“गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये”—यह आसक्ति के विषय में है।

“प्रिय श्रवस्यङ्ग ममाश्रयवदरतिः”—यह रति के विषय में प्रमाण है।

“प्रमातिभरनिभिन्नपुलकाङ्गोऽति निवृत्तः”—यह श्लोक प्रेम विषयक है।

“ता ये पिवन्त्यवितृष्णो नृप गाढकर्णस्ताम्रस्पृशन्त्यशनतृड्भग्यशोकमोहाः”—इसमें रुचि के अनुभाव कहे गए हैं। “गायन विलज्जोविचरेदसङ्गः”—इसमें आसक्ति के अनुभाव वर्णित हैं। “यथा भ्राम्यत्ययो”—इत्यादि श्लोक में रति के अनुभाव कहे गए हैं। “एवं व्रतः”—इत्यादि श्लोक में “हसत्यथो रोदिति रौति गावतीति”—ये प्रेम के अनुभाव वर्णित हैं। “आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि”—यह श्लोक भगवत् स्फूर्ति विषयक है। “पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः”—यह श्लोक साक्षात् दर्शन विषयक है। “तैर्दर्शनीयाऽवयवेरुदारविलासहासेक्षित वामसूक्तः”—यह श्लोक दर्शन-प्राप्त भक्त के स्वभाव के विषय में है। “वासो वशा परिकृतं मदिरामदान्धाः”—यह श्लोक लब्ध-दर्शन भक्त की चेष्टा में प्रमाण है। इस प्रकार इन श्लोकों का अनुसन्धान कर प्रमाणों का विचार करना चाहिए।

विश्वोल्लासिनी-टीका—साधकों में प्रेम किस क्रम से आविर्भूत होता है, इस विषय में श्रीरूपगोस्वामिपाद ने भक्तिरसामृत सिन्धु-ग्रन्थ रत्न में जो “आदौ श्रद्धा”—इत्यादि श्लोक का उल्लेख किया है, उसकी विस्तृत व्याख्या इस ‘माधुर्य-कादम्बिनी’ में श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने की है। इस श्लोक में वर्णित क्रम की सङ्गति तथा वास्तविकता का जगह-जगह शास्त्रोक्तियों के द्वारा पुष्टि पूर्वक निरूपण किया गया है। जो सर्वतोभावेन युक्त एवं शास्त्रसम्मत ही है। प्रेम का तात्पर्य यहां कृष्णरति की आरम्भिक अवस्था ही है। यह कृष्णरति गाढ़ होती हुई स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव की उत्तरोत्तर अवस्थाओं को प्राप्त करती है। ये सब प्रेम-विकास के विभिन्न स्तर हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्नेह—कृष्ण-रति जब उत्कर्ष को प्राप्त कर श्रीकृष्ण की विशेष उपलब्धि करते हुए चित्त को द्रवीभूत करती है, तब उसे ‘स्नेह’ कहते हैं। स्नेह के उदित होने पर भी दर्शन-लालसा की तृप्ति नहीं होती।

भाव—स्नेह वर्द्धित होकर जब श्रीकृष्ण के अननुभूत नूतन-माधुर्य का अनुभव करने लगता है और स्वयं अपने भाव को छिपाने के लिए कुटिलता धारण

करता है, तब उसे ‘मान’ कहते हैं। इसमें ममता बढ़ जाती है श्रीकृष्ण में। स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता का यहां कोई काम नहीं, प्रेम की एक वैचित्र्य है यह कुटिलता, जो श्रीकृष्ण को ही सन्तुष्ट करती है।

प्रणय—ममता बुद्धि से जब मान अधिक उत्कर्ष लाभ करता है तो एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि जिसमें अपने प्राण-मन-बुद्धि-देह एवं वेष-भूषादि के साथ श्रीकृष्ण के प्राण-मन-बुद्धि आदि अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं, उसका नाम है ‘प्रणय’।

राग—प्रणय की उत्कृष्ट अवस्था का नाम है ‘राग’। इस अवस्था में श्रीकृष्ण की प्राप्ति की सम्भावना में अतिशय दुःख भी सुख; और उनकी अप्राप्ति में अतिशय सुख भी अति दुःख प्रतीत होता है।

अनुराग—राग की वह उत्कृष्ट अवस्था है कि सर्वदा अनुभव में आने वाले श्रीकृष्ण प्रति मुहूर्त नव-नवायमान प्रतीत होते हैं।

भाव—अनुराग के चरम-परिणति का नाम है ‘भाव’। इसमें श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए स्वजन-आर्यपथ त्यागकर प्राणों तक के विसर्जन का दुःख भी तुच्छ लगने लगता है बल्कि परम सुखमय ही प्रतीत होता है।

महाभाव—भाव की ऊर्ध्वतर स्तर का नाम है ‘महाभाव’। महाभाव के दो स्तर हैं—मोदन और मादन। श्रीकृष्णमिलन-जनित व सम्भोग-जनित अशेष विशेष आनन्द एवं उन्मत्तता का एक साथ अनुभव होता है इन अवस्थाओं में। महाभाव के इन दोनों स्तरों की कृष्णकान्ता-शिरोमणि श्रीराधिकाजी के बिना और किसी में भी अभिव्यक्ति नहीं होती। यहां तक कि लीला में स्वयं श्रीकृष्ण में भी इनकी अभिव्यक्ति नहीं है। श्रीकृष्ण से विछुड़ जाने पर विरह-अवस्था में यह भी इनकी अभिव्यक्ति नहीं है। श्रीकृष्ण से विछुड़ जाने पर विरह-अवस्था में यह मोदन-महाभाव ‘मोहन’ नाम को धारण करता है। इसमें विरह-जनित वैवश्य के कारण समस्त सात्विक-भाव सूक्ष्म हो उठते हैं। यह भी केवल श्रीराधाजी में ही प्रायः अभिव्यक्त होते हैं।

स्नेह-प्रणय-मानादि उपर्युक्त प्रेम-विकाश के स्तर साधक के इस वर्तमान शरीर में कभी भी प्रकाशित नहीं होते, चाहे वह साधन-मार्ग में कितना भी ऊपर क्यों न उठा हुआ हो। साधक-देह में केवल रति तक ही का आविर्भाव होता है। रति-प्राप्त साधक के शरीर-पात होने के बाद जब वह भगवत्-लीला स्थल में प्रवेश करता है, तब उसमें नित्य-सिद्ध परिकरों के सङ्ग-प्रभाव से स्नेह-मान-प्रणयादि स्फुरित होने लगते हैं। इसलिए चक्रवर्तिपाद ने कहा है कि साधक-देह में इन स्तरों का प्रकाशित होना सम्भव नहीं है। फिर इन अवस्थाओं में जो सात्विक-भावों की परिक्रियाएँ हैं, विरहाग्नि की अति असह्य ऊष्णता के ज्वार-भाटे हैं, उन्हें सहन करने की शक्ति साधक-देह में ही नहीं। अतः इनके विषय में विशेष वर्णन यहां नहीं किया है श्रीचक्रवर्तिपाद ने। (श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में इनका विस्तृत वर्णन श्रीरूपगोस्वामिपाद ने किया है) यहां केवल श्रद्धा से लेकर प्रेम

(कृष्ण-रति) पर्यन्त विकसित होने वाले स्तरों का वर्णन किया गया है। वह भी उनकी साक्षात् अनुभूति को लेकर वर्णन है, विशेष प्रमाणों को नहीं जुटाया गया है। प्रमाणों द्वारा किसी विषय को प्रतिपादन करने की बजाय साक्षात् अनुभूति द्वारा वह विषय सुचारु एवं सरस रीति से प्रतिपन्न हुआ करता है। प्रमाणों से कुछ कठोरपन की प्रतीति होती है।

फिर भी श्रीचक्रवर्तिपाद ने उन लोगों के लिए, जो प्रमाण ही चाहते हैं, यहां श्रीमद्भागवत के कई प्रमाण-श्लोक उद्धृत किए हैं क्योंकि श्रीमद्भागवत ही सर्वमान्य प्रमाण-शिरोमणि अपौरुषेय ग्रंथ है—

रुचि के विषय में जो अवस्था या लक्षण यहां कहे गए हैं, उनका प्रमाण है श्रीमद्भागवत (१-५-२७) का यह श्लोक—

तस्मिस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियभवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदस्त्वसमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥

श्रीनारदजी ने श्रीव्यासजी से कहा है कि भगवद्-लीला कथा-गान परायण महात्माओं के सङ्ग में रहकर श्रीकृष्ण की मनोहर कथाओं को श्रद्धापूर्वक सुनते-सुनते श्रीभगवान् में मेरी रुचि हो उठी, तब उन मनोहर-कीर्ति श्रीकृष्ण में मेरी बुद्धि भी निश्चल हो गई और उस बुद्धि से मैं इस सम्पूर्ण सत् और असत् रूप जगत् को अपने परब्रह्म स्वरूप आत्मा में माया से कल्पित देखने लगा।

श्रीनारदजी की इस उक्ति से महत्-पुरुषों का संग, उनसे श्रद्धापूर्वक श्रीकृष्ण-कथा श्रवण तथा निश्चल बुद्धि अर्थात् निष्ठा पूर्वक श्रीकृष्ण में बुद्धि और रुचि का क्रम प्रमाणित होता है। रुचि के फलस्वरूप इस जगत् की असारता और श्रीभगवान् के सत्यस्वरूप का सर्वत्र स्फुरण भी लक्षित होता है।

श्रीमद्भागवत (३।२।१५) में आसक्ति के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥

इस जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही माना गया है। विषयों में आसक्त होने पर वह मन बन्धन का कारण होता है और श्रीकृष्ण में आसक्त-अनुरक्त होने पर वही मन मोक्ष का कारण बन जाता है। इस श्लोक से श्रीकृष्ण में आसक्ति का वर्णन मिलता है। विषय आसक्ति के कारण संसार बन्धन से मुक्त होकर भगवत्-प्राप्ति भी लक्षित होती है।

श्रीमद्भागवत (१।५।२६) में कृष्णरति का इस प्रकार का उल्लेख है—

तन्नाहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाश्रुण्वं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियभवस्यङ्ग ममाऽभवद्व्रतिः ॥

श्रीनारद जी ने कहा—“हे प्रिय व्यास जी ! उस सत्संग में उन महात्माओं के अनुग्रह से मैं प्रतिदिन श्रीकृष्ण की मनोहर कथाएँ सुना करता था। श्रद्धापूर्वक एक-एक पद श्रवण करते-करते प्रियकीर्ति भगवान् में मेरी रुचि उत्पन्न हो उठी।” इस श्लोक में भी साधुसङ्ग एवं साधुमुख से कृष्णकथा-श्रवण अनुष्ठान से श्रीभगवान् में रति के उदित होने की बात कही गई है।

प्रेम के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१।६।१८) में कहा गया है—

प्रमातिभरनिभिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिवृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥

श्रीनारदजी बोले—हे व्यास जी ! उस समय प्रेम भाव के अत्यन्त उद्रेक से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त एवं शीतल हो गया। उस आनन्द की बाढ़ में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और अपनी ध्येय-वस्तु का तनिक भी भान न रहा।

रुचि के अनुभाव या लक्षण श्रीमद्भागवत (४।२।४०) में इस प्रकार कहे गए हैं—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिन्नचरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णस्तात्र स्पृशन्त्यशनतृड्मयशोक मोहाः ॥

श्रीनारदजी ने प्राचीनवर्हि राजा से कहा—हे राजन् ! भगवद्गुणों को कहने सुननेमें तत्पर विशुद्ध-चित्त साधु समाजमें सब ओर महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए श्रीमधुसूदन भगवान् के चरित्ररूप शुद्ध अमृत की अनेकों नदियां बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्त-चित्त से श्रवण में तत्पर अपने कर्ण कुहरों द्वारा उस अमृत का भरपेट पान करते हैं। उन्हें भूख प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुंचा सकते।—श्रीभगवान् की मधुर-कथाएँ महत्पुरुषों के श्रीमुख से सुनने पर जब रुचि उदित हो उठती है, उनके सुनते-सुनते कभी भी तृप्ति नहीं होती, तो उस अवस्था में साधक ऐसा आनन्दमग्न हो उठता है कि वह अपने आप को भूल जाता है, उसे भूख-प्यास भय-शोक और मोह आदि नहीं सताते—यही रुचि के अनुभाव हैं।

इस प्रकार आसक्ति के अनुभावों का भी श्रीमद्भागवत (१।१।३६) में वर्णन किया गया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्ग्याणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जोविचरेदसङ्गः ॥

संसार में श्रीभगवान् के जन्म एवं लीलाओं की मङ्गलमय कथाओं तथा उनके अनुसार उनके नामों का गान लाज-सङ्कोच छोड़कर करना चाहिए और किसी भी व्यक्ति या वस्तु में आसक्ति न रखकर विचरण करना चाहिए।

माधुर्य-कादम्बिनी]

[१७१]

श्रीभगवान् में आसक्ति हो जाती है, तब वह लोक-लाज से रहित हो जाता है। उसे फिर जगत् के किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं रहती।

रति के अनुभावों के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (७।५।१४) का इस प्रकार कथन है—

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भ्राम्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥

श्रीप्रह्लादजी ने अपने गुरु से कहा—जैसे चुंवक के पास लोहा अपने आप खिंचा चला आता है, वैसे ही श्रीचक्रपाणि श्रीभगवान् की स्वच्छन्द इच्छाशक्ति से मेरा चित्त भी संसार से अलग होकर उनकी ओर बरवश खिंचा जाता है—तात्पर्य यह है कि कृष्ण-रति या भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति है जो स्वयं प्रकाश एवं स्वच्छन्द है। अपनी कृपा से वह जिस जन को आत्मसात् करती है, वह स्वतः ही श्रीकृष्ण की ओर खिंचा चला जाता है और उसे फिर संसार में कोई भी श्रीभगवान् से अलग नहीं कर सकता। बल्कि वह ही संसार को अलग फेंककर श्रीभगवान् की ओर बढ़ता ही चला जाता है।

प्रेम के अनुभाव श्रीमद्भागवत (११।२।४०) में इस प्रकार स्पष्टतः वर्णित हैं—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिनि रौति गायत्युन्मादवन्तृत्यति लोकबाह्यः ॥

जो श्रीभगवान् के नाम-लीला-गुण-गान का परम मङ्गलमय व्रत नियम ले लेता है, उसके हृदय में अपने परम प्रियतम प्रभु का प्रेम आविर्भूत हो उठता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है और वह लोगों की मान्यताओं-धारणाओं से ऊपर उठ जाता है। कभी वह आनन्द में मतवाला हो हँसने लगता है, कभी रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वर से श्रीभगवान् को पुकारने लगता है, कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है और कभी प्रभु का दर्शन पाकर उनके सामने नृत्य करने लगता है। प्रेम आविर्भूत होने पर जो लक्षण भक्त में दीखने में आते हैं, उनका इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

भगवत् स्फूर्ति के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१।६।३४) का इस प्रकार कथन है—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥

श्रीनारदजी ने कहा—हे व्यासजी ! जब मैं श्रीभगवान् की लीलाओं का गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु, जिनके चरणकमल समस्त तीर्थों के उद्गम स्थान हैं और जिनका यशोगान मुझे अति प्रिय लगता है, बुलाए हुए की तरह तुरन्त मेरे हृदय में आकर दर्शन देते हैं। श्रीभगवान् के लीला-गुण-गान करने से

श्रीभगवान् भक्तों के हृदय में बुलाए हुए की तरह चले आते हैं—ऐसी स्फूर्ति भक्तों को होने लगती है।

साक्षात्-दर्शन के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (३।२५।३५) में ऐसा कहा गया है—

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

श्रीभगवान् ने देवहूति से कहा—माता ! वे भक्तजन अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्द से युक्त मेरे परम सुन्दर और वर प्रदान करने वाले दिव्य रूपों का दर्शन करते हैं। उनके साथ प्रेमपूर्वक बोलते-चालते भी हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े तपस्वी भी ललचाते रहते हैं, इस श्लोक में श्रीभगवान् के साक्षात्-दर्शन प्राप्त होने का प्रमाण मिलता है।

दर्शन प्राप्त भगवद्भक्त के स्वभाव का श्रीमद्भागवत (३।२५।३६) में इस प्रकार उल्लेख है—

तदंशं नीयावयवखदार विलासहासोक्षतवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणाश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वी प्रयुङ्क्ते ॥

मेरे दर्शनीय अङ्ग-प्रतिअङ्ग, मेरा उदार हास-विलास, मेरी मनोहर चितवन और सुमधुर वाणी से युक्त मेरे उन दिव्यरूपों की माधुरी में मेरे भक्तों का मन और इन्द्रियां उलझ जाती हैं। न चाहने पर भी मेरी प्रेमाभक्ति उन भक्तों को परमपद—मेरे धाम की प्राप्ति कर देती है। एक बार दर्शन प्राप्त कर लेने पर भक्तों का मन तथा समस्त इन्द्रियां श्रीभगवान् के रूप-लावण्य, उनकी वंकविलोकनि मधुर-बोलिन में ही केन्द्रित हो जाती हैं। उनके लिए जगत् में कुछ भी देखने-करने योग्य बाकी नहीं रह जाता। स्वाभाविक ही उनका सर्वस्व श्रीभगवान् हो जाते हैं एवं उन्हें भगवद्धाम में नित्य-सेवा की अनायास प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार दर्शन प्राप्त भक्त की चेष्टाओं के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत (११।१३।३६) में उल्लेख है—

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत स्वरूपम् ।
देवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त व्यक्ति यह नहीं देखता कि उसके शरीर पर कपड़ा है कि गिर गया है, उसी प्रकार साक्षात् दर्शन प्राप्त करने वाला भक्त अपने शरीर के विषय में यह नहीं जानता कि वह प्रारब्धवश खड़ा है या बैठा है, दैववश कहीं आया या कहीं गया है। नश्वर शरीर की वह किसी चेष्टा पर ही दृष्टि नहीं डालता। श्रीभगवान् के साक्षात्-दर्शन प्राप्त करने के बाद भक्तों को अपने नश्वर शरीर का कुछ भी अनुसन्धान नहीं रहता। उन्मत्त व्यक्ति की तरह उनकी समस्त चेष्टायें होती हैं। केवल श्रीभगवान् की रूपमाधुरी में वह डूबा रहता है।

इस प्रकार कुछ एक प्रमाण वचनों को उद्धृत कर श्रीचक्रवर्तिपाद ने प्रेम की प्रत्येक अवस्था का, जिसका इन्होंने यहां अनुभूति के आधार पर वर्णन किया है, निरूपण किया है। समस्त प्रमाण उन्होंने श्रीमद्भागवत से ही उद्धृत किए हैं। कारण कि प्रेमभक्ति-विषयक एकमात्र यदि कोई प्रामाणिक अपौरुषेय शास्त्र है तो वह है पञ्चमवेद श्रीमद्भागवत। श्रीमन्महाप्रभु ने इसे ही अतिशय निर्मल पुराण-शिरोमणि एवं परमप्रमाण ग्रन्थ कहकर समाहित किया है।

अत्रेदं तत्त्वम्-अहङ्कारस्य द्वेवृत्ती अहन्ता ममता चेति । तयोर्ज्ञानेन लयोर्मोक्षः । देहगेहादिविषयत्वे बन्धः । अहंप्रेमोर्जनः सेवकोऽस्मि सेव्यो मे प्रभुर्भगवान् सपरिकर एव रूपगुणमाधुरीमहोदधिरिति पार्षदरूपविग्रहभगवद्विग्रहादिविषयत्वे प्रेमा स हि बन्धमोक्षाभ्यां विलक्षण एव पुरुषार्थचूडामणिरित्युच्यते । तत्र क्रमः अहन्ताममतयो व्यवहारिक्यामेव वृत्तावति सान्द्रायां सत्यां संसार एव सत्यं वैष्णवो भूयासं प्रभुर्भगवान् सेव्यो भवत्विति यदृच्छक्यां श्रद्धाकणिकायां सत्यां तद्वृत्तेः पारमार्थिक-त्वगन्धे भक्तावधिकारः । ततः साधुसंगे सति पारमार्थिकत्व गन्धस्य सान्द्रत्वं, ततो भजनक्रियायामनिष्ठतायां सत्यां तयोः परमार्थे वस्तुन्येकदेशव्यापिनी वृत्तिः व्यवहारिक विषये प्रायिक्येव । रुचावुत्पन्नायां परमार्थे एवात्यन्तिकी वृत्ति-व्यवहारे तु गन्धमात्री । भावे तु परमार्थे एवात्यन्तिकी वृत्तिर्व्यवहारे तु बाधिता-अनुवृत्तिन्यायेनाऽऽभासमयी । प्रेमणि तयोरहन्ताममतयोर्वृत्तिः परमार्थे परमात्यन्तिकी व्यवहारे नैकापीति ।

एवं चारभ्यमाणायां भजनक्रियायां भगवद् ध्यानं वार्त्ताऽन्तरगन्धि क्षणिकमेव निष्ठायाम् तदध्याने वार्त्तान्तराभासः रुचौ वार्त्ताऽन्तररहितमेव तदध्यानं बहुकालव्यापि । आसक्तौ तदध्यानमतिसान्द्रम् । भावे ध्यानमात्र एव भगवतः स्फूर्तिः । प्रेमणि स्फूर्ते र्वैलक्षण्यं तद्दर्शनं चेति ।

माधुर्यवारिधेः कृष्णचैतन्यादुद्धृते रसैः ।

इयं धिनोतु माधुर्यमयीकादम्बिनी जगत् ॥३॥

मूलतत्त्व यह है कि अहङ्कार की दो वृत्तियां हैं—अहन्ता और ममता । ज्ञान के द्वारा इन के लय होने पर जीव का मोक्ष होता है और देह-गेहादि में इन वृत्तियों के रहने से जीव को बन्धन होता है । 'मैं श्रीभगवान् का निज-जन' हूं मैं उनका सेवक हूं और सपरिकर रूप गुण एवं माधुर्य के महासागर श्रीभगवान् मेरे प्रभु और सेव्य हैं—इस प्रकार श्रीभगवान् के पार्षदरूप-विग्रहादि तथा श्रीभगवान् के विग्रहादि के विषय में जो प्रेम उदित होता है, उस प्रेम को ही बन्धन एवं मोक्ष से परे पुरुषार्थ-चूडामणि नाम से अभिहित किया जाता है । उसकी प्राप्ति का क्रम इस प्रकार वर्णन किया गया है । अहंमता और ममता व्यवहारिकी वृत्ति में अत्यन्त गाढ़ता आने पर 'मैं संसार में रहकर ही वैष्णव बनूं और प्रभु

श्रीभगवान् ही मेरे सेव्य हों" इस प्रकार यथाभिमत श्रद्धा की कणिका उत्पन्न होने पर तथा उस श्रद्धा-वृत्ति में परमार्थकता रूप सुगन्ध के मिल जाने पर जीव का भक्ति में अधिकार पैदा होता है उसके बाद साधु-सङ्ग प्राप्त होने से पारमार्थिक-सुगन्धि में गाढ़ता आ जाती है । तदनन्तर अनिष्ठिता नामक भजन-क्रिया आरम्भ होती है । उस समय अहंता एवं ममता की परमार्थ विषय में एकदेश-व्यापिनी और व्यावहारिक विषयों में पूर्णा-वृत्ति रहती है । भजन-क्रिया में निष्ठा उत्पन्न होने पर अहंता-ममता की वृत्ति परमार्थ-विषय में बहुदेश-व्यापिनी और व्यवहार में प्रायिकी हो जाती है । रुचि के उत्पन्न होने पर परमार्थ विषय में उनकी वृत्ति आत्यन्तिकी और व्यावहारिक विषय में एकदेश-व्यापिनी हो जाती है । आसक्ति उत्पन्न होने पर परमार्थमें पूर्णा और व्यवहार में गन्धमात्र शेष रह जाती है । भाव के उदित होने पर वृत्ति परमार्थ में आत्यन्तिकी और व्यवहार में बाधितानुवृत्ति-न्याय से आभासमात्र रह जाती है । प्रेम के उदित होने पर अहंता-ममता वृत्ति परमार्थ विषय में परमात्यन्तिकी और व्यवहार विषय में विल्कुल सम्बन्ध रहित हो जाती है । इस प्रकार भजन-क्रिया के आरम्भ होते ही भगवद् ध्यान बाहरी विषयों की गन्धयुक्त और क्षणिक होता है । निष्ठा होने पर उस ध्यान में बाहरी विषयों का आभास मात्र रह जाता है । रुचि के उत्पन्न होने पर बाहरी-विषय रहित होकर वह ध्यान बहु कालव्यापी—बहुत समय तक स्थिर रहने वाला हो जाता है । आसक्ति के उत्पन्न होने पर वह ध्यान अति गाढ़ता प्राप्त करता है । भाव में तो ध्यान करते ही श्रीभगवान् की स्फूर्ति होने लगती है । प्रेम में स्फूर्ति की विलक्षणता और श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन होने लगता है ।

श्रीकृष्णचैतन्य रूप माधुर्य-सागर से निकले हुए रसों के द्वारा यह माधुर्यमयी कादम्बिनी (मेघमाला) विश्व को तृप्त करे ॥३॥

विश्वोत्लासिनी-टीका—श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने ग्रन्थ के शेष में प्रेम विकास क्रम, जिसका अति विस्तृत निरूपण पीछे किया जा चुका है, का इस अनुच्छेद में उपसंहार करते हुए स्वयं सारांश उल्लेख किया है । प्रेमविकास के क्रम में आने वाले समस्त स्तरों का जो निरूपण किया है, वह भक्तिशास्त्रों से अनुमोदित होने के साथ-साथ अनुभूति पूर्ण है ।

किन्तु सांसारिक जीव जो दिन-रात त्रितापों से तृप्त है, बेचैन है । अपने स्वरूपानुबन्धि धर्म कृष्णदासत्व को भूलकर माया के चंगुल में अशेष दुःख अशान्ति से पीड़ित है । जो महत्जनों के संग से कोसों दूर भटक रहा है एवं भक्ति-शास्त्र के सुनने-पढ़ने तक से भी वञ्चित है; आज के भौतिक विज्ञान प्रभाव से प्रभावित होकर पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान की तरफ मुँह भी मोड़कर नहीं देखना चाहता—वह नितान्त भ्रान्त जीव इस ग्रन्थ रत्न में प्रतिपादित विषय को ग्रहण करने में, मनन और अनुभव करने में समर्थ हो सकता है क्या ? जबकि श्रीहरिगुरु

कृपा से भक्तिमार्ग में आकृष्ट अनेक काल तक भजन-साधन, सत्सङ्ग-परायण साधक भी इन अवस्थाओं में प्रवेश नहीं पा सकते । श्रद्धा की प्रथम सोपान पर ही बहुतेरों के पांव नहीं टिकते । भक्ति के स्वाँग में प्रायः जन भक्तिजात अनर्थों की बाढ़ में ही बहे जा रहे हैं, नामापराधों की तो गिनती ही कौन कर सकता है ?

वस्तुतः इस अति सुदुर्लभ प्रेम-मार्ग में प्रवेश अति कठिन है किसी प्रेम-दाता वदान्य सर्वसमर्थ स्वयं भगवत्-स्वरूप की करुणा के बिना । अतः, परम कृपामय श्रीचक्रवर्तिपाद ने अन्त में जगत् को आशीर्वाद किया है कि इस माधुर्य-कादम्बिनी का उद्गम स्थल हैं प्रेम पुरुषोत्तम श्रीश्रीकृष्णचैतन्य भगवान् जो निज भक्ति सम्पत्ति प्रेमभक्ति का वितरण करने के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं । रसराज-स्वरूप हैं वे । उन्होंने यह माधुर्य-प्रेम रस उँडेला जो कादम्बिनी रूप में व्याप्त है । अतः उनकी शरणापन्न होने पर यह कादम्बिनी निखिल जीवों के त्रितापों—सांसारिक दुःख-ताप को निश्चित रूप से शान्त कर एक अनिर्वचनीय शीतलता—शाश्वत सुख-आनन्द प्रदान करेगी ।

इति श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद-विरचितायां माधुर्यकादम्बिन्यां
पूर्ण मनोरथो नाम अष्टम्यमृत-वृष्टि ॥८॥

इस प्रकार माधुर्यकादम्बिनी की श्रीश्यामदास कृत विश्वोल्लासिनी
टीका तदनुसार ३१ आषाढ़ कृष्ण त्रयोदशी वत् २०३४
दिनाङ्क १४-७-७७ गुरुवार को श्रीहरिगुरु—
कृपा से सम्पूर्ण हुई ॥८॥

